

१९२१

अन्धकार-युगीन भारत

१२

सूचि देवक

स्व० डा० काशीप्रसाद जायसवाल

एम० ए० जार ए छो

लक्ष्मानद्व

रामचन्द्र चन्द्रमा

GOVERNMENT OF INDIA
ARCHÆOLOGICAL SURVEY OF INDIA
CENTRAL
ARCHÆOLOGICAL
LIBRARY

ACCESSION NO. _____

CALL No. 934.01 Tay-Var

D.G.A. 79.



Aindhakāra - Yugīna +
Bharata. by
Dr. Kashi Prasad Jayaswali
try Varnia, Ramachandra



अंधकार-युगीन भारत

9921
चनुवादक

रामचंद्र वर्मा

35

934.01

Jay Var



काशी-नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित

संवत् १९६५

प्रथम संस्करण]

[मूल्य ३।।)

मूल लेखक:- डॉ. काशी प्रसाद जायरावाल

Published by
The Hon'ble Secy.
N. P. Sabha,
Kashi.



**CENTRAL ARCHAEOLOGICAL
LIBRARY NEW DELHI**

Ac 9921
Date 14. 10. 1958
Call No..... 934.01 / Jay / Var

Printed by
A. Bose,
at The Indian Press, Ltd.
Benares-Bratch.

प्राकृत्यन् इति । १४८० १९५०

यह ग्रंथ पाँच भागों में विभक्त है—(१) नाग वंश के अधीन भारत (सन् १५०-२८४ ई०); (२) बाकाटक साम्राज्य (सन् २८४-३४८ ई०); जिसके साथ परवर्ती बाकाटक राज्य (सन् ३४८-५२० ई०) संबंधी एक परिशिष्ट भी है; (३) मगध का इतिहास (ई० पू० ३१-३४० ई०); और समुद्रगुप्त का भारत; (४) दक्षिणी भारत (सन् २४०-३५० ई०); और (५) गुप्त-साम्राज्य के प्रभाव। इस काल का जो यह इतिहास फिर से तैयार किया गया है, वह मुख्यतः पुराणों के आधार पर है और इंडियन एंटिक्वरी के प्रधान संपादक की सूचना (उक्त पत्रिका १८३२, पृ० १००) के अनुसार यह काम किया गया है। श्रीयुत के० के० राय एम० ए० से यह ग्रंथ प्रस्तुत करने में लेखक को जो सहायता प्राप्त हुई है और जो कई उपयोगी सूचनाएँ मिली हैं, उनके लिये लेखक उन्हें बहुत धन्यवाद देता है।

इसमें एक ही समय के अलग अलग राज्यों और प्रदेशों के संबंध की बहुत सी बातें आई हैं; और इसी लिये कुछ बातों की पुनरुक्ति भी है। गई है। आशा है कि पाठक इसके लिये मुझे चमा करेंगे।

२३ जुलाई १८३२ ।

सन् १८० ई० से ३२० ई० तक का समय अंधकार-युग
कहा जाता है। मैं यह प्रार्थना करता हुआ यह काम अपने
हाथ में लेवा हूँ—

“हे ईश्वर, तू मुझे अंधकार में से प्रकाश में ले चल ।”

काशीप्रसाद जायसवाल ।

माला का परिचय

जोधपुर के स्वर्गीय मुंशी देवीप्रसाद जी मुंसिफ इतिहास और विशेषतः मुसलिम काल के भारतीय इतिहास के बहुत बड़े ज्ञाता और प्रेमी थे तथा राजकीय सेवा के कामों से वे जितना समय बचाते थे, वह सब वे इतिहास का अध्ययन और खोज करने अथवा ऐतिहासिक प्रथा लिखने में ही लगाते थे। हिंदी में उन्होंने अनेक उपयोगी ऐतिहासिक प्रथा लिखे हैं जिनका हिंदी-संसार ने अच्छा आदर किया है।

ओयुक्त मुंशी देवीप्रसादजी की बहुत दिनों से यह इच्छा थी कि हिंदी में ऐतिहासिक पुस्तकों के प्रकाशन की विशेष रूप से व्यवस्था की जाय। इस कार्य के लिये उन्होंने ताँ २१ जून १९१८ को ३५०० रु० अंकित मूल्य और १०५०० मूल्य के बंबई बंक लिं० के सात हिस्से सभा को प्रदान किए थे और आदेश किया था कि इनकी आय से उनके नाम से सभा एक ऐतिहासिक पुस्तकमाला प्रकाशित करे। उसी के अनुसार सभा यह 'देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तकमाला' प्रकाशित कर रही है। पोछे से जब बंबई बंक अन्यान्य दोनों प्रेसिडेंसी बंडों के साथ सम्प्रभुत होकर इंपोरियल बंक के रूप में परिणत हो गया, तब सभा ने बंबई बंक के सात

हिस्सों के बदले में इम्पीरियल बंक के चौदह हिस्से, जिनके मूल्य का एक निश्चित अंश चुका दिया गया है, और खरीद लिए और अब यह पुस्तकमाला उन्हों से होनेवाली तथा स्वयं अपनी पुस्तकों की विक्री से होनेवाली आय से चल रही है। मुंशो देवीप्रसादजी का वह दानपत्र काशी-नागरीप्रचारिणी सभा के '२६वें वार्षिक विवरण में प्रकाशित हुआ है।

विषय-सूची

पहला भाग

नाग वंश

१—विषय-प्रवेश

हिंदू-साम्राज्य के पुनर्स्थापक

विषय	पृष्ठ
§ १. अशात् समझा जानेवाला काल	३—५
§ २. साम्राज्य-शक्ति का पुनर्घटन	५—६
§ ३-४. बाकाटक सम्राट् और उसके पूर्व की शक्ति	७—८
§ ५. भार-शिव	८—१०
§ ६. भार-शिवों का आरंभ ...	१०
§ ७. भार-शिवों का कार्य ...	१०—११
§ ८. भार-शिवों का परम संक्षिप्त इतिहास ...	११—१२
§ ९. कुशन साम्राज्य का अव	१२

२—भार-शिव कौन थे

§ १०. भार-शिव और पौराणिक उल्लेख ...	१२—१३
§ ११. भार-शिव नाग थे ...	१४—१५

विषय		पृष्ठ
§ १२—१३. विदिशा के नाग	१५—१८
§ १४. कृष्ण या नन्दी नाग	१८
§ १५. एक नाग लेख	१८—२०
§ १६. पद्मावती	२०—२१
§ १७—२१. नाग के सिक्के	२२—२६
§ २२. विदिशा के नागों की वंशावली	२६—२८

३—ज्येष्ठ नाग वंश और वाकाटक

§ २३. विदिशा के मुख्य नाग वंश का अधिकार दौहित्र को मिल गया था	२८—३०
§ २४. पुरिका और चण्डा में नाग दौहित्र और प्रबार प्रवरसेन	३०—३२
§ २५. शिलालेखों द्वारा पुराणों का समर्थन	३२—३४

४—भार-शिव राजा और उनकी वंशावली

§ २६. नव नाग	३५—३८
§ २६ क. सन् १७५—१८० के लगभग वीरसेन द्वारा मथुरा में भार-शिव राज्य की स्थापना; वीरसेन का शिलालेख...	३८—४८
§ २६ ख. दूसरे भार-शिव राजा	४८—५८
§ २७. भार-शिव कातिपुरी और दूसरो नाग राज- धानियाँ	५८—६६

विषय		पृष्ठ
§ २८. नव नाग	६६—६८
§ २९. नागों की शासन-प्रणाली	७०—७३
§ २१. क. नागों की शास्त्राएँ	७३—७८
§ ३०. प्रब्रह्मसेन का सिक्षा जो वीरसेन का माना गया है	७६—८०
§ ३१. भाव-शतक और नागों का मूल निवास-स्थान	८०—८३
§ ३१ क.—३२. सन् ८० से १४० ई० तक नागों के शरण लेने का स्थान	८३—८७

५—पद्मावती और मगध में कुशन शासन

§ ३३. बनस्पति	८७—८८
§ ३४—३५. उत्तरकी नीति	८८—९२
§ ३६. कुशनों के पहले के सनातनी स्मृति-चिह्न और कुशनों की सामाजिक नीति	९३—९८
§ ३६ क. सन् १५०-२०० ई० की सामाजिक अवस्था पर महाभारत	९८—१०२

६—भार-शिवों के कार्य और साम्राज्य

§ ३७—३८. भार-शिवों के समय का धर्म; कुशनों के मुकाबले में भार-शिव नागों की सफलता १०२—१०७

विषय

पृष्ठ

§ ३६. कुशनों की प्रतिष्ठा और शक्ति तथा भार-	
शिवों का साहस १०७—१०८
§ ४०—४१. भार-शिव शासन की सरलता १०८—११४
§ ४२. नाग और मालव ११४—११५
§ ४३. दूसरे प्रजातंत्र ११५—११७
§ ४४. नाग साम्राज्य, उसका स्वरूप और विस्तार ११७—११८	
§ ४५. नागर स्थापत्य ११८—१२६
§ ४६ क.—४७. भूमरा मंदिर १२६—१२८
§ ४८. नागर चित्र-कला १२८—१३०
§ ४९. भाषा १३०
§ ५० क. नागर लिपि १३०—१३१
§ ५०. गंगा और यमुना १३२
§ ५१. गौ की पवित्रता १३२—१३३

दूसरा भाग

वाकाटक राज्य (सन् २४८—२८४ ई०)

७—वाकाटक

§ ५२—५४. वाकाटक और उनका महत्व १३५—१४१
§ ५५. पुराणा और वाकाटक १४२—१४४
§ ५६—५७ क. वाकाटकों का मूल निवास-स्थान १४४—१४८	

विषय

पृष्ठ

॥ ५८. किलकिला यवना: अशुद्ध पाठ है	... १४८—१५०
॥ ५९. विघ्नशक्ति	... १५०—१५२
॥ ६०. राजधानी	... १५३—१५५

८—वाकाटकों के संबंध में लिखित प्रमाण और उनका काल-निर्णय

॥ ६१—६१ क. वाकाटक शिलालेख	... १५५—१६३
॥ ६२. वाकाटक-वंशावली	... १६३—१६६
॥ ६३. शिलालेखों के ठीक होने का प्रमाण	... १६७
॥ ६४. वाकाटक इतिहास में एक निश्चित बात	१६७—१६८
॥ ६५—६६. वाकाटक इतिहास के संबंध में पुराणों के उल्लेख	... १६८—१७३
॥ ६८. आरंभिक गुप्त इतिहास से मिलान; लिच्छवियों का पतन-काल	... १७३—१७८

९—वाकाटक साम्राज्य

॥ ७०. चंद्रगुप्त द्वितीय और परवर्ती वाकाटक	१७८—१८०
॥ ७१—७२. वाकाटक-साम्राज्य-काल	... १८०—१८१
॥ ७३. वाकाटक-साम्राज्य-संघटन	... १८१—१८२
॥ ७३ क. वाकाटक प्रांत, मेकला आदि	... १८२—१८५

विषय		पृष्ठ
§ ७४. महिपो और तीन मित्र प्रजातंत्र	...	१८६—१८८
§ ७५. मेकला	...	१८९
§ ७६—७६ क. कोसला; नैषध या वरार देश	...	१८९—१९१
§ ७७. पुरिका और वाकाटक साम्राज्य	...	१९१—१९२
§ ७८. सिंहपुर का यादव वंश	...	१९२—१९५
§ ७९. वाकाटक काल में कुशन	...	१९५—१९६
§ ८०. वाकाटक और पूर्वी पंजाब	...	१९६—१९८
§ ८१. राजपूताना और गुजरात; वहाँ कोई छत्रप नहीं था	...	१९८—१९९
§ ८२. दक्षिण	...	१९९—२०१
§ ८३. अखिल भारतीय साम्राज्य की आवश्यकता	२०२—२०४	
§ ८४. वाकाटकों को कृतियाँ	...	२०४—२०५
§ ८५. तीन बड़े कार्य; अखिल भारतीय साम्राज्य की कल्पना, संस्कृत का पुनरुद्धार, सामा- जिक पुनरुद्धार	...	२०५—२०७
§ ८६. कला का पुनरुद्धार	...	२०८—२१०
§ ८७. सिक्के	...	२११
§ ८८. वाकाटक शासन-प्रणाली	...	२११—२१२
§ ८९. अधीनस्थ राज्य और साम्राज्य	...	२१२—२१३
§ ९०. धार्मिक मत और पवित्र अवशिष्ट	...	२१३—२१५

१०—परवत्तीं वाकाटक काल संबंधी परिशिष्ट

और वाकाटक संबत्

॥ ६१. प्रवरसेन द्वितीय और नरेंद्रसेन	...	२१५—२१६
॥ ६२. नरेंद्रसेन के कष्ट के दिन	...	२१६—२२१
॥ ६३. पृथिवीपेण द्वितीय और देवसेन	...	२२१—२२३
॥ ६४. हरिपेण	...	२२३—२२५
॥ ६५—६६. दूसरे वाकाटक साम्राज्य का विस्तार	२२४—२२६	
॥ ६७—१००. परवत्तीं वाकाटकों की संपत्ति और कला	...	२२६—२३०
॥ १०१. वाकाटक शुड्डश्वार	...	२३०
॥ १०१ क. वाकाटकों का अंत, लगभग सन् ५५० ई०	...	२३०—२३३

सन् २४८ ई० वाला संबत्

॥ १०२. वाकाटक सिक्कों पर के संबत्	...	२३३—२३४
॥ १०३. गिजावाला शिलालेख	...	२३४—२३५
॥ १०४. गुप्त संबत् और वाकाटक	...	२३५
॥ १०५—१०८. सन् २४८ ई० वाले संबत् का चौत्र २३६—२४२		

तीसरा भाग

मगध और गुप्त भारत

॥ १०९. पाटलिपुत्र में आंश्र और लिच्छवी	...	२४३—२४५
--	-----	---------

विषय

पृष्ठ

§ ११०. कोट का लक्ष्मिय राजवंश	... २४५—२४६
§ १११. गुप्त और चंद्र २४६—२४८
§ ११२—११४. गुप्तों की उत्तरिति	... २४८—२५४
§ ११५—११६. चंद्रगुप्त प्रथम का निर्वासन ...	२५४—२५७
§ ११७. गुप्तों का विदेश-वास और उनका नैतिक रूप-परिवर्तन ...	२५७—२५८
§ ११८ क.—११८. अयोध्या और उसका प्रभाव	२५८—२६२
§ ११९. प्राचीन और नवीन धर्म ...	२६२—२६५

१२—सन् ३५० ई० का राजनीतिक भारत और समुद्रगुप्त का साम्राज्य

§ १२०—१२१. ३५० ई० के राज्यों के संबंध में पुराणों में यथेष्ट वर्णन ...	२६५—२६८
§ १२२. साम्राज्य-पूर्व काल के गुप्तों के संबंध में विष्णु-पुराण ...	२६८—२७०
§ १२३. गुप्त-साम्राज्य के संबंध में पुराणों का मत	२७०—२७२
§ १२४. स्वतंत्र राज्य ...	२७२—२७३
§ १२५. गुप्तों के अधीनस्थ ग्रांत ...	२७४—२७७
§ १२६. कलिंग का मगध-कुल ...	२७७—२८०
§ १२७ क. गुप्त-साम्राज्य का दक्षिण ग्रांत ...	२८०—२८१
§ १२७. दक्षिणी स्वतंत्र राज्य; राजा कनक ...	२८१—२८२

विषय

पृष्ठ

॥ १२८. कनक या कान कैन था ... २८२—२८३

॥ १२९. पौराणिक उल्लेख का समय और कान
आशय कनक का उदय ... २८४—२८५

॥ १३०. समुद्रगुप्त और वाकाटक साम्राज्य ... २८७—२८८

१३—आर्यावर्त्त और दक्षिण में समुद्रगम के युद्ध

॥ १३१. समुद्रगुप्त के तीन युद्ध ... २८८

॥ १३२. कौशांबी का युद्ध ... २८९—२९२

॥ १३३. दूसरा काम ... २९२—२९४

॥ १३४—१३५. दक्षिणी भारत की विजय ... २९४—२९६

॥ १३५. क. कोलाघर भीलबाला युद्ध ... २९६—३०४

॥ १३६. दूसरा आर्यावर्त्त युद्ध ... ३०४—३०५

॥ १३७. एरन का युद्ध ... ३०५—३०७

॥ १३८. एरन एक प्राकृतिक युद्ध-क्षेत्र था ... ३०७—३०८

॥ १३९. रुद्रदेव ... ३०८—३०९

॥ १४०—१४० क. आर्यावर्त्त के राजा ... ३०९—३१३

॥ १४१. आर्यावर्त्त-युद्धों का समय ... ३१३—३१४

१४—सीमा प्रांत के शासकों और हिंदू प्रजातंत्रों का अधीनता स्वीकृत करना, उनका पौराणिक वर्णन और द्वीपस्थ भारत का अधीनता स्वीकृत करना

॥ १४२. सीमा प्रांत के राज्य ... ३१४—३१६

विषय

पृष्ठ

§ १४३. काश्मीर तथा दैवपुत्र वर्ग और उनका अधीनता स्वीकृत करना ...	३१७—३२०
§ १४४. सासानी सम्बाट और कुशनों का अधीनता स्वीकृत करना ...	३२०—३२१
§ १४५. प्रजातंत्र और समुद्रगुप्त ...	३२१—३२६
§ १४६—१४६ क. पौराणिक प्रमाण ...	३२६—३३०
§ १४६ ख.—१४७. म्लेच्छ शासन का वर्णन ...	३३०—३३६
§ १४८. म्लेच्छ राज्य के प्रांत... ...	३३६
§ १४९. पौराणिक उल्लेखों का मत ...	३३६—३३७
द्वीपस्थ भारत	
§ १४९ क. द्वीपस्थ भारत और उसकी मान्यता ...	३३७—३४०
§ १५०—१५१. समुद्रगुप्त और द्वीपस्थ भारत ...	३४०—३४७
§ १५१ क. हिंदू आदर्श ...	३४७—३४८

चौथा भाग

दक्षिणी भारत और उत्तर तथा दक्षिण का एकीकरण

१५—आंत्र (सातवाहन) साम्राज्य के

अधीनस्थ सदस्य या सामंत

§ १५२—१५३. साम्राज्य-युगों की पौराणिक योजना	३५१—३५५
§ १५४. अधीनस्थ आंत्र और श्री-पार्वतीय ...	३५५—३५८
§ १५५—१५६. आभीर ...	३५८—३५९

विषय

पृष्ठ

अधीनस्थ या भूत्य आंश्र कौन थे और उनका इतिहास	
§ १५७—१५८. चुड़ ...	३५६—३६२
§ १५९—१६०. रुद्रदामन् और सातवाहनों पर	
उसका प्रभाव ...	३६२—३६६
§ १६१. चुड़ लोग और सातवाहनों की जाति—	
मलवङ्गी शिलालेख; “शिव” सम्मान-	
सूचक है ...	३६६—३६८
§ १६२. मलवङ्गी का कर्दव राजा; चुड़-राजाओं	
के उपरांत पल्लव हुए थे ...	३७०—३७२
§ १६३. कौडिन्य ...	३७२—३७३
§ १६४—१६५. आभीर ...	३७३—३७६
श्रीपावंतीय कौन थे और उनका इतिहास	
§ १६७. श्रीपवंत ...	३७६—३७८
§ १६८—१६९. आंश्र देश के श्रीपवंत का	
इच्छाकुन्वंश ...	३७८—३८४
§ १७०—१७२. दक्षिण और उत्तर का पारस्परिक	
प्रभाव ...	३८५—३८८
§ १७२ क. श्रीपवंत और बैंगीवाली कला ...	३८८—३९०

१६—पल्लव और उनका मूल

§ १७३. भारतीय इतिहास में पल्लवों का स्थान	३९१—३९३
---	---------

विषय

पृष्ठ

§ १७४. पल्लवों का उदय नामों के सामंतों के		
रूप में हुआ था ३६३—३६५	
§ १७५. सन् ३१० ई० के लगभग नाग साम्राज्य		
में अंग्रे ३६५—३६६	
§ १७६. पल्लव कौन थे ३६६—४०२	
§ १७७. पल्लव ४०२—४०४	
§ १७८. पल्लव राजनीति ४०४	
§ १७९—१८१. धर्म-महाराजाविराज ४०५—४१०	
§ १८२—१८४. आरंभिक पल्लवों की वंशावली ...	४१०—४२६	
§ १८५ क. आरंभिक पल्लव राजा लोग ...	४२६—४२७	
§ १८६. नवखड़ ४२८	
§ १८७—१८९. पल्लवों का काल-निरूपण ...	४२८—४३२	

१७—दक्षिण के अधीनस्थ या भूत्य ब्राह्मण राज्य

गंग और कदंब

§ १८८. ब्राह्मण गंग-वंश ४३३—४३४	
§ १८९. दक्षिण में एक ब्राह्मण अभिजातनंत्र ...	४३४—४३५	
§ १९०—१९३. आरंभिक गंग वंशावली ...	४३५—४३८	
§ १९४—१९६. कोंकणिकम्मन ...	४३८—४४०	
§ १९७. वाकाटक भावना ४४०	
§ १९८. गंगों की नामरिकता ४४०—४४१	

विषय		पृष्ठ
₹ १६६. कदंब लोग	४४१
₹ २००-२०२. उनके पूर्वज	४४१-४४५
₹ २०३. कंग और कदंबों की स्थिति	४४५-४४७
₹ २०४. एक भारत का निर्माण	४४७

पाँचवाँ भाग

उपसंहार

१८—गुप्त-साम्राज्य-वाद के परिणाम

₹ २०५. समुद्रगुप्त की शांति और समृद्धि-वाली नीति	४४६-४५२
₹ २०६-२०७. उच्च राष्ट्रीय हथियार	४५२-४५४
₹ २०८-२०९. समुद्रगुप्त के भारत का वीज-वपन-काल	४५४-४५६
₹ २१०-२१२. दूसरा पक्ष	४५६-४६१

परिशिष्ट क

(पृ० ४६७-४८२)

दुरेहा का वाकाटक स्तंभ और नचना तथा भूमरा (भूमरा) के मंदिर

दुरेहा का अभिलेख	४६७-४७०
स्थानों का पारस्परिक अंतर	४७१-४७२
भूमरा की उत्कीर्ण इटें	४७२-४७४

विषय		पृष्ठ
भाकुल देव	...	४७४
भर और भार से युक्त स्थान-नाम	...	४७५
इस द्वे त्रि में अनुसंधान होना चाहिए		४७५
बद्वरता	...	४७५—४७६
नचना	...	४७६—४७७
पार्वती और शिव के मंदिर	...	४७७—४७८
नचना के मंदिरों का समय	...	४७८—४८०
नई खोजें	...	४८०
प्राचीन राजकुलों के संबंध में स्थानीय		
अनुश्रुतियाँ	...	४८१—४८२

परिशिष्ट ख

पृ० ४८३—४८६

मयूरशर्मन् का चंद्रवल्ली-वाला शिलालेख

परिशिष्ट ग

पृ० ४८७—४८८

चंद्रसेन और नाग-विवाह

शब्दानुक्रमणिका

पृ० १—४०

भारतवर्ष का अंधकार-युगीन इतिहास

(सन् १५० ई० से ३५० ई० तक)

नाग-वाकाटक साम्राज्य-काल

प्राचीन विद्यालय के अधिकारी
विद्यालय के अधिकारी

पहला भाग

नाग वंश

(सन् १५० ई० से २८४ ई० तक)

दश्चाश्वमेधावभृथ-स्वानाम् भार-शिवानाम्

(उन भार-शिवों का, जिन्होंने दस अश्वमेध यज्ञ और उनके अंत में अवभृथ स्वान किए थे—वाकाटक राजकोय दान-संबंधी ताम्रपट ।)

१. विषय-प्रवेश

हिंदू-साम्राज्य के पुनर्स्थापक

§ १. डाक्टर बिंसेट स्मिथ ने अपने Early History of India (भारत का आरंभिक इतिहास) नामक ग्रंथ के अंतिम संस्करण (१८२४) अंत समझा जाने में भी और उसके पहले वाले संस्करणों में भी कहा है—

(क) “कम से कम यह बात तो स्पष्ट है कि कुरान राजाओं में बासुदेव अंतिम राजा था जिसके अधिकार में भारत में बहुत विस्तृत प्रदेश थे । इस बात का सूचक

कोई चिह्न नहीं मिलता कि उसकी सृत्यु के उपरांत उत्तरी भारत में कोई सर्व-प्रधान शक्ति वर्तमान थी ।” (पृ० २६०)

(ख) “संभवतः बहुत से राजाओं ने अपनी स्वतंत्रता स्थापित की थी और ऐसे राज्य स्थापित किए थे जिनका थोड़े ही दिनों में अंत हो गया था..... परंतु तीसरी शताब्दी के संबंध में ऐतिहासिक सामग्री का इतना पूर्ण अभाव है कि यह कहना असंभव है कि वे राज्य कौन थे अथवा कितने थे ।” (पृ० २६०)

(ग) “कुशन तथा आंध्र राजवंशों के नाश (सन् २२० या २३० ई० के लगभग) और साम्राज्य-भोगी गुप्त राजवंश के उत्थान के बीच का समय, जो इसके प्रायः एक सौ वर्ष बाद है, भारतवर्ष के समस्त इतिहास में सबसे अधिक अंधकारमय युगों में से एक है ।” (पृ० २६२)

दूसरे शब्दों में, जैसा कि डा० बिंसेट स्मिथ ने पृ० २६१ में कहा है, भारतवर्ष के इतिहास में यह काल विलकुल सादा या अलिखित है—उसके संबंध की कोई बात ज्ञात नहीं है । आज तक सभी लोग यह निराशापूर्ण बात बराबर चुपचाप मानते हुए चले आए हैं । इस संबंध में जो कुछ सामग्री उपलब्ध है, उसका अध्ययन और विचार करने पर मुझे यह पता चलता है कि ऊपर कहीं हुई इन तीनों बातों में से एक भी बात न तो मानी जा सकती है और न वह भविष्य में फिर कभी दोहराई जानी चाहिए ।

जैसा कि हम आगे चलकर बतलावेंगे, इस विषय की सामग्री पर्याप्त है और इस समय के दो विभागों के संबंध का इतिहास हिंदू इतिहास-वेत्ताओं ने वैज्ञानिक क्रम से ठीक कर रखा है।

§ २. यह कथन पूर्ण रूप से असत्य है कि साम्राज्य-भोगी गुण्टों के उदय से पहले भारत में कोई एक सर्व-प्रधान शक्ति नहीं थी और न इस पक्ष का चण भर साम्राज्य-शक्ति का पुनर्घटन के लिये स्थापन या मंडन ही हो सकता है। हिंदू साम्राज्य-पुनर्घटन का आरंभ चौथी शताब्दी में समुद्रगुप्त से नहीं माना जा सकता और न वाकाटकों से ही माना जा सकता है जो इससे प्रायः एक शताब्दी पूर्व हुए थे; बल्कि उसका आरंभ भार-शिवों से होता है जो उनसे भी प्रायः पचास वर्ष पूर्व हुए थे। डाक्टर विंसेंट स्मिथ के इतिहास में वाकाटकों के संबंध में एक भी पंक्ति नहीं है और न किसी दूसरी पाठ्य पुस्तक में भार-शिवों के संबंध में ही एक भी पंक्ति है। यद्यपि इन दोनों राजवंशों का मुख्य इतिहास भली भाँति से प्रमाणित तात्रलेखों तथा शिलालेखों में वर्तमान है, और जैसा कि हम आगे चलकर बतलावेंगे, पूर्ण रूप से पुराणों में भी दिया हुआ है और उसका समर्थन सिक्कों से भी होता है, तो भी किसी ऐतिहासिक या पुरातत्व संबंधी सामयिक पत्र में भार-शिवों के संबंध में लिखा हुआ कोई लेख भी मैंने नहीं देखा

है। इस चूक और उपेक्षा का कारण यही है कि फ्लीट तथा और लोगों ने, जिन्होंने शिला-जेखों और वाम्बलेखों का संपादन किया है, उन लेखों को पढ़ तो डाला है, पर उनमें दी हुई घटनाओं का अध्ययन नहीं किया है। और विंसेट स्मिथ ने भारत के इतिहास का सिंहावलोकन करते समय, इस काल को फ्लीट तथा कीलहार्न का अनुकरण करते हुए, बिलकुल छोड़ दिया है; और इसी लिये यह कह दिया गया है कि इस काल की घटनाओं का कुछ भी पता नहीं चलता। पर वास्तविक बात यह है कि भारतीय इतिहास के और बहुत से कालों की तुलना में यह काल असाधारण रूप से घटनापूर्ण है। डॉ. फ्लीट ने बाकाटक शिलालेखों आदि का अनुवाद करते समय प्रथम प्रवरसेन की महबत्पूर्ण उपाधि “सम्राट्” और “समस्त भारत का शासक”¹ तक का उल्लेख नहीं किया है जो उपाधियाँ उसने चार अश्वमेध यज्ञ करने के उपरांत भारत की थीं और जो किसी राजा के सम्राट् पद पर पहुँचने की सूचक हैं।

¹ ‘सम्राट्’ की व्याख्या के सम्बन्ध में देखो मत्स्य पुराण, अध्याय ११३, श्लोक १५। वही श्लोक ६-१४ में भारतवर्ष की सीमाएँ, जो विस्तृत या विशाल भारत और द्वीपों से युक्त भारत की सीमाओं से भिन्न हैं, [देखो ६ १४८ (क)] दी हुई हैं और सम्राट् वास्तव में “समस्त कृत्स्नम्” या भारत का सर्व-प्रधान शासक होता था।

§ ३. जैसा कि हम अभी आगे चलकर बतलावेंगे, वाकाटक राजवंश के सम्राट् प्रबरसेन का राज्याभिषेक सम्राट्

वाकाटक सम्राट् और समुद्रगुप्त से एक पीढ़ी पहले हुआ था; और प्रबरसेन केवल आर्यवर्त का ही उसके पूर्व की शक्ति नहीं, बल्कि यदि समस्त दक्षिण का नहीं

तो कम से कम उसके एक बहुत बड़े अंश का सम्राट् अवश्य था और वह समुद्रगुप्त से ठीक पहले हुआ था। वह इसी ब्राह्मण सम्राट् वाकाटक प्रबरसेन का पद था जो समुद्रगुप्त ने उसके पोते रुद्रसेन प्रथम से प्राप्त किया था; और यह वही रुद्रसेन है जिसका उल्लेख इलाहाबादवाले स्तंभ में समुद्रगुप्त की राजनीतिक जीवनी में दी हुई सूची के अंतर्गत रुद्रदेव^१ के नाम से हुआ है और जो आर्यवर्त का सर्वप्रधान शासक कहा गया है।

§ ४. जैसा कि वाकाटकों के संबंध के शिलालेखों तथा ताम्रलेखों आदि से और पुराणों से भी प्रकट होता है, समुद्रगुप्त से पहले प्रायः साठ वर्ष तक वाकाटकों के हाथ में सारे साम्राज्य का शासन और सर्वप्रधान एकाधिकार था; और वही अधिकार उनके हाथ से निकलकर समुद्रगुप्त के हाथ में चला आया था। हम यह बात जान-बूझकर कहते हैं कि वाकाटकों के हाथ में सारे साम्राज्य का शासन और सर्वप्रधान एकाधिकार था; क्योंकि उन लोगों ने वह एकाधिकार उन भार-शिवों से प्राप्त किया था जिनके राजवंश ने

^१ देखो आगे § ६४.

गंगा-तट पर दस अश्वमेघ यज्ञ किए थे और इस प्रकार बार बार आर्यवर्च में अपना एकछत्र साम्राज्य होने की धोषणा की थी। यहाँ यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि ये अश्वमेघ यज्ञ कुशन^१ साम्राज्य का नाश करके किए गए थे। इन साम्राज्य-सूचक कुत्यों का यह सनातनी हिंदुओं के दंग से लिखा हुआ इतिहास है और यह सिद्ध करता है कि कुशन साम्राज्य का किस प्रकार नाश हुआ था और कुशन लोग किस प्रकार उत्तरोत्तर नमक के पहाड़ों की तरफ उत्तर-पश्चिम की ओर पीछे हटाए गए थे।

६५. सम्राट् प्रबरसेन ने अपने लड़के गौतमीपुत्र का विवाह भार-शिव वंश के महाराज भवनाग की कन्या के साथ भार-शिव
किया था। बाकाटक राजवंश के

इतिहास में यह घटना इतने अधिक महत्त्व की थी कि यह उस वंश के इतिहास में सम्मिलित कर ली गई थी और बाकाटकों के सभी राजकीय लेखों आदि में इसका बार बार उल्लेख किया गया है। इन उल्लेखों में कहा गया है कि इस राजनीतिक विवाह के पूर्व भार-शिवों के राजवंश ने गंगा-तट पर, जिसका अधिकार उन्होंने अपना पराक्रम प्रदर्शित करके प्राप्त किया था, दस अश्वमेघ यज्ञ किए थे और उनका राज्याभिषेक गंगा के पवित्र जल से

^१ हमने इस शब्द का विदेशी रूप “कुशन” ही ग्रहण करना ठीक समझा है।

हुआ था । भार-शिवों ने शिव को अपने साम्राज्य का मुख्य या प्रधान देवता बनाया था । भार-शिवों ने गंगा-तट पर जिस स्थान पर दस अश्वमेध यज्ञ किए थे, वह स्थान मुझे काशी का दशाइवमेध नामक पवित्र घाट और ज्येष्ठ ज्यान पड़ता है जो भगवान् शिव का लौकिक निवास-स्थान माना जाता है । भार-शिव लोग मूलतः बुद्धेलखंड के निवासी थे और वे गंगा के तट पर उसी रास्ते से पहुँचे होंगे, जिसे आजकल हम लोग “दच्चिणा का प्राचीन मार्ग” कहते हैं और जो विंध्यवासिनी देवी के विंध्याचल नामक कस्बे (मिरजापुर, संयुक्त प्रांत) में आकर समाप्त होता है । बनारस का जिला कुशन साम्राज्य के एक सिरे पर था । वह उसकी पश्चिमी राजधानी से बहुत दूर था । यदि विंध्य पर्वत से उठनेवाली कोई नई शक्ति मैदानों में पहुँचना चाहती और यदि वह बुद्धेलखंड के रास्ते से नहीं बल्कि बुद्धेलखंड के किसी भाग में से होकर जाती तो वह गंगा-तट पर नहीं बल्कि यमुना-तट पर पहुँचती । वाकाटकों के मूल निवास-स्थान से भी इस बात का कुछ सूत्र मिलता है । प्राचीन काल में वागाट (वाकाट) नाम का एक कस्बा था और उसी के नाम पर वाकाटक वंश ने अपना नाम रखा था । हमने इस कस्बे का पता लगाया है और वह बुद्धेलखंड में ओढ़क्का राज्य के उत्तरी भाग में है; और ऐसा जान पड़ता है कि वाकाटक लोग भार-शिवों के पड़ोसी

थे ? । इसके अतिरिक्त कुछ और भी चिह्न हैं जिनका विवेचन उनके उपयुक्त स्थानों पर किया जायगा । ये चिह्न स्मृति-स्तंभों, स्थान-नामों और मिक्रों आदि के रूप में हैं और उनसे यह सिद्ध होता है कि भार-शिवों का मूल स्थान कौशाम्बी और काशी के मध्य में था ।

§ ६. प्रवरसेन प्रथम से पहले अथवा उसके समय तक भार-शिवों ने दस अश्वमेव यज्ञ किए थे और स्वयं प्रवरसेन प्रथम ने भी अश्वमेव यज्ञ किए थे; इस-भार-शिवों का आरंभ लिये भार-शिवों का अस्तित्व कम से कम एक शताब्दी पहले से चला आता होगा । अतः यहाँ हम मेंटे हिसाब से यह कह सकते हैं कि उनका आरंभ लगभग १५० ई० में हुआ था ।

§ ७. भार-शिवों ने मुख्य कार्य यह किया था कि उन्होंने एक नई परंपरा की नोव ढाली थी या कम से कम एक पुरानी भार-शिवों का कार्य परंपरा का पुनरुद्धार किया था, और वह परंपरा हिंदू स्वतंत्रता तथा प्रधान राज्याधिकार की थी । हमारे राष्ट्रीय धर्मशास्त्र “मानवधर्मशास्त्र” में कहा है कि आर्यवर्त्त आयों का ईश्वर-प्रदत्त देश है और मुलेश्वरों को उसकी सीमाओं के उस पार तथा बाहर रहना

१ दुरेहा (जासो राज्य, वघेलखंड) में एक स्तंभ है जिस पर “धाकाटकानाम्” अंकित है और जिसके नीचे उनका राजकीय “चक्र-चिह्न” है । इस प्रथ के अंत में परिशिष्ट देखिए ।

चाहिए। इस देश के पवित्र विधान के अनुसार यह आयों का राजनीतिक तथा सार्वराष्ट्रीय जन्मसिद्ध अधिकार^१ था। इस अधिकार की रक्षा और स्थापना आवश्यक थी। भार-शिवों ने जो परंपरा चलाई थी, बाकाटकों ने उसकी रक्षा की थी और पोछे गुप्तों ने भी उसी को ग्रहण किया था; और चंद्रगुप्त विक्रमादित्य से लेकर बालादित्य तक सभी परवर्ती सम्राटों ने पूर्ण रूप से उसकी रक्षा की थी। यदि भार-शिव न होते तो न तो गुप्त-साम्राज्य ही अस्तित्व में आता और न गुप्त विक्रमादित्य आदि ही होते।

§ ८. बाकाटक इतिहास-लेखकों ने इन भार-शिवों का इतिहास बहुत सुंदर रूप से सदा के लिये स्थायी कर दिया है। आज तक कभी इतने भार-शिवों का परम संक्षेप में और इतना अधिक सार-गर्भित संक्षिप्त इतिहास इतिहास नहीं लिखा गया था। वह

इतिहास एक तात्रलेख^२ की निम्नलिखित तीन पंक्तियों में है—
 “अंशभारसञ्चिवेशितशिवलिंगोद्भावनशिवसुपरितुष्टसमुत्पा-
 दितराजवंशानाम् पराक्रम आधिगत=भागोरथी=अमलजलः
 मूर्द्धाभिपिक्तानाम् दशाश्वमेध=अवभृथस्नानाम् भारशिवानाम्”
 अर्थात्—“उन भार-शिवों (के बंश) का, जिनके राजवंश का आरंभ इस प्रकार हुआ था कि उन्होंने शिव-लिंग को अपने कंधे पर

१ इस विचार के पोषक उद्दरण § ३८ में देखिए।

२ प्लीट कृत Gupta Inscriptions पृ० २४५ और २३६.

वहन करके शिव को भली भाँति परितुष्ट किया था—वे भार-शिव जिनका राज्याभिषेक उस भागीरथी के पवित्र जल से हुआ था जिसे उन्होंने अपने पराक्रम से प्राप्त किया था—वे भार-शिव जिन्होंने दम अश्वमेघ यज्ञ करके अवभृथ स्नान किया था ।”

§ ८. वासुदेव अंतिम कुशन सम्राट् था और जैसा कि मथुरावाले लेख से प्रकट होता है^३, उसने कुशन संवत् ८८ तक राज्य किया था । या तो वासुदेव कुशन साम्राज्य का अंत के शासन-काल के अंतिम वर्षों में (सन १६५ ई०) और या उसकी मृत्यु (सन १७८ ई०) पर कुशन साम्राज्य का अंत हो गया था । इस कुशन वंश के शासन के अंत के साथ ही साथ अश्वमेधी भार-शिवों की शक्ति का उत्थान हुआ था । जिस समय उनका उत्थान हुआ था, उस समय उन्हें सबसे पहले कुशन साम्राज्य का ही मुकाबला करना पड़ा था और उसी साम्राज्य को उन्हें तोड़ना पड़ा ।

२. भार-शिव कौन थे

§ १०. जब प्रायः सौ वर्षों तक कुशनों का शासन रह चुका, तब उसके बाद भार-शिव वंश का एक हिंदू राजा गंगा भार-शिव और पैरा- के पवित्र जल से अभिषिक्त होकर हिंदू शिक उल्लेख सम्राट् के पद पर प्रतिष्ठित हुआ था । इस कथन का एक महत्वपूर्ण अभिप्राय यह है कि वीच में

३. ल्यूडस दूची नं० ७६ Epigraphia Indica दसवाँ खंड; परिशिष्ट ।

सी वर्षों तक हिंदू साम्राज्य का कम भंग रहने के उपरांत वह भार-शिव राजा फिर से विधिवत् अभिविक्त होकर शासक बना था । इस संबंध में हम उस पौराणिक वचन का उल्लेख कर देना चाहते हैं जो भारतवर्ष के तत्कालीन विदेशी राजाओं के विषय में है और जिसका अभिप्राय यह है कि वे लोग अभिविक्त राजा नहीं होते थे । वह वचन इस प्रकार है— “नैव मूर्द्धभिविक्तास्ते” । ऐसी अवस्था में क्या यह कभी संभव है कि पुराणा उन मूर्द्धभिविक्त राजाओं का उल्लेख छोड़ देंगे जो वैदिक मंत्रों और वैदिक विधियों के अनुसार राज-सिंहासन पर अभिविक्त हुए थे और जिनमें ऐसे कई राजा थे जिन्होंने आर्यों की पवित्र भूमि में एक दो नहीं बल्कि दस दस अश्वमेघ यज्ञ किए थे ? यह एक ऐसा महत्व कार्य है जो कलियुग के किसी ऐसे प्राचीन राजवंश ने नहीं किया था जिसका पुराणों ने वर्णन किया है । भला ऐसा महत्व-पूर्ण कार्य करनेवालों का उल्लेख पुराणों में किस प्रकार छूट सकता था ? शुंगों ने दो अश्वमेघ यज्ञ किए थे और शुंगों का उल्लेख पुराणों की उस सूची में है जिसमें सन्नाटों के नाम दिए हैं । शातवाहनों ने भी दो अश्वमेघ यज्ञ किए थे और पुराणों में उनका भी उल्लेख है । इस-लिये जिन भार-शिवों ने दस अश्वमेघ यज्ञ किए थे, वे किसी प्रकार छोड़े नहीं जा सकते थे । और वास्तव में वे छोड़े भी नहीं गए हैं ।

§ ११. वाकाटकों के लेखों में एक भार-शिव राजा का नाम
भार-शिव नाम थे आया है; और वहाँ उसका उल्लेख इस
प्रकार किया गया है—“भारशिवोमेके
(अर्थात् भार-शिव राजवंश के) महाराज श्री भव नाम”।
पुराणों में आध्रों और उनके सम-कालीन तुषार मुरुंड राज-
वंश (अर्थात् वह राजवंश जिसे आजकल हम लोग साम्राज्य-
भोगी कुशन कहते हैं) के पतन के उल्लेख के उपरांत यह
वर्णन आता है कि किलकिला के टट पर विद्यु-शक्ति का
उत्थान हुआ था। यह उल्लेख चुंदेलखंड के वाकाटक
राजवंश के संबंध में है और किलकिला वास्तव में पञ्चा के
पास की एक नदी है। पुराणों में विद्यु-शक्ति के आत्मज

१ राय बहादुर (अब स्व०) बाँ० हीरालाल का मैं इसलिये अनुग्रहीत हूँ कि उन्होंने मुझे यह सूचित किया है कि किलकिला एक छोटी नदी है जो पञ्चा के पास है। इसके उपरांत सतना (रीवाँ) के श्रीयुत शारदाप्रसाद की कृपा से मैंने यह पता लगाया कि यह नदी पञ्चा के पूर्व ४ मील पर उस सड़क पर पड़ती है जो सतना से पञ्चा की ओर जाती है और आगे यह नदी पञ्चा नगर तक चली गई है। अभी तक इसका वही पुराना नाम प्रचलित है। आगे चलकर इसका नाम “महाउर” हो जाता है और तब यह केन नदी में मिलती है। इसके अतिरिक्त वहाँ केशला और मेकला नाम के दूसरे स्थान हैं और उनके भी वही तत्कालीन नाम अभी तक प्रचलित है जिससे इस बात का और भी मिलान मिल जाता है। उक्त सूचना मिलने के उपरांत मैंने स्वयं जाकर यह नदी देखी थी। पञ्चा में सन् १८७० ई० में इस पर जो पुल बने

के शासन का महत्त्व बतलाते समय आरंभ में नाग राजवंश का वर्णन किया गया है। इस नाग राजवंश का उत्थान विदिशा में हुआ था जो शुंगों के शासन-काल में उपराज या राज-प्रतिनिधि का प्रसिद्ध निवास-स्थान या केंद्र था।

§ १२. पुराणों ने विदिशा के नाग-राजवंश को नीचे विदिशा के नाम लिखे देए भागों में विभक्त किया है—

(क) वे राजा जो शुंगों का अंत होने से पहले हुए थे; और

(ख) वे राजा जो शुंगों का अंत होने के उपरात हुए थे।

यहाँ हम यह भी बतला देना चाहते हैं कि मत्स्यपुराण और भागवत में यह वचन आया है—

सुशर्माणम् प्रस्तुहा (अथवा प्रगृह) तं

शुंगानाम् च = येव य च = च्छेशम् नपित्वा तु बलं तदा ।

अर्थात्—(आंत्र राजा ने) सुशर्मन् (करव राजा) को बंदी बनाकर, और उस समय शुंग-शक्ति का जो कुछ अवशिष्ट था, वह सब नष्ट करके ।

यह कथन उस शुंग शक्ति के संबंध में है जो अपने मूल निवास-स्थान विदिशा में बच रही थी। उक्त स्थान पर

ये, उन पुलों पर लगे हुए पत्थर भोजने देखे हैं, जिन पर लिखा है—

“ Kilkila Bridge ” अर्थात् किलकिला का पुल ।

१ पारजिटर कृत Purana Text, पृ० ३८.

पुराणों में विदिशा के राजाओं का वर्णन है, अतः शुंगों के पहले और बाद विदिशा के जो नाग शक्तिशाली हुए थे, उनके विषय में आए हुए उल्लेख का संबंध और शातवाहन-काल से होना चाहिए, जब कि शातवाहन लोग दक्षिणापथ के सम्राट् होने के साथ ही साथ आर्यावर्त के भी सम्राट् हो गए थे; और यह काल ईसवी सन् से लगभग २१ वर्ष पूर्व का है ।

§ १३. पौराणिक वंशावलियों के अनुसार नाग वंश में १३० पू० ३१ से पहले नीचे लिखे राजा हुए थे—

(१) शेष—‘नागों के राजा’, ‘अपने शत्रु की राजधानी पर विजय प्राप्त करनेवाले’ (ब्रह्मांड पुराण के अनुसार सुरपुर^१) ।

(२) भोगिन्—राजा शेष के पुत्र ।

१ विहार उड़ीसा रिसच' सोसाइटी का जरनल, पहला खंड, पृ० ११६.

पुष्यमित्र—राज्यारोहण १३० पू० १८८

शुंग वंश के राजा—११२ वर्ष १५७

कश्य वंश के राजा—४५ वर्ष ३१ १३० पू०

२ यह सुरपुर वह इंद्रपुर हो सकता है जो आजकल बुलंदशाहर जिले में इंदौरखेड़ा के नाम से प्रसिद्ध है, जहाँ बहुत से वे सिंके पाए गए हैं जो आजकल मधुमत्तवाले सिंके कहलाते हैं । देखिए A. S. R. १२; पृ० ३६ की पाद-टिप्पणी ।

(३) रामचंद्र—चंद्राशु,^१ दूसरे उत्तराधिकारी, अर्थात् शेष के पैत्र ।

(४) नखवान (या नखपान)—अर्थात् नहपान । यहाँ यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि विष्णु पुराण में दी हुई सूची में यह नाम नहीं है; और इसका कारण यही जान पड़ता है कि लोग इसे नाग-बंश का न समझ लें ।

(५) धनवर्मन् या धर्मवर्मन्—(विष्णु पुराण के अनुसार धर्मवर्मन्) ।

(६) वंगर^२—वायु पुराण और ब्रह्मांड पुराण में वंगर का नाम नहीं दिया है, केवल यही कहा है कि वह चौथा उत्तराधिकारी था; अर्थात् शेष की चौथी पीढ़ी में था । संभवतः धर्म (इस सूची का पाँचवाँ राजा) शेष की तीसरी पीढ़ी में अधिकारी तीसरा उत्तराधिकारी था ।

इसके उपरांत परवर्ती राजा के समय से पुराणों में निश्चित और स्पष्ट रूप से विभाग किया गया है । भागवत में तो पहले के दिए हुए नाम बिलकुल छोड़ दिए गए हैं; और वायु पुराण तथा ब्रह्मांड पुराण में कहा गया है कि

१ मैं 'चंद्राशु' शब्द का रामचंद्र से अलग नहीं मानता, क्योंकि विष्णु पुराण में वह स्वतंत्र शब्द नहीं माना गया है ।

२ यह नाम महाराज इस्तिन् के खोहवाले ताम्बलेख में वंगर गाँव (नैगढ़ के निकट) के नाम से मिलता है । G. I., पृ० १०५ ।

इसके बाद के राजा शुंग राजवंश का अंत होने के उपरांत^१ हुए थे; अर्थात् उस काल के उपरांत हुए थे, जब कि शातवाहनों ने नहपान पर विजय प्राप्त की थी, जब वे मध्य भारत में आ गए थे और जब उन्होंने कण्ठों और शुंगों पर भी विजय प्राप्त कर ली थी। शुंग नामों के इन परवर्ती राजाओं के नाम ये हैं—

(७) भूतनंदी या भूतिनंदी ।

(८) शिशुनंदी ।

(९) यशोनंदी—(शिशुनंदी का छोटा भाई) । शेष राजाओं के नामों का उल्लेख नहीं है ।

§ १४. आगे बढ़ने से पहले यहाँ हमें यह बात समझ रखनी चाहिए कि बायु पुराण में इन वैदिश नामों को वृष्टे अर्थात् शिव का साँड़ या नंदी कहा गया वृष या नंदी नाम है; और शुंग राजवंश का अंत होने पर जो राजा हुए हैं, उनके नामों के अंत में यह नंदी शब्द मिलता है। जान पढ़ता है कि जो भार-शिव उपाधि पोछे से प्रह्लाद की गई थी, वह भावतः बायु पुराण के “वृष” और नामों के अंत में मिलनेवाले “नंदी” शब्द से संबद्ध है ।

१ भूति(भूत)नंदिस्ततश्चापि वैदिशो तु भविष्यति शुंगानां तु कुलस्थानते । पारजिटर कृत Purana Text, पृ० ४८, पादटिप्परी १५ ।

२ वृषान् वैदिशकांश्चापि भविष्यांश्च निवोधत । २-३७-३६०.

§ १५. इस बात का निश्चित रूप से समर्थन होता है कि शुंगों के परवर्ती ये नाग लोग ईसवी पहली शताब्दी में वर्तमान थे। पदम पवाया नामक स्थान एक नाग लेख में, जो प्राचीन पद्मावती नगरी के स्थान पर बसा है, यज्ञ मणिभद्र की एक मूर्ति है जिसका उत्सर्ग किसी सार्वजनिक संस्था के सदस्यों ने राजा स्वामिन् शिवनंदी के राज्य-काल के चौथे वर्ष में किया था^१ । इस लेख की लिपि आरंभिक कुशनों की लिपि से पहले की है। उसमें “इ” की मात्राएँ (i) टेही नहीं बल्कि सीधी हैं, उनका शोशा अभी व्यादा बढ़ने नहीं पाया है। यज्ञ की मूर्ति का ढंग भी कुछ पहले का है। लिपि के अनुसार यह मूर्ति ईसवी पहली शताब्दी की ठहरती है। यशःनंदी के बाद जिन राजाओं के नामों का उल्लेख नहीं है, उन्हीं में से शिवनंदी भी एक होगा। साधारणतः पुराणों में किसी राजवंश के उन राजाओं का उल्लेख नहीं मिलता, जो किसी दूसरे बड़े राजा की अधीनता स्वीकृत कर लेते हैं। इससे यही अनुमान होता है कि संभवतः शिवनंदी महाराज कनिष्ठ द्वारा परास्त हो गया था। पुराणों में कहा गया है कि पद्मावती पर विन्वस्काणि नामक एक राजा का अधि-

^१ भारत के पुरातत्व विभाग की सन् १९१५-१६ को रिपोर्ट (Archaeological Survey of India Report), पृ० १०६, प्लेट-संख्या ५६।

कार हो गया था, और यह शासक कनिष्ठ का वही उपराज था राजप्रतिनिधि हो सकता है जिसका नाम महाचत्रप वनसपर था (देखो § ३३) । शिवनंदी अपने राज्यारोहण के चौथे वर्ष तक स्वतंत्र राजा था, क्योंकि उक्त लेख में उसके राज्यारोहण का संबत् दिया है, कुशन संबत् नहीं दिया है । कुशनों के समय में सब जगह समान रूप से कुशन संबत् का ही उल्लेख होता था । राजा की उपाधि “स्वामी” ठीक उसी तरह से दी गई है, जिस तरह आरंभिक शातवाहनों के नामों के आगे लगाई जाती थी । यह शब्द सम्राट् का सूचक है और हिंदू राजनीति-शास्त्रों से लिया गया था; और मथुरा के शक राजाओं ने भी इसे ग्रहण किया था । उदाहरणार्थ, स्वामी महाचत्रप शोडास के शासन-काल के ४२वें वर्ष के आमोहिनीबाले लेख में यह ‘स्वामी’ शब्द आया है । पर कनिष्ठ के शासन-काल से मथुरा में इस प्रथा का परिवर्तन हो गया था ।

§ १६. जान पढ़ता है कि भूतनंदी के समय से, जब कि भागवत के कथनानुसार इस वंश की फिर से स्थापना या पद्धावती प्रतिष्ठा हुई थी, पद्धावती राजधानी बनाई गई थी । वहाँ स्वर्णविंदु नाम का एक प्रसिद्ध शिवलिंग स्थापित किया गया था; और

^१ देखो ल्यूडर्स (Luders) की सूची नं० ११०० में पुलुमावि । नहपान के लिये मिलाओ सूची नं० ११७४; देखो आगे § २६ (क) ।

उसके सात सौ वर्ष बाद भवभूति के समय में उसके संबंध में जन-साधारण में यह कहा जाता था (आख्यायते) कि यह किसी मनुष्य द्वारा प्रतिष्ठित नहो है, बल्कि स्वयंभू है। पवाया^१ नामक स्थान में श्रीयुक्त गरदे ने वह वेदी हुँड़ निकाली है जिस पर स्वर्णविंदु शिवलिंग स्थापित था। वहाँ एक ऐसा नंदी भी मिला है जिसका सिर तो साँड़ का है और शरीर मनुष्य का है; और साथ ही गुप्त शैली की कई मूर्चियाँ भी पाई गई हैं।

१ A. S. R. १८१५-१६ पृ० १०० की पाद-टिप्पणी। पद्मावती के वर्णन के लिये देखिए खजुराहो का शिलालेख E. I. पहला खंड, पृ० १५६। यह वर्णन (सन् १०००-१ ई०) उद्धृत करने के योग्य है। यह इस प्रकार है—“पृथ्वी-तल पर एक अनुपम (नगर) था जो ऊचे ऊचे भवनों से शोभित था और जिसके संबंध में यह लिखा मिलता है कि इसकी स्थापना पृथ्वी के किसी ऐसे शासक और नरेंद्र के द्वारा स्वर्ण और रजत युगों के बीच में हुई थी जो पद्म वंश का था। (इस नगर का) इतिहासों में उल्लेख है (और) पुराणों के जाता लोग इसे पद्मावती कहते हैं। पद्मावती नाम की इस परम सुंदर (नगरी) की रचना एक अभूतपूर्व रूप से हुई थी। इसमें बहुत बड़े बड़े और ऊचे भवनों की बहुत सी पंक्तियाँ थीं; इसके राजमार्गों में बड़े बड़े धोड़े दौड़ते थे; इसकी दीवारें कांतियुक्त, स्वच्छ, शुभ्र और गगन-चुंबी थीं; यह आकाश से बातें करती थी और इसमें ऐसे बड़े बड़े स्वच्छ भवन थे जो तुपार-मंडित पर्वत की चोटियों के समान जान पड़ते थे।”

§ १७. अब हम उन सिक्कों पर कुछ विचार करते हैं जो हमारी समझ में इस आरंभिक नाग वंश के हैं। इनमें नाग के सिक्के से कुछ सिक्के साधारणतः मथुरा के माने जाते हैं। ब्रिटिश न्यूज़ियम में शेषदात, रामदात^१ और शिशुचंद्रदात के सिक्के हैं। शेष-दात-बाले सिक्के की लिपि सबसे पुरानी है और वह ईसा-पूर्व पहली शताब्दी की है। उसी वर्ग में रामदात के सिक्के भी हैं। मेरी समझ में ये तीनों राजा इस वंश के वही राजा हैं जो शेषनाग, रामचंद्र और शिशुनंदी के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये तीनों अपने सिक्कों के कारण परस्पर संबद्ध हैं और यह बात पहले से ही मानी जा चुकी है^२। जैसा कि प्रो० रैप्सन ने बतलाया है (जरनल रायल एशियाटिक सोसाइटी, १८००, पृ० ११५), शेष और शिशु के सिक्कों का वीरसेन के सिक्कों के साथ घनिष्ठ संबंध है। वीरसेन के जिस सिक्के का चित्र प्रो० रैप्सन ने दिया है, उसमें राज-सिंहासन के पीछे एक खड़े हुए नाग का चित्र है और राज-सिंहासन पर बैठी हुई खो की मूर्ति है, जो अपने ऊपर उठाए

१ मि० कारले के इंदौरखेड़ा में राम (रामस) का एक ऐसा सिक्का मिला था जिसके अंत में “दात” शब्द नहीं था। A. S. R., खंड १२, पृ० ४३.

२ रैप्सन—जरनल रायल एशियाटिक सोसाइटी, १८००, पृ० १०६

हुए दाहिने हाथ में एक घड़ा लिए हुए हैं। यह मूर्ति गंगा की जान पड़ती है। वीरसेन का एक और सिक्का है जिसका चित्र जनरल कनिंघम ने दिया है। उसमें एक पुरुष की मूर्ति के पास खड़े हुए नाग का चित्र है। नव नाग के सिक्कों के ढंग पर (देखो § २०) इस नाग की मूर्ति के योग से “वीरसेन नाग” का नाम पूरा होता है। मूर्ति वीरसेन की है और उसके आगे का नाग इस बात का सूचक है कि वीरसेन “नाग” है। नाग सिक्कों पर मुख्यतः वृष या नेदी, नाग या साँप और त्रिशूल के चित्र ही पाए जाते हैं।

§ १८. अब तक लोग यही मानते रहे हैं कि शिशुचंद्रदात,^१ शेषदात और रामदात में जो “दात” शब्द है, वह भी “दत्त” शब्द के ही समान है; पर यह बात ठोक नहीं है। यह “दात” वस्तुतः दात् या दात्व शब्द के समान है (जैसा कि शिशुचंद्रदात में स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है और जिसका अर्थ है—उदार, बलि चढ़ानेवाला, रक्तक और दाता)। हमारे इस कथन का एक और प्रमाण यह भी है कि इस प्रकार के कुछ सिक्कों में केवल “रामस” शब्द भी आया है, जिसके आगे दात नहीं है^२।

^१ J. R. A. S. १८००, पृ० ६७ के सामने का प्लेट, चित्र सं० १४।

^२ A. S. I., संड १२, पृ० ४३।

§ १८. इसके अतिरिक्त उच्चमदात और पुरुषदात^१ के तथा कामदात और शिवदात के भी सिक्के हैं (जिनका उल्लेख प्रो० रैप्सन ने जरनल रायल एशियाटिक सोसाइटी १८००, पृ० १११ में कामदत्त और शिवदत्त के नाम से किया है) और भवदात के भी सिक्के हैं (जिनका चित्र जरनल रायल एशियाटिक सोसाइटी, १८००, पृ० ८७ के ज्लेट नं० १३ में है) जिसे प्रो० रैप्सन ने भी मदत्त पढ़ा है, पर जो वास्तव में भवदात^२ है। फिर उन राजाओं के भी सिक्के हैं जिनके नाम पुराणों में नहीं आए हैं। ऐसे राजाओं में एक राजा “शिवनंदी” भी है जिसका उल्लेख पवायावाले शिलालेख में है और जिसके संबंध में अब हम सहज में कह सकते हैं कि यह वही सिक्कोवाला शिवदात है।

§ २०. इस प्रकार हमें इस राजवंश के नीचे लिखे राजाओं के नाम मिलते हैं जिनके निम्न-लिखित क्रमबद्ध सिक्के भी पाए जाते हैं—

- | | |
|---------------------------------|----------------|
| (१) शेष नागराज (सिक्कों पर नाम) | शेषदात । |
| (२) रामचंद्र | रामदात । |
| (३) शिशुनंदी | शिशुचंद्रदात । |

^१ विंसेट स्मिथ, C. I. M., पृ० १६०, १६२ ।

^२ मिलाओ विंसेट स्मिथ, C. I. M., पृ० १६३ ।

(४) शिवनंदी	(यह नाम शिलालेख से लिया गया है। पुराणों में जिन राजाओं के नाम नहीं आए हैं, यह उन्हीं में से एक है।)	शिवदात'
(५) भवनंदी	(अनुलिखित राजाओं में से एक)	
		भवदात ।

§ २१. हम यह नहीं कह सकते कि शिशुनाग आदि आरंभिक नाग राजा मथुरा में शासन करते थे या नहीं; क्योंकि मथुरा एक ऐसा स्थान था, जहाँ पद्मावती, विदिशा, अहिच्छत्र आदि आस-पास के अनेक स्थानों से सिक्के आया करते थे। हाँ, पुराणों में हमें यह उल्लेख अवश्य मिलता है कि वे विदिशा में राज्य करते थे और उनमें से पहले राजा शेष ने अपने शत्रु की राजधानी जीती थी। इस विजित राजनगर का नाम ब्रह्मनंद ने सुरपुर दिया है, इसलिये हम यह मान सकते हैं कि शेष ने इंद्रपुर नामक नगर जीता था जो आजकल बुलंदशहर जिले में है। उन दिनों यह एक बहुत महत्वपूर्ण नगर था^१ और इसी स्थान पर आरंभिक

^१ प्रो॰ रैप्सन ने J. R. A. S., १८००, पृ० १११ में इसे “शिवदत्त” लिखा है।

^२ A. S. R., खंड १२, पृ० ३६ की पाद-टिप्पणी।

नाग राजाओं के कुछ सिक्के पाए गए हैं। हमें यह भी पता चलता है कि शिवनंदी का राज्य पश्चावती तक था। जो हो, पर इसमें संदेह नहीं कि विदिशा के साथ मथुरा का बहुत पुराना राजनीतिक संबंध है और आगे चलकर नाग राजाओं के समय में यह संबंध फिर से स्थापित हो गया था। यह माना जा सकता है कि आरंभिक नाग राजाओं ने मथुरा से चत्रपों को भगाने में बहुत कुछ कार्य किया था; और इस सिद्धांत का इस बात से खंडन नहीं हो सकता कि मथुरा में एक ऐसे राजवंश का राज्य था, जिसके राजाओं के नाम के अंत में चत्रपों के समय के बाद के सिक्कों में “मित्र” शब्द मिलता है, क्योंकि ये सिक्के और भी बाद के जान पढ़ते हैं।

॥ २२. संभवतः नीचे लिखे कोष्टक से विदिशा के नागों विदिशा के नामों की की वंशावली का बहुत कुछ ठीक ठीक वंशावली पता चल जायगा—

ई० पू० ११०	शोष	ई० पू० ११०-६०	सिक्के मिलते हैं
से ई० पू० ३१	भोगिन्	ई० पू० ५०-८०	सिक्के नहीं मिलते
तक राजा तो	रामचंद्र	ई० पू० ८०-५०	बहुत सिक्के मिलते हैं
पाँच, पर पी-	धर्मवर्मन्	ई० पू० ५०-४०	सिक्के नहीं मिलते
द्वियाँ चार हुई	बंगर	ई० पू० ४०-३१	सिक्के नहीं मिलते

सन् ३१ ई० पू० के बाद के राजाओं का समय, जो अब आगे से संभवतः पद्मावती में राज्य करते थे, इस प्रकार होगा—

ई० पू० २०—१० भूतनंदी सिक्के नहों मिलते

ई० पू० १०—२५ ई० शिशुनंदी बहुत से सिक्के मिलते हैं

२५—३० ई० चशनंदी सिक्के नहों मिलते

ये वे राजा हैं जिनका पुराणों में उल्लेख नहों है।

इन्हों में शिवनंदी (उसके राज्य-काल के चौथे वर्ष के लेख में यही नाम है; पर सिक्कों में शिवदात नाम मिलता है) भी है जिसका समय सन् ५० ई० के लगभग है। फिर सन् ८० से १७५ ई० तक कुशनों का राज्य था, जब कि नाग राजा लोग हटकर मध्य प्रदेश के पुरिका और नागपुर नंदिवर्द्धन नामक स्थान में चले गए थे (देखो ६६ ३१ के और ४४) ।

यदि हम उक्त दोनों सूचियों को मिलाकर आरंभिक नाग राजाओं की फिर से सूची तैयार करते हैं तो हमें नीचे लिखे राजा मिलते हैं—

(१) शेषनाग ।

(२) भोगिन ।

(३) रामचंद्र ।

(४) धर्मवर्मी ।

(५) बंगर ।

(६) भूतनंदी ।

(५) शिशुनंदी ।

(६) यशःनंदी । इन आठों का परस्पर जो संबंध है, वह ऊपर बतलाया जा चुका है । (देखा § १३)

(८) से १३ तक

पुरुषदात	}	लेखों और सिक्कों के आधार पर पौच राजा । अभी यह निर्दिष्ट नहीं है कि ये लोग किस क्रम से सिंहासन पर बैठे थे ।
उत्तमदात		
कामदात		
भवदात		
शिवनंदी या		

शिवदात

इन राजाओं का समय लगभग ३० पू. ११० से सन् ७८३० तक प्रायः दो सौ वर्षों का है ।

३. ज्येष्ठ नाग वंश और वाकाटक

§ २३. पुराणों के कथनानुसार ज्येष्ठ नाग वंश, विवाह-संबंध के कारण, वाकाटकों में मिल गया था । और जैसा

विदिशा के मुख्य कि हम आगे चलकर बतलावेंगे, इस नाग वंश का अधिकार भत का समर्थन वाकाटकों के शिलादैहित्र को मिल गया था लेखों आदि से भी होता है । पुराणों में कहा है कि यशःनंदी के उपरांत उसके वंश में और भी राजा होंगे अश्वा विदिशावाले वंश में—

तसि-आन्वये भविष्यन्ति राजानस्तत्र यस्तु वै ।

दैहित्राः शिशुको नाम पुरिकायां नृपो भवत् ॥

अर्थात्—इस वंश में और राजा होंगे, और इन्हों में वह दैहित्र भी था, जिसका नाम शिशु था और जो पुरिका का राजा हुआ था^१ । यहाँ “राजानस्तत्र यस्तु” के स्थान पर कुछ प्रतियों में “राजानस्तम् (या ते) त्रयस्तु वै” पाठ मिलता है जो स्पष्टतः अशुद्ध है, क्योंकि “त्रयः” शब्द के पहले “ते” शब्द की कोई आवश्यकता नहीं है; और यदि “तम्” हो तो उसका कोई अर्थ नहीं हो सकता । यदि “त्रयः” पाठ ही मान लिया जाय, जिसके होने में मुझे संदेह है, तो फिर उसका अर्थ यह मानना होगा कि यशःनंदी के आगे राजाओं की तीन शाखाएँ हो गई थीं, और यह अर्थ नहीं होगा कि यशःनंदी के बाद तीन और राजा हुए थे, क्योंकि आगे चलकर विष्णु पुराण में कहा है कि नव नागों^२ ने

१ P. T. पृ० ४६, पाद-टिप्पणी २३ ।

२ पुरिका के लिये देखें J. R. A. S. १६००, पृ० ४४५ में पारजिटर का Ancient Indian Historical Traditions शोधक लेख, पृ० २६२ । इस लेख में पुरिका का जो स्थान निश्चित किया गया है, उससे यह होशंगाबाद जान पड़ता है ।

३ नवनागाः पद्मावत्याम् कांतिपुर्याम् मशुरायाम् । अनुगंगा प्रयाग मागधा गुप्ताश्च मोद्यति । जिस प्रकार गुप्तों के साथ मागधाः विशेषण है, उसी प्रकार नागों के साथ विशेषण रूप से “नव” शब्द आया है । पर पुराणों में न तो गुप्तों को ही और न नागों को ही कोई आया है ।

पद्मावती, मथुरा और कानिपुरी इन तीन राजधानियों से राज्य किया था। यशोऽनंदी का वंश अथवा कम से कम उसकी एक शाखा समाप्त हो गई और जाकर दैहित्र में मिल गई जिसे साधारणतः लोग शिशु कहते हैं। नागों ने पद्मावती छोड़ दी थी; और ऐसा जान पड़ता है कि प्रबल कुशन राजाओं के आ जाने के कारण ही उन्हें पद्मावती छोड़नी पड़ी होगी। पुराणों में हमें निश्चित रूप से यह उल्लेख मिलता है कि विन्वस्फाणि पद्मावती में राज्य करता था और उसका राज्य मगध तक था (देखो ६६३३-३४)। अतः अब हम यह बात मान सकते हैं कि सन् ८०-१०० ई० के लगभग नाग वंश के राजा लोग मथुरा और विदिशा के बीच के राजमार्ग से हट गए थे और उन्होंने मध्य प्रदेश के अगम्य जंगलों में जाकर शरण ली थी (§ ३१ क)।

§ २४, पुराण जब नाग शाखा का उल्लेख करते हुए ‘‘शिशु राजा’’ तक पहुँचते हैं, तब वे विध्यशक्तिवाली शाखा पुरिका और चणका का उल्लेख आरंभ कर देते हैं; और में नाग दैहित्र और विध्यशक्ति के पुत्र का वर्णन करते हैं प्रबोर प्रवरसेन जिसके संबंध में वे यह कहते हैं कि वह जन-साधारण में प्रबोर या बहुत बड़ा बीर माना जाता था।

संख्या दी गई है। अतः यहाँ इस “नव” शब्द का अर्थ “नौ” नहीं हो सकता। या तो इसका अर्थ “नये या परवर्ती नाग” हो सकता है या—“राजा नव के वंश के नाग”। (देखो § २६)

विष्णु पुराण में यह बात स्पष्ट रूप से कही गई है कि शिशु और प्रबोधी दोनों मिलकर राज्य करते थे (शिशुक-प्रबोधी) । वायु पुराण में इनके लिये बहुवचन क्रिया “भोद्यन्ति” का प्रयोग हुआ है जो द्विवचन का प्राकृत रूप है^२ । भागवत में शिशु का कहीं नाम दी नहीं है और केवल प्रबोधी का उल्लेख है । इस प्रकार यहाँ यह सिद्ध होता है कि पौराणिक इतिहास-लेखक यहाँ यह प्रकट करते हैं कि शिशु ने अपने मातामह या नाना नाग राजा का राज्य पाया था और उस दौहित्र शिशु के नाम पर विष्यशक्ति का पुत्र प्रबोध शासन करता था । वायु पुराण और ब्रह्मांड पुराण में जो “च=आपि” (विष्यशक्ति सुतस् चापि) शब्द आया है, उससे भी दोनों का मिलकर ही शासन करना सिद्ध होता है । विष्णु पुराण ने तो स्पष्ट रूप से ही शिशु को पहला स्थान दिया है और वायु तथा ब्रह्मांड पुराणों के वर्णनों में इसका पता केवल प्रसंग से चलता है । वायु और ब्रह्मांड पुराणों में कहा गया है कि प्रबोध ने ६० वर्षों तक पुरिकांचनका में अथवा पुरिका और चण्डका में^३ राज्य

१ प्रबोधो नाम वीर्यवान् ।

२ पारजिटर, पृ० ५०, पादटिप्पणी ३१ ।

३ पारजिटर के प्राकृत रूपों “पुलका” और “चलका” का ध्यान रखते हुए और वायु पुराण के “पुरिकाम् चनकान् च वै” का भी ध्यान रखते हुए यह पाठ भी हो सकता है—“भोद्यन्ति च समा पश्चिम् पुरीम् कांचनकान् च वै” । यह चनका वही स्थान हो सकता है जिसे आज-

किया था । यह पुरिका और चण्कावाला अंतिम पाठ ही अधिक ठोक जान पड़ता है, क्योंकि वहाँ “श्रीर” या “च” शब्द भी आता है । भार-शिवों और बाकाटकों के इतिहास का जो विवरण शिलालेखों आदि में मिलता है (देखो § २५), उसका भी इस मत से पूर्ण रूप से समर्थन होता है और इस विवरण से वह विवरण विलकृत मिल जाता है ।

§ २५. बाकाटक शिलालेखों^१ के अनुसार राज-सिंहा-सन गौतमीपुत्र को, जो सम्राट् प्रब्रह्मेन का पुत्र और रुद्रसेन

शिलालेखों द्वारा पुराणों का समर्थन प्रथम का पिता था, नहीं मिला था, बल्कि रुद्रसेन प्रथम को मिला था जो सम्राट् प्रब्रह्मेन का पोता भी था और भार-शिव महाराज भवनाग का नाती भी था । पर यहाँ

कल नचना कहते हैं । साधारणतः अन्नों का इस प्रकार का विवर्य प्रायः देखने में आता है । अजयगढ़ रियासत में नचना एक प्राचीन राजधानी है जहाँ बाकाटकों के शिलालेख और समृति-चिह्न आदि पाए गए हैं । (A. S. R. २१। ६५) जैन साहित्य में भी चनकापुर का उल्लेख है, जहाँ वह राजगढ़ का पुराना नाम बतलाया गया है (अभिधान राजेंद्र) । चनका का अर्थ होगा “प्रसिद्ध” । बहुत संभव है कि कांचनका और चनका एक ही स्थान के दो नाम हों । कालिका पुराण (३। १४। २। २१. वेंकटेश्वर प्रेस का संस्करण पृ० २६८) में नागों को राजधानी का नाम कांचनी पुरी कहा गया है; और कहा है कि वहाँ पहाड़ी पर एक गुप्त गढ़ी थी (गिरिदुर्गावृता) । साथ ही देखो नचना के संबंध में § ६० ।

१ फ्लीट कृत Gupta Inscriptions पृ० २३७, २४५ ।

विशेष ध्यान रखने की बात यह है कि वह पहले भार-शिव के नाती के रूप में और तब वाकाटक की हैसियत से राज्य का उत्तराधिकारी हुआ था; और वह समुद्रगुप्त की तरह उत्तराधिकारी नहीं हुआ था जो शिलालेखों में पहले तो गुप्त राजा कहलाता है और तब लिच्छवियों का नाती। वाकाटकों के एक ताम्रलेख (बालाघाट, खंड ८ पृ० २७०) में रुद्रसेन प्रथम स्पष्ट रूप से भारशिव महाराज—भारशिवानाम् महाराज श्रीरुद्रसेनस्य—कहा गया है। इस प्रकार इस विषय में विष्णु पुराण का वाकाटक वंश के लेखों से पूरा पूरा समर्थन होता है। फिर वाकाटक लेखों में रुद्रसेन प्रथम की मृत्यु के समय वाकाटक काल का एक प्रकार से अंत कर दिया जाता है और वह दूसरे वाकाटक काल से पृथक् कर दिया जाता है जो पृथिवीयेण प्रथम और उसके पुत्र तथा उत्तराधिकारी से आरंभ होता है। जैसा कि हम आगे चलकर बतलावेंगे, इसका कारण यह है कि जब समुद्रगुप्त के द्वारा रुद्रसेन परास्त होकर मारा गया, तब वाकाटकों के सम्राट् पद का अंत हो गया (देखो ₹५२ की पाद-टिप्पणी)। समुद्रगुप्त ने इसे भी उसी प्रकार रुद्रदेव कहा है, जिस

“भारशिवानामहाराज श्री भवनाम दैहित्रस्य गौतमीपुत्रस्य पुत्रस्य वाकाटकानां महाराज श्री रुद्रसेनस्य”।

प्रकार नेपालवाले लेखों में वसंतसेन को वसंतदेव कहा गया है^१। पृथिवीयेण प्रथम के राज्यारोहण के समय इस वंश को राज्य करते हुए पूरे सौ वर्ष हो गए थे; और इसी लिये लेखों में उस पहले काल का अंत कर दिया गया है जो स्वतंत्रता का काल था। यथा—वर्षशत अभिवर्द्धमान कोष दंड साधन^२। बायु और ब्रह्मांड पुराणों में कहा गया है कि विष्णुशक्ति के वंश ने ८६ वर्षों तक राज्य किया था^३। लेख में जो “सौ वर्ष” कहा गया है, वह उसी प्रकार कहा गया है, जिस प्रकार आज-कल हम लोग कहते हैं—‘प्रायः एक शताब्दी तक’। मतलब यह कि यह बात प्रमाणित हो जाती है कि भूतनंदी नाग के वंशज ही भार-शिव कहलाते थे।

१. फ्लीट हृत Gupta Inscriptions की प्रस्तावना, पृष्ठ १८६—१८१।

२. जिसके वंश में वरावर पुत्र और पौत्र होते चलते थे, जिसका राजकेश और दंड या शासन के साधन वरावर सौ वर्षों तक बढ़ते चलते थे।—फ्लीट।

३. समाः परणवति भूत्वा [शात्वा], पृथिवी तु गमिष्यति । (Purana Texts पृ० ४८ पाद-टिप्पणियाँ ८६, ८८)—“१६ वर्ष पूरे होने पर साम्राज्य (आगे देखो तीसरा भाग § १२५.) का अंत हो जायगा ।”

४. भार-शिव राजा और उनकी वंशावली

§ २६. कौशांखी की टकसाल का एक ऐसा सिक्का
मिला है जो अनिश्चित या अज्ञात वर्ग के सिक्कों
में रखा गया है और जिस पर “[दे]व”
नव नाग पढ़ा जाता है। विंसेट स्मिथ ने
अपने Catalogue of Indian Musuem के पृष्ठ २०६,
प्लेट २३ में इसका चित्र दिया है और उस चित्र की संख्या
१५ और १६ है। यह सिक्का आगरा और अबध के
संयुक्त प्रांतों में आम तौर से पाया जाता है। अभी तक
निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सका है कि इसका
पहला अच्छर क्या है। मैंने इसकी पहली शताब्दी से लेकर
तीसरी शताब्दी तक की लिपियों में आए हुए वैसे अचरणों से
उसका मिलान किया है; और मैं समझता हूँ कि वह अच्छर
“न” है। यह “न” आरंभिक कुशन ढंग का है। यह
सिक्का ‘नवस’ है और नवस के ऊपर एक नाग या साँप का
चित्र है जो फन फैलाए हुए है। यह नाग इस राजवंश
का सूचक है जो इस वंश के और सिक्कों पर भी स्पष्ट रूप
से दिया हुआ है (देखो § २६ ख)। मैं इसे नव नाग का

१. देखो E. I., खंड १, पृ० ३८८ के सामनेवाले प्लेट में पंद्रहवें
वर्ष के नं० २ ए और पैंतीसवें वर्ष के नं० ७ वी में का ‘न’। साथ ही
मिलाओ खंड २, पृ० २०५ में ७६वें वर्ष के नं० २० का ‘न’।

सिक्का मानता हूँ। यहाँ जो ताड़ का चिह्न है, वह इस वर्ग के दूसरे सिक्कों तथा भार-शिवों के स्मृति-चिह्नों पर भी पाया जाता है (देखी ११ ४६ क)।

इस सिक्के ने मुद्रा-शास्त्र के ज्ञाताओं को चक्कर में डाल रखा है^१। यह सिक्का बहुत दूर दूर तक पाया गया है। इससे यह समझा जाता है कि जिस राजा का यह सिक्का है, वह राजा प्रमुख और प्रसिद्ध होगा और इतिहास में उसका महत्त्वपूर्ण स्थान होगा। पर अभी तक यह पता नहीं चलता था कि यह राजा कौन है। न इसका नाम ही ज्ञात होता था और न वंश ही। पर फिर भी इस राजा के संबंध में इतना अवश्य निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि—

^१ मिलाओ विंसेट स्मिथ कृत C. I. M., पृ० १६६—“ये देवस वर्ग के सिक्के, जिन पर अलग कमांक दिया गया है, चक्कर में डालने-वाले हैं। ये सिक्के आगरा और अवध के संयुक्त प्रांतों में आम तौर पर पाए जाते हैं और इस तरह का एक अच्छा सिक्का, जो पहले मेरे पास था, इलाहाबाद जिले के कोसम नामक स्थान से आया था। इसके ऊपर के अक्षर पुराने दंग के अंकों के समान जान पड़ते हैं। प्रो० रैप्सन ने इस पर लिखे हुए अक्षरों को देवस पढ़ा है। पहला अक्षर, जिसका आकार विचित्र है, साधारणतः ‘ने’ पढ़ा गया है, पर शुद्ध पाठ ‘दे’ जान पड़ता है। पर इस बात का किसी प्रकार पता नहीं चलता कि यह देव कौन था।”

(१) यह राजा संयुक्त प्रांतों में राज्य करता था ।

(२) इसके सिक्के कौशांबी से निकलते थे, जहाँ ये प्रायः पाए जाते हैं; और इन सिक्कों पर कौशांबी की हिंदू टकसाल के चिह्न और तत्त्व पाए जाते हैं ।

(३) ये सिक्के उसी वर्ग के हैं, जिस वर्ग के सिक्के डा० स्मिथ ने Coins of Indian Musuem के २३वें प्लेट पर प्रकाशित किए हैं और जिन्हें उन्होंने "अनिश्चित राजाओं के सिक्के" कहा है (देखो आगे दु० २६ ख) ।

(४) इसके सिक्के विदिशा-मथुरा के नाग सिक्कों से मिलते-जुलते हैं ।

(५) इसने कम से कम २७ वर्षों तक राज्य किया था, क्योंकि इसके सिक्कों पर राज्यारोहण-संवत् ८, २० और २७ हैं ।

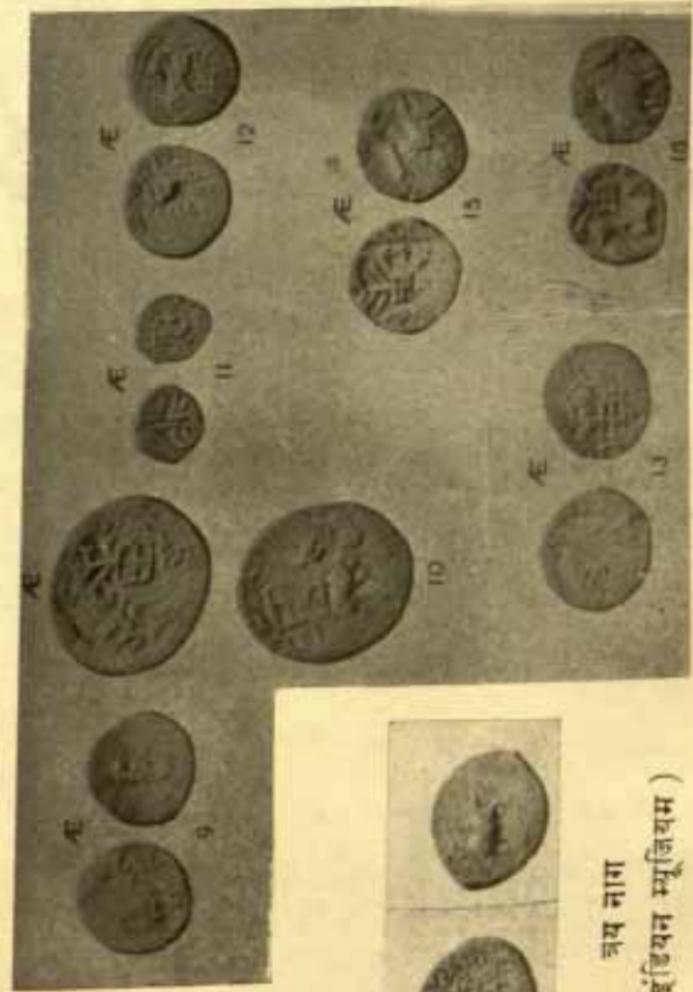
(६) अपने सिक्कों के कारण एक और तो पद्मावती और विदिशा के साथ तथा दूसरी ओर वीरसेन तथा कौशांबीवाले सिक्कों के दूसरे राजाओं के साथ इसका संबंध स्थापित होता है ।

जैसा कि हम आगे चलकर दु० २६ ख में बतलावेंगे, कौशांबी के सिक्के वास्तव में भार-शिव राजाओं के सिक्के हैं । इनमें से कई सिक्कों पर ऐसे नाम हैं जिनके अंत में नाग शब्द आया है । हमारे सिक्कों का यह नव नाग वही

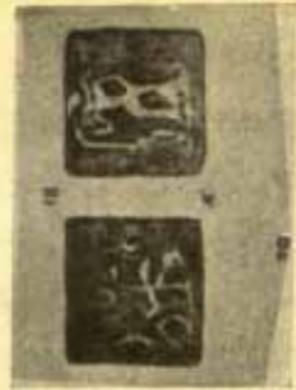
राजा जान पड़ता है जिसके नाम पर पुराणों ने नव नाग या नव नाक राजवंश का नामकरण किया है। यही उस नव नाग राजवंश का प्रतिष्ठापक था जिस राजवंश की राजकीय उपाधि भार-शिव थी। इसके सिक्कों पर के अच्छर आकार में वैसे ही हैं, जैसे हुविष्ट वासुदेव के लेखों के अच्छर हैं; इसलिये हम यह मान सकते हैं कि यह वासुदेव का सम-कालीन था और हम इसका समय लगभग सन् १४०—१७० ई० निश्चित कर सकते हैं।

§ २६ क. हमें पता चलता है कि सन् १७५ या १८० ई० के लगभग एक नाग राजा ने मथुरा में फिर से हिंदू सन् १७५—१८० के राज्य स्थापित किया था। वह राजा लगभग बीरसेन द्वारा बीरसेन था। बीरसेन के उत्थान मथुरा में भार-शिव राज्य से केवल नाग-वंश के इतिहास में ही की स्थापना नहीं, बल्कि आर्यावर्ती के इतिहास में भी मानों एक नवीन युग का आरंभ होता है। उसके अधिकाँश सिक्के उत्तरी भारत में और विशेषतः समस्त संयुक्त प्रांत में पाए गए हैं और कुछ सिक्के पंजाब में भी मिले हैं।

१. विंसेंट स्मिथ के शब्दों में—‘ये सिक्के पश्चिमोत्तर प्रांतों और पंजाब में भी साधारणतः पाए जाते हैं।’ J. R. A. S., १८८७, पृ० ८७६। साथ ही देखो Catalogue of Coins in Lahore Musuem, तीसरा भाग, पृ० १२८ राजसं C. I. M., तीसरा भाग, पृ० ३२-३३।



Coins of Indian Museum पैसों १३

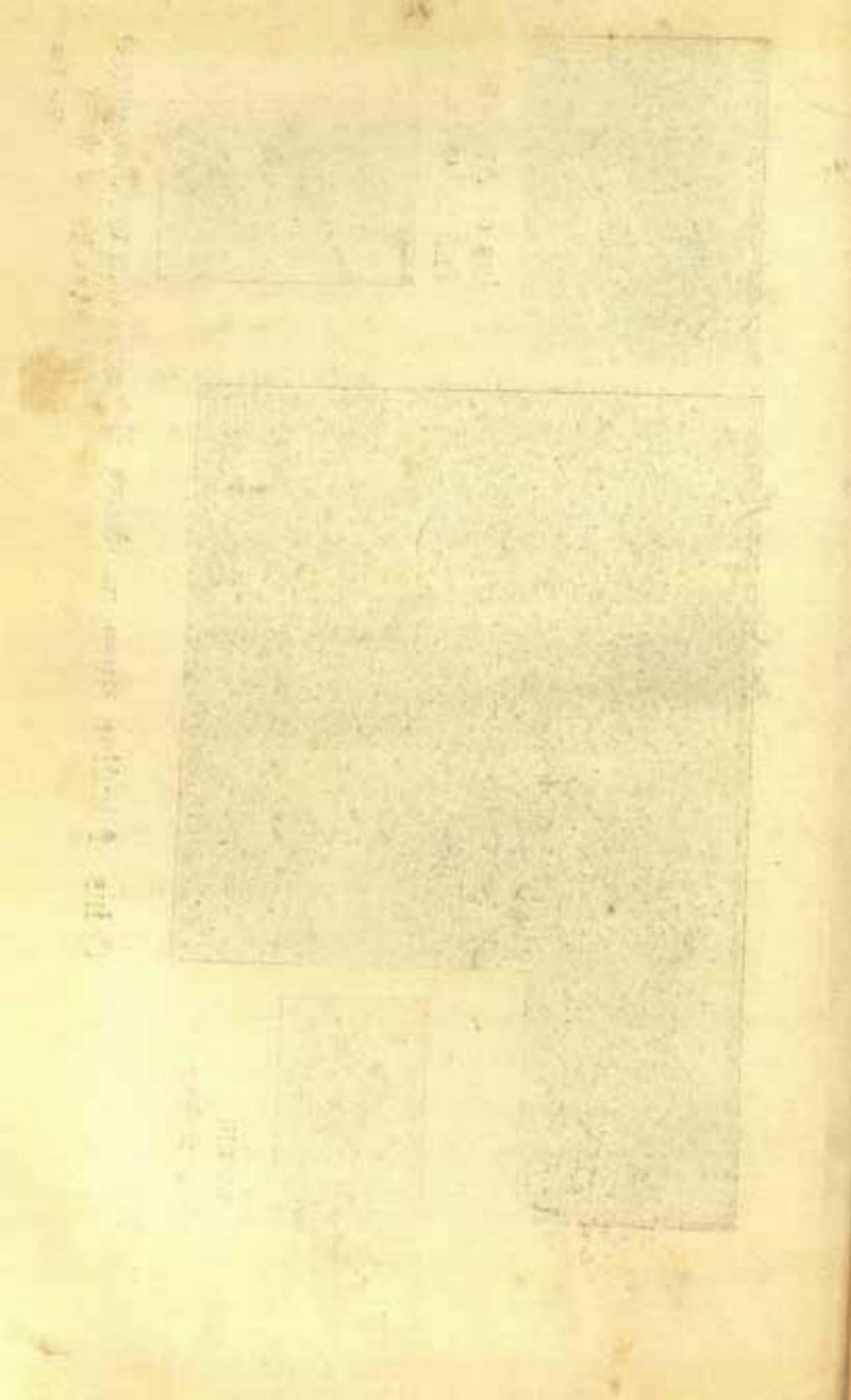


Coins of Ancient
India पैसों १४



जरनल खेल पश्चिमात्क संकाठी
१९०० पू० ६७ चौरसेन

पृ० ३८



मथुरा में तो ये बहुत अधिकता से पाए जाते हैं जहाँ से कनिंघम को प्रायः सौ सिक्के मिले थे। कारलेली को बुलंदशहर जिले के इंदौरखेडा नामक स्थान में ऐसे तरह सिक्के मिले थे। ऐसे सिक्के एटा जिले के कुछ स्थानों में, कन्नौज में तथा फरुखाबाद जिले के कुछ और स्थानों में भी पाए गए हैं। इस प्रकार यह सूचित होता है कि वह मथुरा में रहता था और समस्त आर्यवर्त देशाब पर राज्य करता था। आम तौर पर उसके जो सिक्के पाए जाते हैं, वे छोटे और चौकोर होते हैं। उन पर सामने की ओर ताढ़ का पेड़ होता है^१ और सिंहासन पर बैठी हुई एक मूर्ति होती है^२ (विंसेंट स्मिथ C. I. M. पृ० १६१)। जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, यह ताढ़ का बृक्ष नागों का चिह्न है। जैसा कि हम आगे चलकर बतलावेंगे, यह चिह्न भार-शिवों के बनवाए हुए सूर्ति-चिह्नों आदि पर भी मिलता है (§ ४६ क)। इस राजा के एक और तरह के भी सिक्के मिलते हैं जिनमें के एक सिक्के का चित्र जनरल कनिंघम ने अपने Coins of Ancient India के आठवें प्लेट में दिया है। इसका

१. विंसेंट स्मिथ कृत C. I. M., पृ० १६१।

२. उक्त ग्रंथ पृ० १६१।

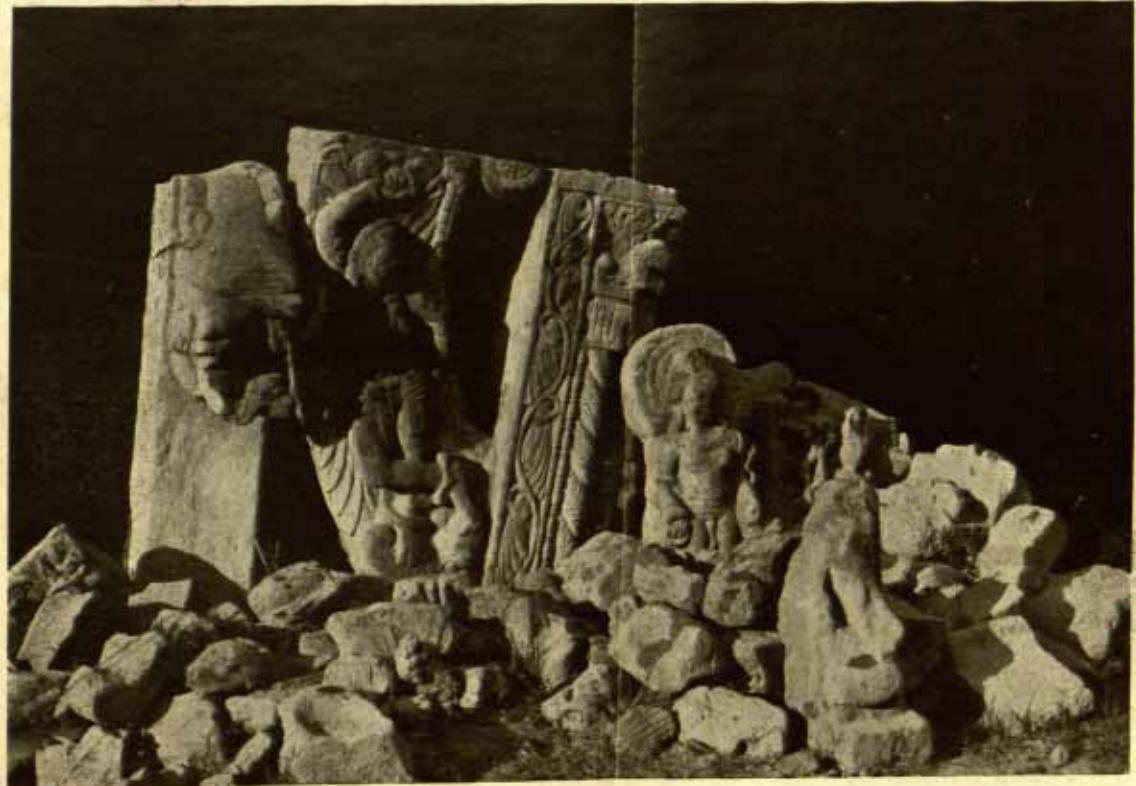
३. सिंहासन पर जो बृक्ष बना है, उसे कुछ लोग प्रायः भूल से राजमुकुट समझते हैं। (मिलाओ C. I. M., पृ० १६७)।

क्रमांक १८ है। इसमें एक मनुष्य^१ की कदाचित् बैठी हुई मूर्ति है जिसके हाथ में एक खड़ा हुआ नाग है। इस राजा के एक तीसरे प्रकार के सिक्के का चित्र प्रो० रैम्सन ने सन् १८०० के जरनल रायल एशियाटिक सोसाइटी में, पृष्ठ ८७ के सामनेवाले प्लेट में, दिया है जिसका क्रमांक १५ है। उसमें एक छत्रयुक्त सिंहासन पर एक बैठी हुई खो की मूर्ति है और सिंहासन के नीचेवाले भाग से नाग उठकर छत्र तक गया है; और ऐसा जान पढ़ता है कि वह नाग छत्र को धारण किए हुए है और सिंहासन की रक्षा कर रहा है। यह मूर्ति गंगा की है, क्योंकि इसके दाहिने हाथ में एक घड़ा है^२। सिक्के के दूसरे या पिछले भाग में ताढ़ का एक वृत्त है जिसके दोनों ओर उसी तरह के कुछ और चिह्न हैं। बनावट की दृष्टि से यह सिक्का भी बैसा ही है, जैसे नव के और सिक्के हैं; और इसमें राजा की उपाधि की पूर्ति करने के लिये नाग की मूर्ति दी गई है। इस पर समय भी उसी प्रकार दिया गया है, जिस प्रकार नव के

१. देखो यहाँ दिया हुआ प्लेट १। इसमें दिए हुए चित्र कनिष्ठम के दिए हुए चित्र के फोटो नहीं हैं, बल्कि उन्हें देखकर हाथ से तैयार किए हुए चित्र हैं।

२. देखो यहाँ दिया हुआ प्लेट नं० १। [उस समय के जिस ढले हुए सिक्के का चित्र प्लेट २३ क्रमांक १ में है, उसमें की खड़ी हुई मूर्ति मुझे गंगा की जान पढ़ती है।]

जानखट में भार-शिव मूर्तियाँ, समय २०० ई० के लगभग



संभवतः मकर का सिर
जिस पर वीरसेन का लेख है

मकर पर गंगा (भार-शिव का राजकीय
चिह्न) एक मंदिर के द्वार पर

सिंह-स्तंभ
(भूमरा शैली)

अस्पष्ट मूर्ति



और सिक्कों पर दिया गया है। नाग तो वंश का सूचक है और ताढ़ का वृत्त राजकीय चिह्न है। कुछ सिक्कों में राजसिंहासन पर के छत्र तक जो नाग बना है, उसका संभवतः दोहरा अर्थ और महत्व है। वह नाग वंश का सूचक तो है ही, पर साथ ही संभवतः वह अहिंचत्र का भी सूचक है; अर्थात् वह यह सूचित करता है कि यह सिक्का अहिंचत्र की टकसाल में ढला हुआ है। इस राजा का पद्मावती की टकसाल का ढला हुआ भी एक सिक्का है। जिस पर लिखा है—
महाराज व(वि); और साथ ही उस पर मोर का एक चित्र है जो वीरसेन या महासेन देवता का बाह्यन है। पद्मावती के नाग राजाओं के सिक्कों में से यह सबसे आरंभिक काल का सिक्का है (§ २७)। तौल, आकार और चिह्न आदि के विचार से भी ये सब सिक्के हिंदू सिक्कों के ही ढंग के हैं। यही बात हम दूसरे ढंग से यों कह सकते हैं कि वीरसेन ने कुशनों के ढंग के सिक्कों का परित्याग करके हिंदू ढंग के सिक्के बनवाए थे।

फरुखाबाद जिले की तिरबा तहसील के जानखट वीरसेन का शिलालेख नामक गाँव में सर रिचर्ड बर्न ने छत्तीस वर्ष पहले^१ इस राजा का एक शिलालेख हुँड़ निकाला था। मि० पारजिटर द्वारा

१ कनिंघम कृत Coins of Mediaeval India, प्लेट २, चित्र सं० १३ और १४।

२ J. R. A. S., १८००, पृ० ५५२।

संपादित Epigraphia Indica खंड ११, पृ० ८५ में यह लेख प्रकाशित हुआ है। कई टूटी हुई मूर्तियाँ और नक्काशी किए हुए पत्थर के टुकड़े हैं और यह लेख पत्थर की बनी हुई एक पशु की मूर्ति के सिर और मुँह पर खुदा है^१। इसमें भी वही राजकीय चिह्न खुदे हैं जो उस सिक्के में हैं जिसका चित्र प्र० ३८८न ने दिया है। उसमें एक वृक्ष का सा आकार बना है जो उन्हीं सिक्कों पर बने हुए वृक्ष के ढंग का है; और इसलिये हम कह सकते हैं कि वह वृक्ष ताड़ का है। उसके आस-पास सजावट के लिये कुछ और भी चिह्न बने हैं; और ये चिह्न भी सिक्कों पर बने हुए चिह्नों के समान ही हैं; पर अभी तक यह पता नहीं चला है कि ये चिह्न किस बात के सूचक हैं। ये राजकीय चिह्न हैं; और इसी कारण में समझता हूँ कि ये राज्य अथवा राजवंश की स्थापना के सूचक हैं। यह शिलालेख स्वामिन् वीरसेन के राज्य-काल के तेरहवें वर्ष का है (स्वामिन् वीरसेन संवत्सरे १०, ३)।

^१ इसमें संदेह नहीं कि मूर्तियों आदि के बे टुकड़े भार-शिव कला के नमूने हैं। सौभाग्य से मुझे इनका एक फोटो मिल गया। यह भारत के पुरातत्त्व विभाग द्वारा सन् १९०६ में लिया गया था। देखो यहाँ दिया हुआ प्लेट नं० २। इस चित्र के लिये मैं पुरातत्त्व विभाग के डाइरेक्टर जनरल राय बहादुर दयाराम साहनी को धन्यवाद देता हूँ। इसमें का स्तंभ मकर तोरण है। इसमें की छी की मूर्ति गंगा की है जो राजकीय चिह्न है।

इसका शेष अंश इतना टूटा-फूटा है कि उससे यह पता नहीं चल सकता कि इस लेख के अंकित कराने का उद्देश्य क्या था । इस पर ग्रीष्म ऋतु के चौथे पञ्च की आठवीं तिथि अंकित है ।.....इसके अन्तर वैसे ही हैं, जैसे अहिरचन्द्र-बाले सिक्के पर के अन्तर हैं । इसके अतिरिक्त और सभी बातों में वे अन्तर आदि हुविष्क और वासुदेव के उन शिलालेखों के अन्तरों से ठीक मिलते हैं जो मशुरा में पाए गए थे और जो डा० बुहलर द्वारा प्रकाशित Epigraphia Indica के पहले और दूसरे खंडों में दिए हैं । उदाहरण के लिये, इस शिलालेख को उस शिलालेख से मिलाइए, जो कुशन संवत् ८० का है और जो उक्त ग्रन्थ के दूसरे खंड में पृ० २०५ के सामनेवाले प्लेट पर दिया है । दोनों में ही स, क और न की खड़ी पाइयों का ऊपरी भाग अपेक्षाकृत मोटा है । यद्यपि जानखट-बाले शिलालेख में का इ कुछ पुराने ढंग का है, पर फिर भी वह कुशन संवत् ८० के उक्त शिलालेख के इ से बहुत कुछ मिलता-जुलता है । इस शिलालेख में जो मात्राएँ हैं, वे कुछ भूकी हुई सी हैं और वैसी ही हैं, जैसी कुशन संवत् ४ के मशुरा-बाले शिलालेख नं० ११ की तीसरी पंक्ति में सह, दासेन और दानम् शब्दों में हैं; अथवा कुशन संवत् १८ के शिलालेख नं० १३ की तीसरी पंक्ति में हैं अथवा दूसरी पंक्ति के 'गणातो' में और साथ ही दूसरे शब्दों के साथ आए हुए 'तो' में हैं और कुशन संवत् ८८ के शिलालेख (ज्ञुणे गणातो) में हैं । जानखट के

शिलालेख की कई बातें वासुदेव के समय के शिलालेखों की बातों से कुछ पुरानी हैं; और कुछ बातें उसी समय की हैं, इसलिये हम कह सकते हैं कि यह शिलालेख कम से कम वासुदेव कुशन के समय के बाद का नहीं है।

^१ डा० विंसेट स्मिथ के Catalogue of Coins में वीरसेन के जो सिक्के दिए हैं, उनका समय पढ़ने में मि० पारजिटर ने एक बाक्यांश का कुछ गलत अर्थ किया है। उन्होंने यह समझा था कि डा० स्मिथ ने यह बात मान ली है कि वीरसेन का समय लगभग सन् ३०० ई० है। पर उन्होंने इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि वीरसेन के जिन सिक्कों के चित्र कनिंघम और रैप्सन ने दिए हैं, वे सिक्के दूसरे हैं और आगे या बाद के बर्ग या विभाग में वीरसेन के नाम से जो सिक्के दिए गए हैं, वे उन सिक्कों से विलकुल अलग हैं। [बाद-वाला वीरसेन चास्तव में प्रवरसेन है (५३०)]। इन दोनों प्रकार के सिक्कों का अंतर समझने में अभाग्यवश मि० पारजिटर से जो भूल हो गई है, उसका फल चुरा हुआ है। यद्यपि वे यह मानते हैं कि ई० पू० पहली शताब्दी से लेकर ई० दूसरी शताब्दी तक के शिलालेखों आदि में इसी और व के तो यही रूप मिलते हैं, पर श का यह रूप केवल इसी दूसरी शताब्दी के ही लेखों में मिलता है; परंतु भी वीरसेन के समय के संबंध में मि० विंसेट स्मिथ ने जो अनुमान किया है [पर डा० स्मिथ का यह अनुमान उस वीरसेन के संबंध में कभी नहीं था, जिसके विषय में हम यहाँ विवेचन कर रहे हैं।] उससे इस शिलालेख के समय का मेल मिलाने के लिये मि० पारजिटर कहते हैं कि यह शिलालेख इसी तीसरी शताब्दी का होगा और बहुत संभव है कि उक्त शताब्दी के अंतिम भाग का हो। मि० पारजिटर के ध्यान में यह बात कभी नहीं

राजा नव की तरह वीरसेन ने भी अपने राज्य-काल के पहले वर्ष से ही महाराज के समस्त शासनाधिकार अपने

आईं कि डा० स्मिथ ने दो बीरसेन माने थे। मिं० पारजिटर ने इस शिलालेख का समय कुछ बाद का निर्धारित करने के दो कारण बतलाए हैं; पर उनमें से एक भी कारण जाँचने पर ठीक नहीं ठहरता। इनमें से एक कारण वे यह बतलाते हैं कि 'A' की जो मात्रा कपर की ओर कुछ मुको हुई है, वह कुशन ढंग की नहीं बल्कि गुप्त ढंग की है। दूसरा कारण वे यह बतलाते हैं कि इस शिलालेख के अद्वारों का ऊपरी भाग अपेक्षाकृत कुछ मोटा है। पर सिद्धांततः भी और वस्तुतः भी मिं० पारजिटर की ये दोनों ही बातें गलत हैं। किसी शिलालेख का काल निर्धारित करने के लिये उन्होंने यह सिद्धांत बना रखा है कि उस शिलालेख में अद्वारों के जो बाद के या नए रूप मिलते हैं, उनका व्यवहार कब से (अर्थात् अमुक समय से) होने लगा था। इस सिद्धांत के संबंध में केवल मुझे ही आपत्ति नहीं है, बल्कि मुझसे पहले और भी कुछ लोगों ने इस पर आपत्ति की है [E. I. ११; ८६]। किसी लेख में पहले के या पुराने ढंग के कुछ अद्वार भी मिल सकते हैं और उस दशा में उनका समय पहले से निश्चित समय की अपेक्षा और भी पुराना सिद्ध हो सकता है। यदि मिं० पारजिटर के दोनों कारण वस्तुतः ठीक भी मान लिए जायें तो भी जिस लेख के अद्वारों को वे ई० पू० पहली शताब्दी से ईसवी दूसरी शताब्दी तक के मानते हैं, और उसके बाद के नहीं मानते, उन्हीं अद्वारों के आधार पर वह लेख ईसवी तीसरी शताब्दी का कभी माना नहीं जा सकता। पर वास्तविक घटनाओं के विचार से भी मिं० पारजिटर का मत भ्रमपूर्ण है। कुशन संवत् ४ के लेखों के अद्वारों में भी उनका ऊपरी भाग कुछ मोटा ही मिलता है।

हाथ में ले लिए थे । जानखट-वाला शिलालेख स्वयं उसी के राज्यारोहण-संवत् का है^१; पर कुशन शासन-काल में सब जगह कुशन संवत् लिखने की ही प्रथा थी । शिवनंदी के शिलालेख में भी स्वामिन् शब्द का प्रयोग किया गया है; और हिंदू धर्मशास्त्रों तथा राजनीति-शास्त्रों के अनुसार (मनु ८,२४४; ७,१६७;) इसका अर्थ होता है,—देश का सबसे बड़ा राजा या महाराज । वीरसेन ने जिस प्रकार अपने सिक्कों में फिर से हिंदू पद्धति ग्रहण की थी, उसी प्रकार यहाँ अपनी उपाधि देने में भी उसने उसी सनातन पद्धति का अवलंबन

(देखिए Epigraphia Indica, भाग २ में पृ० २०३ के सामने-वाले प्लेट में का लेख नं० ११ और उससे भी पहले का अयोध्यावाला शुंग शिलालेख जो मैंने संयादित कर के J. B. O. R. S. खंड १०, पृ० २०२ में छुपवाया है और E. I. खंड २, पृ० २४२ में प्रकाशित पभोसावाले शिलालेख, जिन्हें सभी लोगों ने ई० प० शताब्दियों का माना है ।) उनका यह मत है कि इस शिलालेख में '१' को मात्राएँ ऊपर की ओर कुछ अधिक उठी हुई है; पर यह मत इसलिये चिलकुल नहीं माना जा सकता कि E. I., खंड २ में पृ० २४३ के सामने-वाले प्लेट में पभोसा का जो शिलालेख है, उसकी पहली पंक्ति में '१' की सभी मात्राएँ ऐसी हैं; और इसी प्रकार के दूसरे बहुत से उदाहरण भी दिए जा सकते हैं ।

१ डा० विंसेंट स्मिथ ने यह मानने में भूल की थी कि इसका समय कुशन संवत् ११३ है (C. I. M. पृ० १६२); और सर रिचर्ड बर्न ने उसे जो १३ पढ़ा था, वह बहुत ठीक पढ़ा था ।

किया था । कुशनों में जो बड़ी बड़ी राजकीय उपाधियाँ लिखने की प्रथा थी, उसका वीरसेन ने यहाँ भी परित्याग किया है और अपने यहाँ की प्राचीन पारिभाषिक उपाधि ही दी है ।

एक तो ये सिक्के बहुत दूर दूर तक पाए जाते हैं; और दूसरे इस तरह की कुछ और भी बातें हैं जिनसे यह प्रमाणित होता है कि वीरसेन ने मथुरा के आस-पास के समस्त स्थानों और गंगा तथा यमुना के बीच के सारे दोन्हाब से, जो सब मिलाकर आधुनिक संयुक्त प्रांत है, कुशनों को निकाल दिया था । कुशनों के शिलालेखों, सिक्कों के समय और वीरसेन के शिलालेखों से यह बात निश्चित रूप से सिद्ध हो जाती है कि कुशन संवत् ८८ के घोड़े हो दिनों बाद वीरसेन ने मथुरा पर अधिकार कर लिया था और यह समय सन् १८० ई० के लगभग हो सकता है । अतः जानखट-वाला शिलालेख संभवतः सन् १८०-८५ के लगभग का होगा । वीरसेन ने कुछ अधिक दिनों तक राज्य किया था । जनरल कनिंघम ने उसके एक सिक्के का जो चित्र दिया है, उस पर मेरी समझ से उसका राज्यारोहण-संवत् ३४ है । यदि उसका शासन-काल चालिस वर्ष मान लें तो हम कह सकते हैं कि वह सन् १७० से २१० ई० तक कुशनों के स्थान में सन्नाट् पद पर था ।

उससे पहले इस वंश का जो राजा नव नाग उसका पूर्वाधिकारी था, वह वासुदेव के शासन-काल में संयुक्त प्रांत के

पूर्वी भाग में एक स्वतंत्र शासक की भाँति राज्य करता रहा होगा; और वीरसेन के शासन का दसवाँ या तेरहवाँ वर्ष वासुदेव के अंतिम समय में पड़ा होगा। इस प्रकार वह सन् १७० ई० के लगभग सिंहासन पर बैठा होगा।

वीरसेन के सिक्कों और असंदिग्ध भार-शिव राजाओं के सिक्कों में जो घनिष्ठ संबंध है (§ २६ ख), उसके सिक्कों पर मानों उसके नाम की पूर्ति करने के लिये नाग का जो चिह्न है, और मथुरा में उसके उत्थान और राज्य-स्थापन का जो समय है, उसको देखते हुए हम कह सकते हैं कि यह वीरसेन शिलालेखों में के भार-शिव नागों और पुराणों में के नव नागों में के आरंभिक राजाओं में से एक था।

§ २६ ख. वीरसेन के संबंध में हम विवेचन कर चुके हैं और अब हम दूसरे राजाओं के संबंध में विचार कर सकते

हैं। शिलालेखों से हमें यह पता दूसरे भार-शिव राजा चलता है कि भवनाग भार-शिव था और भार-शिव राजाओं में अंतिम था। सिक्कों से पता चलता है कि उससे पहले उसके बंश में और भी कई राजा हो चुके थे। उन सिक्कों से यह भी पता चलता है कि इनका बंश आगरा और अवध के संयुक्त प्रांतों में राज्य करता था, क्योंकि वहाँ ये सिक्के बहुत अधिक संख्या में मिलते हैं; और उन्होंने सिक्कों से यह भी पता चलता है कि कौशांबी में इन राजाओं की एक खास टकसाल थी।

मुद्राशास्त्र अथवा इतिहास के ज्ञाताओं ने अभी तक यह निश्चित नहीं किया है कि ये सिक्के किस राजवंश के हैं; और न अभी तक इन सिक्कों का पारस्परिक संबंध ही निश्चित हुआ है। इसलिये मैं यहाँ इस संबंध में पूरा पूरा विचार करता हूँ।

इस प्रकार के सब सिक्के कलकत्ते के इंडियन म्यूजियम में हैं। ये सब दसवें विभाग में रखे गए हैं और यह विभाग उत्तरी भारत के अनिश्चित फुटकर प्राचीन सिक्कों का है। इसके चौथे उपविभाग (C. I. M. पृ० २०५, २०६) में नीचे लिखे सिक्कों के विवरण हैं :

क्रमांक ७. A. S. B. प्लेट नं० २३, चित्र नं० ८—डा० सिथ इसके वर्णन में कहते हैं कि रेलिंग या कठघरे में से एक विलङ्घण चीज निकली हुई है। ब्राह्मी न, पीछे की ओर अशोक लिपि का ज (?) ।

क्रमांक ८. A. S. B. प्लेट नं० २३, चित्र नं० १०—कठघरे के अंदर एक वृत्त, जिसकी पाँच शाखाएँ या पत्तियाँ हैं और इसकी दूसरी शताब्दी के अन्तरों में एक ब्राह्मी लेख है

१. सुभोते के लिये मैंने इन सिक्कों के चित्र प्लेट नं० १ पर दे दिए हैं। सिक्के आकार में कुछ छाटे कर दिए गए हैं। मुझे इंडियन म्यूजियम से श्रूयुक्त के० एन० दीनित की कृपा से विशेष रूप से इन सिक्कों के ढप्पे मिल गए थे, जिसके लिये मैं दीनित जी को धन्यवाद देता हूँ।

जिसे डा० स्मिथ ने “चीज़” पढ़ा है। पीछे की ओर शेर और उसके ऊपर कठघरा या रेलिंग है। लिपि ब्राह्मी। पहले पढ़ा नहीं गया था।

क्रमांक ८, A. S. B. प्लेट नं० २३, चित्र नं० ११—यह अपेक्षाकृत कुछ छोटा सिक्का है जिस पर ब्राह्मो अच्चरों में लेख है जिसे डा० स्मिथ ने “चराज़” या “चराजु” (बड़े अच्चरों में) पढ़ा है। पीछे की ओर चेत्र में एक ब्राह्मो अच्चर है जो डा० स्मिथ के मत से ल है।

क्रमांक १०—A. S. B. इसका चित्र डा० वि० स्मिथ ने नहीं दिया है। इसमें भी कठघरे में एक वृत्त है। पीछे की ओर शेर खड़ा है जिसके ऊपर एक कुंडल सा बना है। उसके बगल में जो कुछ लिखा है, उसे डा० स्मिथ ने “त्रय नागस” पढ़ा है। त्रय के पहले यन (?) है। इसका आकार और इस पर के चिह्न वैसे हो हैं, जैसे इसके बादवाले सिक्के में हैं जिसका क्रमांक ११ है और जो प्लेट नं० २३ का १२ वाँ चित्र है। इस सिक्के का चित्र भी मैं यहाँ देता हूँ।

क्रमांक ११, A. S. B. प्लेट नं० २३, चित्र नं० १२—कठघरे में वृत्त है और ब्राह्मी में एक लेख है जिसे डा० स्मिथ ने “रथ यण गिच (f) म त (स) ?” पढ़ा है। पीछे की ओर शेर खड़ा है। उसकी पीठ पर ब्राह्मो अच्चर हैं जिन्हें डा० स्मिथ ने निश्चित रूप से व पढ़ा है और जिसके नीचे एक और अच्चर है जिसे उन्होंने व पढ़ा है।

क्रमांक १२, I. M., प्लेट २३, चित्र नं० १३—
डा० स्मिथ ने इसका वर्णन इस प्रकार किया है—कठघरे में
वृक्ष, वज्र, किनारे पर कुछ लेख के चिह्न। (यह वास्तव में
सीधा या सामने का भाग है, उलटा या पीछे का भाग नहीं
है।) [पीछे की ओर कठघरे में वृक्ष और अस्पष्ट चिह्न,
किनारे पर ब्राह्मो में लेख (?) ग भेमनप (या ह)।]

इन सिक्कों के वर्ग के ठोक नीचे उपविभाग नं० २ में
डा० स्मिथ ने आठ और सिक्कों की सूची दी है जिन्हें वे देव
के सिक्के कहते हैं; पर उन पर का लेख 'देव' है या नहीं,
इसमें उन्हें कुछ संदेह है (पृ० २०६, २०७, १८६)। जैसा
कि ऊपर बतलाया जा चुका है, ये सिक्के वास्तव में नव नाग
के हैं। इन सिक्कों पर भी कठघरे के अंदर वैसा ही वृक्ष
बना है, जैसा ऊपर बतलाए हुए सिक्कों में है और जिसे
उन्होंने तथा मुद्राशास्त्र के दूसरे ज्ञाताओं ने कोसम-चिह्न बत-
लाया है (प्लेट २३, चित्र नं० १५ और १६)। इन सिक्कों
में से कुछ के पिछले भाग पर तो साँड़ की मूर्ति है और कुछ
पर हाथी की। सामने की ओर राजा के नाम के ऊपर
एक छोटे फनवाले नाग का चित्र है।

इन सिक्कों की नीचे लिखी विशेषताएँ ध्यान में रखने
के योग्य हैं।

कठघरे के अंदर पाँच शाखाओंवाला जो वृक्ष है, वह
चित्र नं० १०, १२, १५ और १६ पर तथा क्रमांक १३

के सिक्कों पर समान रूप से पाया जाता है। नं० १२, १५ और १६ के सिक्कों का रूप और आकार एक समान है। नं० १० का सिक्का आकार में तो कुछ बड़ा है, पर उसका रूप उक्त सिक्कों के समान ही है। नं० ११ का सिक्का आकार में तो बहुत छोटा है, पर उसका भी रूप वैसा ही है। इन सिक्कों को देखने से यह निश्चित हो जाता है कि ये सब सिक्के एक ही वर्ग के हैं। और फिर एक बात यह भी है कि इन सभी सिक्कों पर समय या संवल दिया हुआ है।

क्रमांक १० के सिक्के का चित्र ढा० स्मिथ ने नहीं दिया है; पर मैंने उसका ठप्पा बहुत ध्यानपूर्वक देखा है और उसकी सब बातों पर विचार किया है। जिस लेख का ढा० स्मिथ ने निश्चयपूर्वक त्रय नागर पढ़ा है, वह स्पष्ट और ठीक है। उस सिक्के के एक ठप्पे का चित्र मैं यहाँ देता हूँ। फोटो लेने में इसका आकार कुछ छोटा हो गया है। इसका वास्तविक आकार वही है जो डाक्टर स्मिथ के क्रमांक १२, प्लेट २३ के चित्र नं० १३ का है। इस पर भी वही बृहत् का चिह्न है जो औरों पर है। इसमें का त्र कठघरे के नीचे-

१. इस सिक्के और C. I. M., पृ० २०६ के क्रमांक १२ के ठप्पों के लिये मैं हांडियन म्यूजियम के अधिकारी एन० मजुमदार को धन्यवाद देता हूँ। यद्यपि अन्दर त्र मेरे फोटोग्राफ में नहीं आया है, पर फिर भी वह मेरे ठप्पे पर स्पष्ट रूप से आया है।

बाले भाग के पास से आरंभ होता है । उससे पहले और कोई अच्छर नहीं है । संभव है कि वहाँ और किसी प्रकार का कोई चिह्न रहा हो, पर इस संबंध में मैं निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कह सकता । डा० स्मिथ ने नागस में जिस अच्छर को स पढ़ा है, वह संभवतः स्य है । पीछे की ओर शेर के ऊपर सूर्य और चंद्रमा हैं—कोई मंडल नहीं है—जो कपर की ओर उभड़े हुए हैं । इसका विशेष महत्त्व यही है कि इससे यह सिद्ध होता है कि संयुक्त प्रांत में इस प्रकार के नाग सिक्के बनते थे । अब मैं उस स्थान के संबंध में कुछ कहना चाहता हूँ जहाँ देव (शुद्ध रूप 'नव') वर्ग के सिक्के मिले हैं । डा० स्मिथ का मत है कि वे कोसम की टकसाल के जान पढ़ते हैं, क्योंकि इस वर्ग का एक सिक्का उन्हें कौशांबी से मिला था; और उस पर चूँका का जो चिह्न है, उसका संबंध कौशांबी की टकसाल से प्रसिद्ध है । इस वर्ग के जिन सिक्कों के चित्र प्रकाशित हुए हैं, अब मैं उनके संबंध में अपने विचार बतलाता हूँ ।

क्रमांक ८ और ९ प्लेट के चित्र नं० १० और ११ पर एक ही नाम लिखित है । वह चरज पढ़ा जाता है । नं० ८ के अच्छर भी चरज ही पढ़े जाते हैं । इसमें च और ज के बीच में जो र है, उसे डा० स्मिथ इसलिये पढ़ना भूल गए थे कि वह दूसरे अच्छरों की अपेक्षा कुछ पतला है । इस सिक्के पर पीछे की ओर प्लेट २३ चित्र नं० १० की दूसरी

पंक्ति नागश पढ़ी जाती है। और उसी के पीछे की ओर शेर के ऊपर २० और ८ (८) के सूचक अंक या चिह्न हैं। इस प्रकार यह सिक्का चरज नाग का है और उसके राज्यारोहण-संवत् ८ का है। चर मंगल ग्रह का एक नाम है।

क्रमांक ११ (प्लेट में के चित्र नं० १२) पर लिखा है—
 (श्री) हय नागश २०, १०। डा० स्मिथ ने इसमें जिसे र पढ़ा है और खड़ी पाई की तरह समझा है, वह संभवतः श्री का एक अंश है; जिसे उन्होंने य पढ़ा है, वह वास्तव में ह है; और जिसे उन्होंने नागि पढ़ा है, वह नाग है। जिसे वह च पढ़ते हैं, उसे मैं २० का चिह्न समझता हूँ और जिसे वह म समझते हैं, वह १० का सूचक चिह्न है। उसमें कहीं कोई त और स नहीं है और इसके संबंध में स्वयं उन्हें भी पहले से संदेह ही था। कठघरे के नीचेवाले भाग के कुछ अंश को डा० स्मिथ कोई अच्छर या लेख समझते थे। पीछे की ओर ऊपरवाले जिस चिह्न को डा० स्मिथ ने व पढ़ा था, पर जिसके ठीक होने में उन्हें संदेह था, और उसके ऊपर जिसे उन्होंने य पढ़ा था, वह दोनों मिलकर सौँड़ का चिह्न हैं। इस सौँड़ के नीचे कोई अच्छर नहीं है। डा० स्मिथ ने इसके पिछले भाग का ऊपरी सिरा नीचे की ओर करके पढ़ा है। उस पर का सारा लेख इस प्रकार है—श्री हयनागश ३०।

१. २० के सूचक चिह्न के पहले एक खंडित अच्छर है जो संभवतः स = संवत् है।

अब हम छोटे और कम दामवाले सिक्के पर विचार करते हैं जिसका क्रमांक ७ है और जो प्लेट नं० २३ का नवाँ चित्र है। डा० स्मिथ ने इसके सामनेवाले भाग पर केवल एक अच्चर न पढ़ा था और पीछेवाले भाग पर अशोक लिपि का केवल ज पढ़ा था। जिसे वह अशोक लिपि का ज कहते हैं, वह ६ का सूचक चिह्न या अंक है और यह राज्यारोहण-संबत् है। सामनेवाले भाग का लेख स य ह पढ़ा जाता है। यह लेख उलटी तरफ से पढ़ने पर ठीक पढ़ा जाता है और सिक्के के तथा मोहरों पर के लेखों के पढ़ने का यह क्रम कोई नया नहीं है। इसे दाहिनो ओर के ह से पढ़ना शुरू करना चाहिए। वह हयस है अर्थात् हय नाग का। इसके छोटे आकार के विचार से इसका मिलान चरज के छोटे सिक्के के साथ करना चाहिए जिससे यह मेल खाता है।

चरज के छोटे सिक्के के पीछेवाले भाग पर समय या संबत् है। डा० स्मिथ ने उसे ल पढ़ा है, पर मैं कहता हूँ कि वह ३० का सूचक चिह्न या अंक है। यह सिक्का कम मूल्य का है और चरज के बड़े सिक्के के बाद बना था।

क्रमांक १२ [प्लेट २३, चित्र नं० १३]—इसके सामनेवाले भाग पर, जिसे डा० स्मिथ ने भूल से पिछला भाग समझ लिया है, (श्री) व (रु) हिन्दस लिखा है। बाईं ओर के बृत्त की पत्तियाँ मोर की दुम के साथ मिली हुई हैं; अर्थात् यदि नीचे

की और से देखा जाय तो वे वृक्ष की शाखाएँ जान पड़ती हैं; और यदि सिक्के का ऊपरी सिरा नीचे कर दिया जाय तो वही शाखाएँ मोर की दुम बन जाती हैं। यह मेरे राजा के नाम बरहिन का सूचक है। सिक्के के पिछले भाग पर भी वही वृक्ष है और कुछ लेख है जिसका कुछ अंश घिस गया है। ठिके पर जो कुछ आया है, वह मेरी समझ में ना ग स है; अर्थात् बीच का केवल ग पढ़ा जाता है और उसके पहले का न तथा बाद का स घिस गया है। जिसे डा० स्मिथ ने बज्र समझा है, वह संभवतः ७ का अंक है और यह अंक साँड़ की मूर्ति के नीचे है।

इस प्रकार हमें नव नाग और वीरसेन के बाद नीचे लिखे चार राजा मिलते हैं—हय नाग जिसने तीस वर्ष या इससे कुछ अधिक समय तक राज्य किया था। चरज नाग जिसका शासन-काल भी तीस वर्ष या इससे अधिक है; बर्हिन नाग (सात वर्ष) और त्रय नाग जिसके शासन-काल की अवधि का अभी तक पता नहीं चला है। हय नाग के सिक्के पर की लिपि सबसे अधिक प्राचीन है और बोरसेन के समय की लिपि से मेल खाती है। उसका समय वीरसेन के समय के ठीक उपरांत अर्थात् सन् २१० ई० के लगभग होना चाहिए। यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि इन सभी राजाओं के सिक्कों पर समय भी दिए हुए हैं और ताढ़ का वृक्ष भी है, और प्रो० रैप्सन के अनुसार वीरसेन के

सिक्के पर भी वही ताढ़ का बृत्त है। मैंने भी मिलाकर देखा है कि वीरसेन के शिलालेख में जो बृत्त का चिह्न है, वह भी ऐसा ही है। वह बृत्त बिलकुल वैसा ही है जैसा भार-शिवों के इन सिक्कों पर है। वीरसेन का समय तो सन् २१० ई० है ही; अब यदि हम बाद के चारों राजाओं का समय अस्सी वर्ष भी मान लें तो उनका समय लगभग सन् २१० से २८० ई० तक होता है। ऐसा जान पड़ता है कि इन चारों में से कुछ राजाओं ने अधिक दिनों तक राज्य किया था; और जिस प्रकार गुप्त सम्राटों में छोटे लड़के राज्याधिकारी हुए थे, उसी प्रकार इनमें कुछ छोटे लड़के ही सिंहासन पर बैठे होगे। वाकाटक और गुप्त वंशावलियों का ध्यान रखते हुए मैंने भव नाग का समय लगभग सन् ३०० ई० निश्चित किया है। भव नाग वास्तव में प्रबरसेन प्रथम का सम-कालीन था और प्रबरसेन प्रथम उधर समुद्रगुप्त का सम-कालीन था, यद्यपि समुद्रगुप्त के समय प्रबरसेन प्रथम की अवस्था कुछ अधिक थी। इसलिये इन राजाओं के जो समय यहाँ निश्चित किए गए हैं, वे अप्रत्यक्ष रूप से भव नाग के समय को देखते हुए भी ठोक जान पड़ते हैं।

सिक्कों पर दिए हुए लेखों और उनकी बनावट तथा उन पर की दूसरी बातों का ध्यान रखते हुए भार-शिवों या मुख्य वंश के नव नागों की सूची इस प्रकार बनाई जा सकती है।

लगभग

सन् १४०—१७० ई०	१ नव नाग	(सिक्के मिलते हैं)	२७ वर्ष या इससे अधिक समय तक शासन किया।
सन् १७०—२१० ई०	२ चौरसेन नाग	(सिक्के छोर शिला-लेख मिलते हैं)	३४ वर्ष या अधिक तक शासन किया।
सन् २१०—२४५ ई०	३ उच्च नाग	(सिक्के मिलते हैं)	३० वर्ष या अधिक तक शासन किया।
सन् २४५—२५० ई०	४ उच्च नाग	(सिक्के मिलते हैं)
सन् २५०—२६० ई०	५ बहुंन नाग	(सिक्के मिलते हैं)	५ वर्ष या अधिक तक शासन किया।
सन् २६०—२८० ई०	६ चरु नाग	(सिक्के मिलते हैं)	३० वर्ष या अधिक तक शासन किया।
सन् २८०—३१५ ई०	७ भव नाग	(शिला लेख मिलते हैं)

यह सूची पुराणों से भी ठोक ठोक मिलती है, क्योंकि उनमें कहा है कि नवनागों के सात राजाओं ने राज्य किया था^१। अब हम इस बात पर विचार करना चाहते हैं कि नव नागों की जो और शास्त्राएँ पद्धावती तथा दूसरे स्थानों में गई थीं, उनका क्या हुआ और मुख्य बंश भार-शिव के राजाओं की राजधानी कहाँ थी ।

§ २७. कुशन सन्त्राटों का शासन-काल लगभग एक सौ वर्ष है । यह बात मधुरावाले उन शिलालेखों से मालूम भारशिव कांतिपुरी होती है जो उनके राज्य-काल के स८वें और दूसरी नाम राज-वर्ष तक के मिलते हैं । कुशन राजाओं धानियाँ के शासन-काल का स८ वाँ वर्ष वासुदेव के शासन-काल में पड़ता था और इसके बाद फिर हमें वासुदेव का और कोई समय या संवत् नहीं मिलता^२ । जब भार-शिव लोग फिर से होशंगाबाद और जबलपुर के जंगलों से निकले, तब जान पड़ता है कि वे बघेलखंड होकर गंगा तक पहुँचे

१. नागा भोक्यन्ति सप्त वै । विष्णु और ब्रह्मांड पुराण ।

I. P. T., ५३ ।

२. J. B. O. R. S. १६, ३११. ल्पूडस की सूची नं० ७६, ७७. E. I. १० परिशिष्ट, पृ० ८. राजतरंगिणी (C. I. १६६-१७२) में कहा है कि काश्मीर में तुक्षकों की केवल तीन पीड़ियों ने शासन किया था; यथा हुष्क (हुष्टिक), तुष्क (वासिष्टक), और कनिष्क । इसके कम लगाने के लिये अंतिम नाम से आरंभ करके पीछे की ओर चलना चाहिए ।

थे । बघेलखंडवाली सड़क से जो यात्री गंगा की ओर चलते हैं, वे कंतित^१ के उस पुराने किले के पास आकर पहुँचते हैं जो मिरजापुर और विष्ण्याचल के कस्बों के बीच में है । जान पड़ता है कि यह कंतित वही है जिसे विष्णु की कांति-पुरी कहा गया है । इस किले के पश्चर के खंभे के एक टुकड़े पर मैंने एक बार आधुनिक देवनागरी में कांति लिखा हुआ देखा था । यह गंगा के किनारे एक बहुत बड़ा और प्रायः एक भील लंबा मिट्टी का किला है जिसमें एक बड़ी सीढ़ीनुमा दीवार है और जिसमें कई जगह गुप्त काल की बनी पश्चर की मूर्तियाँ^२ या उनके टुकड़े आदि पाए जाते हैं । यह किला आज-कल कंतित के राजाओं की जर्मांदारी में है जो कन्नीज और बनारस के गाहड़वाल राजाओं के वंशज हैं । मुसलमानों के समय में यह किला नष्ट कर दिया गया था और तब यहाँ के राजा उठकर पास की पहाड़ियों के विजयगढ़ और माँडा नामक स्थानों में चले गए थे जहाँ अब तक दो शाखाएँ रहती हैं । कंतित के लोग कहा करते हैं कि गहरवारों से पहले यह किला भर राजाओं का था ।

१. मुसलमानी काल के कंतित का हाल जानने के लिये देखो A. S. I. २१; पृ० १०८ की पाद-टिप्पणी ।

२. यहाँ प्रायः सात फुट लंबी सूर्य की एक मूर्ति है जो स्पष्ट रूप से गुप्त काल की जान पड़ती है । आज-कल यह किले के फाटक के रक्कक भैरव के रूप में पूजी जाती है ।

ऐसा जान पड़ता है कि यह भर शब्द उसी भार-शिव शब्द का अपभ्रंश है और इसका मतलब उस भर जाति से नहीं है जिसके मिरजापुर और विंध्याचल में शासन होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता । यही बात भर देउल^१ के संबंध में भी कही जाती है जो किसी समय शिव का एक बहुत बड़ा मंदिर था जिसमें बहुत से नाग (सर्प) राजाओं की मूर्तियाँ हैं । यह मंदिर विंध्य की पहाड़ी पर इलाहाबाद से पश्चिम और दक्षिण-पश्चिम प्रायः पचीस मील की दूरी पर मौघाट नामक स्थान में था । यह स्थान भरहुत^२ नामक प्रांत में है जो भारभुक्ति का अपभ्रंश है और जिसका अर्थ है—भारों का प्रांत । आज-कल इस देश में भर नाम के जो आदिम निवासी बसते हैं, उनके संबंध में इस बात का कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता कि मिरजापुर या इलाहाबाद के जिले में अथवा इनके आस-पास के स्थानों में ऐतिहासिक काल में कभी उनका शासन था । यदि यह मान लिया जाय कि यह दंत-कथा भार-शिव राजवंश के संबंध में है तो इसका सारा अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है । भर देउल की

१. A. S. R. संड २१, प्लेट ३ और ४ जिनका वर्णन पृ० ४—७ पर है ।

२. मैंने लोगों को भारहुत और भरहुत कहते हुए भी सुना है । मूलतः यह शब्द भारभुक्ति रहा होगा जिसका अर्थ है—भार प्रांत या भारों का प्रांत ।

वास्तु-कला और मूर्तियों आदि का संबंध मुख्यतः नागों से है; और किट्टो (Kittoe) ने लिखा है कि उसके समय यह करकोट नाग का मंदिर कहलाता था। और इन दोनों बातों से हमारे इस मत का समर्थन होता है कि इसमें का यह भर शब्द भार-शिव के लिये है। नागीढ़^१ और नागदेव इन दोनों स्थान-नामों से यह सूचित होता है कि इन पर किसी समय बघेलखंड के नाग राजाओं का अधिकार था; और इसी प्रकार भारहुत और संभवतः भर देउल^२ नामों से भी यही सूचित होता है कि ये भार-शिव राजाओं से संबंध रखते हैं।

१. मैं तीन बार इस कस्बे से होकर गुजरा हूँ। यह नागीढ़ और नागीद कहलाता है। नागीढ़ शब्द का अर्थ^३ हो सकता है—नागों की अवधि या सीमा। मत्स्य पुराणा ११३-१० में यह 'अवधि' शब्द इसी सीमा के अर्थ^४ में प्रयुक्त हुआ है।

२. इस मंदिर की छृत चिपटी या और इसके बरामदे पर ढालुएं पत्थर लगे थे। पहले इस पर नुकीली दीवारों या ब्रैकेट या जो ढूट गया था और फिर से बनाकर ढीक किया गया है। कनिष्ठम ने इसका जो चित्र दिया है, वह फिर से बने हुए ब्रैकेट का है। इस प्रकार के ब्रैकेट मध्य युग की वास्तुकला में प्रायः सभी जगह पाए जाते हैं; पर निश्चित रूप से कोई यह नहीं कह सकता कि कितने प्राचीन काल से इसकी प्रथा चली आती थी। वहाँ जो बड़ी बड़ी ईंटें तथा इसी प्रकार की और कई चीजें पाई जाती हैं, वे अवश्य ही बहुत पहले की हैं।

कंतितः है भी ऐसे स्थान पर वसा हुआ कि भार-शिवों के इतिहास के साथ उसका संबंध बहुत ही उपयुक्त रूप से बैठ जाता है; क्योंकि भार-शिव राजा वधेलखंड से चलकर गंगा-तट पर पहुँचे थे। विष्णुपुराण में कहा है—

नव-नागा पद्मावत्यां कांतिपुर्याम् मथुरायां ।

इस संबंध में एक यह बात भी महत्त्व की है कि अन्यान्य पुराणों में कांतिपुरी का नाम नहीं दिया है। इसका कारण यही हो सकता है कि भव नाग का बंश जाकर वाकाटक बंश में मिल गया था। पुराणों में भार-शिवों को नव नाग कहा है। पहले विदिशा में जो नाग हुए थे, वे अर्थात् शेष से बंगर तक नाग राजा आरंभिक नाग हैं। पर भूतनंदी के समय से, जब कि नाम के अंत में नंदी (वृष) शब्द लगने लगा तब अथवा जब सन् १५०-१७० ई० के लगभग उनका फिर से उत्थान हुआ, तब से वे लोग निश्चित रूप से भार-शिव कहलाने लगे। राजा नव और उसके उत्तराधिकारियों के सिक्कों में नागों के आरंभिक सिक्कों से मुख्य अंतर यही है कि उनमें आरंभिक सिक्कों का दात शब्द नहीं पाया जाता और उसके स्थान पर नाग शब्द का प्रयोग मिलता

१. यूल का मत है कि टालेमो ने जिसे किडिया कहा है, वह आजकल का मिरजापुर ही है। देखो मैक्किडल का Ptolemy, पृ० १३४।

है। भागवत में नव नागों का उल्लेख नहीं है और केवल भूतनंदी से प्रवीरक तक का ही वर्णन है। अतः भागवत के कर्ता के अनुसार भूतनंदी के बंश और प्रवीरक के शासन में ही नव नागों का अंतर्भव हो जाता है। प्रवीर प्रबरसेन वास्तव में शिशु रुद्रसेन का संरक्षक या अभिभावक था और दूसरे पुराणों के अनुसार ये दोनों मिलकर शासन करते थे। विष्णु पुराण में, जिसके कर्ता के पास कुछ ऐसी सामग्री थी जिसका उपयोग और लोगों ने नहीं किया था, राजधानियों का क्रम इस प्रकार दिया है—पद्मावती, कांतिपुरी और मथुरा। संभवतः इसका अर्थ यही है कि नागों की राजधानी पहले पद्मावती में थी, फिर वहाँ से उठकर कांतिपुरी और वहाँ से मथुरा गई। आज-कल इस विषय में जो बातें ज्ञात हैं, उनसे भी इस मत का समर्थन होता है। भूतनंदी के बंशज राजा शिवनंदी के समय तक और उसके बाद प्रायः आधी शताब्दी तक राजधानी पद्मावती में रही। इसके उपरात पद्मावती कुशन चत्रपों की राजधानी हो गई (§§ ३३, ३४)। कुशन साम्राज्य के अंतिम काल में, अर्धांत सन् १५० ई० के लगभग, भार-शिव लोग गंगा नदी के तट पर कांतिपुरी में पहुँचे। काशी में या उसके आस-पास उन लोगों ने अश्वमेघ यज्ञ^१ किए और वहाँ उन लोगों के राज्याभिषेक हुए। काशी के पास

१. जान पड़ता है कि संभवतः अश्वमेघ यज्ञ कर चुकने के उपरांत जो बचा पैदा हुआ था, उसका नाम हय नाग रखा गया था।

का नगवा नामक स्थान, जहाँ आज-कल हिंदू-विश्वविद्यालय है, उनके नाम से संबद्ध जान पड़ता है। कांतिपुरी से वे लोग पश्चिम की ओर बढ़े और वीरसेन के समय में, जिसने बहुत अधिक संख्या में सिक्के चलाए थे और जिसके सिक्के अद्विच्छिन्नत्र के पूर्व से मशुरा तक पाए जाते हैं, उन्होंने फिर पद्मावती और मशुरा पर अधिकार प्राप्त कर लिया था। पद्मावतीवाले सिक्कों में से जो आरंभिक सिक्के हैं और जिन पर विं तथा व (') अच्चर अंकित हैं, वे वीरसेन के हैं। इन दोनों सिक्कों पर पीछे की ओर जो मोर बना है, वह वीरसेन का प्रसिद्ध चिह्न है; और यह वीरसेन भी महासेन ही जान पड़ता है जिसका अर्थ है—देवताओं का सेनापति। फिर भीम नाग और स्कंद नाग ने भी अपने सिक्कों पर मोर की मूर्ति रखी हैं जिससे जान पड़ता है कि इन दोनों राजाओंने भी वीरसेन का ही अनु-

१. कनिष्ठम ने इसे ख पढ़ा है, पर मैं इसे वि मानता हूँ; क्योंकि इसकी पाई ऊपर की ओर मुड़ी हुई है और इकार की मात्रा जान पड़ती है। मैं इन्हें उन्हीं सिक्कों के बर्ग में मानता हूँ जिन पर महाराज व लिखा है, क्योंकि इन दोनों ही प्रकार के सिक्कों का पिछला भाग और उन पर के अच्चर आदि समान ही है। (देखिए कनिष्ठम कृत Coins of Mediaeval India प्लेट २, नं० १३ और १४।)

२. कनिष्ठम कृत Coins of Mediaeval India प्लेट २, नं० १५ और १६; पृ० २३०.

करण किया था । यद्यपि स्कंद के साथ तो मोर का संबंध है, पर भीम के साथ उसका कोई संबंध नहीं है । वोरसेन मथुरा तक, बल्कि उससे भी और आगे इंदौरखेड़ा तक पहुँच गया था, क्योंकि वहाँ भी उसके बहुत से सिक्के जमीन में से खोदकर निकाले गए हैं । जिससे सूचित होता है कि बुंदेलखंड के जिस पश्चिमी भाग पर प्रायः सौ वर्ष पहले नागों को हटाकर कुशनों ने अधिकार कर लिया था, उस पश्चिमी बुंदेलखंड पर भी वीरसेन ने फिर से नाग-वंश का राज्य स्थापित करके उसे अपने अधिकार में कर लिया था ।

§ २८. पुराणों में जो ‘‘नव-नाग’’ पद का प्रयोग किया गया है, वह समझ-बूझकर किया गया है; क्योंकि यदि नव नाग वे उन्हें भार-शिव कहते अथवा स्वयं अपने रखे हुए वैदिशक अथवा चृष्ट नाग आदि नामों से अभिहित करते तो यह पता न चलता कि ये नागों के ही अंतर्गत थे और इन्होंने फिर से अपना नवीन राजवंश चलाया था; और न यही पता चलता कि बीच में कुशनों का राज्य स्थापित हो जाने के कारण इस वंश की शृंखला बीच से टूट गई थी; और उस दशा में व्यर्थ ही एक गढ़वड़ी खड़ी हो जाती । विंध्य का अर्थात् वाकाटकों के साम्राज्य का वर्णन करने के उपरांत पुराणों में इस प्रकरण का अंत कर दिया गया है और गुप्तों के राजवंश तथा उनके

साम्राज्य का वर्णन आरंभ करने से पहले नव नागों का इति-
हास समाप्त कर दिया गया है। ऐसा करने का कारण
यह था कि शिशुक रुद्रसेन की स्थिति कुछ विलच्छा थी। वह
यद्यपि प्रवरसेन वाकाटक का पोता था, तो भी वह भार-
शिवों के दैहित्र के रूप में सिंहासन पर बैठा था। इस बात
का इतना अधिक महत्व माना गया था कि बालाघाट में
वाकाटकों के जो ताल्लुख आदि मिले हैं, उनमें वह केवल
भार-शिव महाराज ही कहा गया है और यह नहीं कहा गया
है कि वह वाकाटक भी था^१। और जैसा कि हम आगे
चलकर (माग २, § ६४) बतलावेंगे, युद्ध-चेत्र में समुद्रगुप्त द्वारा
मारा जानेवाला रुद्रसेन था जिसका उल्लेख रुद्रदेव के रूप में
आया है। यहाँ 'देव' शब्द का अर्थ महाराज है। इस प्रकार
नागों का वंश वाकाटकों के युग में समुद्रगुप्त के समय तक
चलता रहा। पुराणों में साफ साफ यह भी बतला दिया
गया है कि नाग वंश में नव नागों का कौन सा स्थान था; और
यह भी बतला दिया गया है कि उनके राज्य की सीमा कहाँ

१. यदि कानून या धर्मशास्त्र को दृष्टि से देखा जाय तो रुद्रसेन
प्रथम (पुनिकापुत्र) के राज्यारोहण के कारण मानो भार-शिव राज-
वंश ने वाकाटकों को दबाकर उनका स्थान ले लिया था; और इस
विचार से यही माना जायगा कि प्रवरसेन प्रथम की मृत्यु के साथ
ही साथ वाकाटक राजवंश और उसके साम्राज्य तथा शासन का
भी अंत हो गया।

तक थी । पुराणों में नव नागों को वि (न) वस्फाणि और मगध के गुप्तों के बीच में स्थान दिया गया है । यह वि (न) वस्फाणि क्रुशनों का स्त्रपथ था जो मगध और पद्मावती में शासन करता था । मगध के गुप्तों के संबंध में विष्णुपुराण में कहा गया है कि उनका उत्थान नव नागों के शासन-काल में हुआ था । यह बात मगध के इतिहास के बीच में जोड़ दी गई है और बाकाटक सम्राटों के इतिहास के बाद मगध के इतिहास का एक नया प्रकरण आरंभ किया गया है । नव नागों का राज्य केवल संयुक्त प्रांत में ही नहीं था, बल्कि पूर्वी और पश्चिमी विहार में भी था, क्योंकि वायु तथा ब्रह्मांड पुराण की सभी प्रतियों में कहा गया है कि उनकी राजधानी मथुरा में भी थी और चंपा^१ (चंपावती-भागलपुर) में भी । जैसा कि हम आगे चलकर तीसरे भाग में बतलावेंगे, गुप्तों ने चंपा में अपना एक अलग राज्य स्थापित किया था, और पुराणों में जहाँ गुप्त साम्राज्य-प्रणाली का वर्णन किया गया है, वहाँ इस बात का विशेष रूप से उल्लेख किया गया

१. चंपा नाम की केवल दो ही नगरियाँ थीं—एक तो आज में जो आज-कल चंपानगर कहलाता है और जो भागलपुर से प्रायः पाँच मील की दूरी पर है । यह एक पुराना कस्ता था जिसमें वासुपूज्य के जैन मंदिर थे । इस वासुपूज्य का जन्म और मृत्यु चंपा में ही हुई थी । और दूसरा आज-कल की चंपा पहाड़ियों में एक कस्ता था ।

है। वहाँ भार-शिव वाकाटक राज्य को हटाकर गुप्त सम्राट् अपना राज्य स्थापित कर रहा था।

१. वाकाटक साम्राज्य और गुप्त साम्राज्य के संबंध में पुराणों में बहुत अधिक बातें आई हैं। जान पड़ता है कि उस समय की घटनाओं आदि का काल-क्रम से जो लेखा तैयार हुआ था, वह वाकाटक देश में और वाकाटक राजकर्मचारियों द्वारा हुआ था; क्योंकि वही और उन्हीं लोगों को दोनों के संबंध की सभी बातें व्योरेवार और सहज में मिल सकती थीं। पुराणों में आंश्रो के करद राज्यों का उल्लेख करके (देखो आगे चौथा भाग) आंश्रो की साम्राज्य-प्रणाली का भी कुछ वर्णन करने का प्रयत्न किया गया है, पर वह वर्णन उतना विवरणात्मक नहीं है। किंतु वाकाटकों का इतिहास देते समय पुराणों ने उनके आरंभिक इतिहास तक का उल्लेख किया है और यह बतलाया है कि नागों का साम्राज्य किस प्रकार वाकाटकों के साम्राज्य में सम्मिलित हो गया था। उधर आंश्रो के इतिहास में भी पुराणों में उनके मूल से लेकर वर्णन आरंभ किया गया है और उनके सम्माट पद पर आरूढ़ होने से लेकर मगध के राजसिंहासन तक का वर्णन किया गया है। इस प्रकार पुराणों में किसी राजवंश का इतिहास लिखते समय आलोचनात्मक हृषि से उनके मूल तक का वर्णन किया गया है और सम्माटों के वंशों का आरंभिक इतिहास तक दिया गया है। आंश्रो, विष्वको और नागों के संबंध में उन्होंने इसी प्रकार मूल से आरंभ करके उनका इतिहास दिया है; और यदि पुराणों के कच्चा गुप्तों का भी पूरा इतिहास देने पाते तो वे उनके संबंध में भी ऐसा ही करते। तो भी विष्णुपुराण (देखो आगे तीसरा भाग, § १२२) में गुप्तों का आरंभिक इतिहास देने का भी प्रयत्न किया गया है।

§ २८. नागों की शासन-प्रणाली संघात्मक थी जिसमें नीचे लिखे राज्य सम्मिलित थे—(१) नागों के तीन मुख्य राजवंश, जिनमें से एक वंश भार-शिवों नागों की शासन-प्रणाली का था जो साम्राज्य के नेता और सम्राट् थे और जिनके अधीन प्रतिनिधि-स्वरूप शासन करनेवाले और भी कई वंश थे। और (२) कई प्रजातंत्री राज्य भी उस संघ में सम्मिलित थे। पद्मावती और मथुरा भार-शिवों के द्वारा स्थापित दो शाखाएँ थीं और इन दोनों राजवंशों की दो अलग अलग उपाधियाँ थीं। पद्मावतीवाला राजवंश टाक-वंश कहलाता था। यह नाम भाव-शतक में आया है जो गणपति नाग को समर्पित किया गया था (§ ३१)। मथुरावाला वंश बदुवंश कहलाता था; और यह नाम कौमुदीमहोत्सव नामक नाटक में आया है और इसका रचना-काल भी वही है जो भावशतक का है। इन दोनों नामों से नव नागों के मूल का भी पता चल जाता है। ये लोग यादव थे और टक्क देश। पंजाब से आए थे। मथुरावाले वंश ने कभी अपने सिक्के नहीं बनाए थे। परंतु पद्मावती में शासन

१. टक्कों और टक्क देश के संबंध में देखें कनिंघम A. S. R. खंड २, पृ० ६; और उस देश में यादवों के निवास के संबंध में देखें उसी ग्रंथ का पृ० १४। हेमचंद्र ने अपने अभिधान-चितामणि (४. २५.) में वाहीक को ही टक्क कहा है।

करनेवाले राजवंश ने आदि से अंत तक बराबर अपने सिक्के चलाए थे। इससे सिद्ध होता है कि उनका राजवंश स्वतंत्र था और भार-शिवों के अधीन वे उसी प्रकार थे, जिस प्रकार कोई राज्य किसी साम्राज्य में होता है। ऐसा जान पड़ता है कि मथुरा में राज्य करनेवाला वंश और वह वंश जिसमें नागदत्त (लाहौरवाली मोहर के महाराज महेश्वर नाग का पिता) हुआ था और जिसका राज्य अंबाले जिले के कहाँ आस-पास संभवतः ब्रुग्र नाम की पुरानी राजधानी में था, प्रत्यक्ष रूप से भार-शिवों के ही अधीन और शासन में था। बुलंदशहर जिले के इंद्रपुर (इंदौरखेड़ा) में या उसके आस-पास भी एक और वंश राज्य करता था। बुलंदशहर में मत्तिल की मोहर पाई गई थी जिसपर एक नाग चिह्न (शंखपाल)^१ अंकित था और जिस पर राजन् उपाधि नहीं थी। ग्राउज और फ्लीट ने सिद्ध किया है कि समुद्रगुप्त के शिलालेख में जिस मत्तिल का उल्लेख है, वह यही मत्तिल है^२। यह प्रांत अंतर्वेदी गंगा और यमुना के बीच के प्रदेश का पश्चिमी भाग कहा गया है, जहाँ एक अलग गवर्नर

१. देखा गुप्त इतिहास के संबंध में तीसरा भाग § १४०; और Indian Antiquary भाग १८, पृ० २८८ प्लेट, जहाँ एक शंख और एक सर्प का आकार बना है। सर्प के शरीर से प्रकाश निकलकर चारों ओर फैला रहा है।

२. Indian Antiquary भाग १८, पृ० २८९।

या शासक राज्य करता था; और इस बात का उल्लेख इंदौर के ताम्रलेखों में है जो सर्व नाग नाम के एक नाग शासक ने, जो समुद्रगुप्त का गवर्नर था, लिखवाए थे । नाग-दत्त, नागसेन या मतिल अथवा उनके पूर्वजों ने अपने सिक्के नहीं चलाए थे और न भार-शिवों के समय में अहिच्छत्र के किसी और गवर्नर या शासक ने ही अपने सिक्के चलाए थे । अहिच्छत्र के अच्युत नामक एक शासक ने ही पहले पहल अपने सिक्के चलाए थे । सिक्कों पर तो उसका नाम अच्युत है और समुद्रगुप्त के शिलालेख में उसे अच्युतनंदी कहा गया है । पर उस समय वह वाकाटकों के अधोन था, जिससे यह सूचित होता है कि वाकाटकों ने कदाचित् लिच्छवियों और गुप्तों के मुकाबले में वहाँ कोशल (अवध प्रांत) के पास ही अपने एक करद राजवंश को प्रतिष्ठित कर दिया था । जहाँ तक भार-शिव राज्य का संबंध है, हमें राज्य के केवल दो ही प्रधान केंद्र मिलते हैं—एक कांतिपुरी और दूसरा पद्मावती । वायु और ब्रह्मांड पुराण^१ में चंपावती (भागलपुर) में भी एक केंद्र होने का उल्लेख है, पर जान पड़ता है कि वहाँ का केंद्र अधोनस्थ था, क्योंकि चंपावती के सिक्के नहीं मिलते । जैसा कि हम आगे चलकर बतलावेंगे

१. G. I. पृ० ६८ ।

२. नव नाकास् (नागास्) तु भोदयन्ति पुरीम् चम्पावतीं दृपाः ।
T. P. पृ० ५३ ।

(§१३२, १४०), समुद्रगुप्त के शिलालेख में आर्यावर्त के शासक दो भागों में विभक्त किए गए हैं । एक वर्ग या भाग का आरंभ गणपति नाग से होता है । इस वर्ग में वे राजा आए हैं, जो समुद्रगुप्त के प्रथम आर्यावर्त युद्ध में मारे गए थे; और दूसरा वर्ग उन राजाओं का है जिन पर दूसरे युद्ध के समय अथवा उसके बाद आक्रमण हुआ था और जो रुद्रदेव अर्थात् रुद्रसेन वाकाटक से आरंभ करके स्थान-क्रम या देश-क्रम से गिनाए गए हैं । प्रथम वर्ग में सबसे पहले गणपति नाग का नाम आया है । वाकाटकों के समय में वह नाग शासकों में सर्व-प्रधान था; और इस बात का समर्थन भाव-शतक से भी होता है (§३१) । मालवे और राजपूताने के प्रजातंत्र और संभवतः पंजाब का कुणिंदों का प्रजातंत्र भी, जिन्होंने भार-शिवों के समय में अपने अपने सिक्के चलाए थे, इस भार-शिव राज्य-संघ के स्वराज्यभेगी सदस्य थे (§४३) ।

§ २८ क. पुराणों में कहा है कि पद्मावती और मशुरा के नागों की, अथवा यदि विष्णु पुराण का मत लिया जाय तो पद्मावती, कांतिपुरी और मशुरा के नागों की, सात पीढ़ियों ने राज्य किया था (देखो ऊपर पृ० ५८) । सिक्कों और शिलालेखों के आधार पर नीचे जो कोष्ठक दिया जाता है, उससे यह मत पूर्ण रूप से सिद्ध हो जाता है ।

भार-शिव; कौतिपुरी में उत्थान लगभग सम् १४० इ०

नव नाग (सिक्के पर २७वाँ वर्ष)	...	नव नाग चंशा (भार-शिव) का
(लगभग सम् १४०-१५० इ०)	...	संस्थापक
बीरसेन (सिक्के पर ३४वाँ वर्ष)	...	मथुरा और पद्मावती की
(लगभग सम् १७०-२१० इ०)	...	शाखाओं का संस्थापक

पद्मावती	कौतिपुरी	मथुरा
(दाक चंशा)	(भार-शिव चंशा)	(यहु चंशा)
लगभग सम् २१०-२३० इ०	लगभग सम् २१०-२४५ इ०	नाम अज्ञात
भीम नाग	(हय नाग सिक्के पर ३०वाँ वर्ष)	
लगभग सम् २३०-२५० इ०	लगभग सम् २४५-२५० इ०	नाम अज्ञात
स्कंद नाग	वय नाग	
लगभग सम् २५०-२७० इ०	लगभग सम् २५०-२६० इ०	नाम अज्ञात
हुहस्पति नाग	बहिर्न नाग (सिक्के पर ७वाँ वर्ष)	

बाकाटकों के प्रभुत्व का आरंभ लगभग सन् २८४ है ।

लगभग सन् २७०-२८० है । लगभग सन् २६०-२९० है । चरज
व्याध नाग ।

नाग (सिंहके पर ३०वाँ वर्ष)

लगभग सन् २६०-३१० है । लगभग सन् २५०-३१५ है ।

देव नाग
भव नाग

लगभग सन् ३१०-३४४ है । [लगभग सन् ३१५-३४४ है ।
गणपति नाग

रुद्रसेन पुरिका में]

प्रतिनिधि या गवर्नर के रूप में शासन करनेवाले नाग चंय
चंहिरक्ख चंय

चंतवंदी चंय जिसकी राजधानी

(?)

श्रुत (?) चंय

संभवतः इंद्रपुर (इंद्रेतरखेड़ा) में थी ।

सन् ३२४-३४४ है । लगभग सन् ३२८-३४८ है ।

चंचुत नंदी

मतिल

नागदत्त

सन् ३४८-३६८ है ।

महाराज महेश्वर नाग

लगभग सन् ३१५-३५० है ।
कीर्तिषेण

लगभग सन् ३४०-३४४ है ।
नागसेन

लगभग सन् ३४०-३६८ है ।
नागदत्त

लगभग सन् ३४८-३६८ है ।
महाराज महेश्वर नाग

^१. कनिष्ठम ने केवल व्याघ...ही पढ़ा था; पर एकें (C.M.I. कोट २, चित्रनं० २२) में व्याघ नाग लिखा गिलता है ।

पद्मावती के राजाओं के राज्यारोहण का जो क्रम मैंने ऊपर दिया है, उसके कारण ये हैं। गणपति नाग अंतिम राजा था; और समुद्रगुप्त का समय हमें ज्ञात है, इससे हमें गणपति नाग के समय का भी ठीक ठीक पता लग जाता है। उसके हजारों ही सिक्के मिलते हैं। बल्कि सच तो यह है कि जितने अधिक सिक्के गणपति नाग के मिलते हैं, उतने अधिक सिक्के हिंदू काल के और किसी राजा के नहीं मिलते हैं। इसलिये हमें यही कहना पड़ता है कि उसने बहुत अधिक समय तक राज्य किया था। फिर उसके सिक्के भी कई प्रकार के हैं। मैंने प्रायः आठ प्रकार के सिक्के गिने हैं। इसलिये मैं कहता हूँ कि उसने पैंतीस वर्षों तक राज्य किया था। भीम नाग के सिक्के ठीक बीरसेन के बाद के हैं और स्कंद नाग के सिक्के भीम नाग के ठीक बाद के हैं। जान पड़ता है कि गणपति नाग से ठीक पहले देव नाग हुआ था, क्योंकि दोनों ही समय समय पर अपने नामों के साथ “इंद्र” शब्द का प्रयोग करते हैं, जैसे देवेंद्र; गणेंद्र (A. S. R १८१५-१६, पृ० १०५)। इहस्पति नाग और व्याघ्र नाग में से देव नाग से ठीक पहले व्याघ्र नाग हुआ था, क्योंकि इन दोनों के सिक्कों पर बाकाटक सम्राटों का चक्र-चिह्न है (देखो १६१ क और १०२^३)।

१. साथ ही देखो अंत में दुरेहा स्तंभ के संबंध में परिशिष्ट।

मथुरावाले वंश में का अंतिम नाम 'नागसेन' उस उल्लेख से लिया गया है जो समुद्रगुप्त की विजयों से संबंध रखता है। समुद्रगुप्त के शिलालेख के अनुसार, जिसका विवेचन आगे तीसरे भाग में किया गया है, नागसेन की राजधानी निश्चित रूप से मथुरा ही जान पड़ती है। कौमुदो-महोत्सव में कहा गया है कि कीर्तिष्ण सुंदर वर्मन् का मित्र और कल्याण वर्मन् का ससुर था। यह कल्याण वर्मन् उक्त सुंदर वर्मन् का पुत्र था और इसी ने पाटलिपुत्र पर से चंद्रगुप्त का अधिकार हटाया था। तीसरे भाग में गुप्तों के इतिहास के अंतर्गत इसके समय का विवेचन किया गया है (§ १३३)। उस समय के आधार पर ही कहा गया है कि नागसेन ने केवल चार वर्षों तक और कीर्तिष्ण ने लगभग सन् ३१५ से ३४० ई० तक राज्य किया था। सात पीढ़ियाँ पूरी करने के लिये मथुरा में बोरसेन के बाद तीन और राजा भी हुए ही होंगे। हर्षचरित में का नागसेन मथुरा में नहीं बल्कि पद्मावती में राज्य करता था और वह संभवतः गुप्तों के अधीन रहा होगा। उसके पद्मावती के सिक्के नहीं मिलते।

अहिच्छव्य वंश के शासन-चेत्र का पता एक तो अच्युत के सिक्कों से लगता है और दूसरे समुद्रगुप्त के शिलालेख में आए हुए उसके अच्युत के नाम से लगता है। इस लेख का विवेचन आगे तीसरे भाग में किया गया है। उसके सिक्कों पर भी साम्राज्य संबंधी वही चक्र-चिह्न है (C. I. M. प्लेट २२, ८)

जो पद्मावती के देवसेन के सिक्के पर है (C. I. M. प्लेट २, २४)। स्कंदगुप्त के शासन-काल के जो ताम्रलेख इंदौरखेड़ा में मिले हैं और जो अंतर्वेदी के गवर्नर या विषयपति सर्व नाग के खुदवाए हुए हैं (G. I. पृ० ७०), उनके आधार पर मेरा मत है कि अहिच्छत्र वंश का शासन अंतर्वेदी प्रांत में था। मैं यह भी समझता हूँ कि उनकी राजधानी इंद्रपुर (इंदौर-खेड़ा) में थी, क्योंकि ब्रह्मांड पुराण में उनकी राजधानी सुरपुर में बतलाई गई है जो इंद्रपुर भी हो सकता है। इसके अतिरिक्त जिस इंदौरखेड़ा नामक स्थान में ये ताम्रलेख पाए गए हैं, वह स्थान भी बहुत प्राचीन है; और इसी लिये इस बात की बहुत अधिक संभावना है कि उक्त वंश की राजधानी वहाँ रही होगी। बहुत कुछ संभावना इसी बात की है कि सर्व नाग भी मतिल का एक वंशज था, जिसके संबंध में मैंने आगे तीसरे भाग में विवेचन किया है (§ १४०)। उसका राजनगर अंबाले जिले में अन्न नामक स्थान में या उसके कहाँ आस-पास ही रहा होगा। उसके लड़के की मोहर लाहौर में पाई गई है (G. I. पृ० २८२) जो अपने समय में गुप्तों के अधीनस्थ और करद राजा अथवा नौकर की भाँति शासन करता रहा होगा। बायु और ब्रह्मांड पुराण में यह तो कहा गया है कि चंपावती भी एक राजधानी थी, पर वहाँ के शासकों के नामों का अभी तक पता नहीं चला है।

₹ ३०, हम यहाँ भार-शिव राजाओं के सिक्कों का विवेचन कर रहे हैं, इसलिये हम एक ऐसे सिक्के पर भी कुछ विचार प्रवरसेन का सिक्का जो कर लेना चाहते हैं जो वीरसेन का वीरसेन का माना गया है माना गया है, पर जो मेरी समझ में बाकाटक सिक्का है और प्रवरसेन प्रथम का है। यह सिक्का भी उसी वर्ग में है जिस वर्ग के सिक्कों का हम विवेचन करते चले आ रहे हैं। यह सिक्का प्राचीन सनातनी हिंदू धंग का है। इसकी लिपि तो कुशनों के बाद की है और धंग या शैली गुम्फों से पहले की है। डा० विंसेंट स्मिथ ने इंडियन म्यूजियम के सिक्कों की सूची (Coins of Indian Museum) के प्लेट नं० २२ पर चित्र नं० १५ में यह सिक्का दिखलाया है। इस पर की लिपि को उन्होंने व (१) रसेनस पढ़ा है। इसमें की १ वाली मात्रा को वे संदिग्ध समझते हैं और यद्यपि वे इसे वीरसेन का ही मानते हैं, पर फिर भी कहते हैं कि यह वीरसेन के आरंभिक सिक्कों के बाद का है^१। समय के विचार से उन्होंने इन दोनों सिक्कों में जो अंतर समझा है और जो यह निर्णय किया है कि यह किसी दूसरे और बाद के राजा का सिक्का है, वह तो ठीक है, परंतु उस पर के नाम को वीरसेन पढ़ने में उन्होंने भूल की है। इस सिक्के पर के लेख का मैं प्रवरसेनस (स्य) मानता हूँ और सिक्के में बाईं

१. देखो इस ग्रंथ में दिया हुआ तीसरा प्लेट।

२. C. I. M. पृ० १६२ और पृ० १६७ की दूसरी पाद-टिप्पणी।

ओर नीचेवाले कोने में लेख का जो पहला अचर है, उसे 'प्र' पढ़ता हूँ। नाम के नीचे मैं ७६ (७०, ६) भी पढ़ता हूँ। सिक्के पर सामने की ओर एक बैठो हुई खी की मूर्ति है जिसके दाहिने हाथ में एक घड़ा है, जिससे सूचित होता है कि यह गंगा की मूर्ति है (देखो १७)^१ । नीचे की ओर दाहिने कोने पर वाकाटक चक्र भी है जो हमें नचना और जासो में भी मिलता है (देखो अंतिम परिशिष्ट) ।

§ ३१. गणपति नाग के बंश के इतिहास का पता मिथिला के एक ऐसे हस्तलिखित काव्य की प्रति से चला है भाव-शतक और नागों जो स्वयं गणपति नाग के ही शासन-का मूल निवास-स्थान काल में लिखा गया था और उसी को समर्पित हुआ था । उसमें कवि कहता है कि नाग राजा^२ वाक् (सरस्वती) और पद्मालया (पद्मावती) देवों से ही शृंगरित या सुशोभित है और पद्म में उसने उसका नाम गजबक्तृश्री (गज या हाथी के मुखवाले राजा) नाग^३ दिया है । एक और

१. इस मूर्ति के सिर पर ऐसा मुकुट नहीं है जिसमें से प्रकाश की किरणें चारों ओर निकलकर फैल रही हैं, जैसा कि C. I. M. पृ० १६७ में कहा गया है, यद्किं वह छुत्र है जो सिंहासन में लगा हुआ है । साथ ही आगे वाकाटक सिक्कों के संबंध में देखो § ६१ ।

२-३. जायसवाल कृत Catalogue of Mithila MSS दूसरा खंड, पृ० १०५ ।

नागराज समं [शत] ग्रंथं नागराजेन तन्वता ।

अकारि गजबक्त्र-शीनागराजो गिरां गुरुः ॥

पद्य में वह कहता है कि गणपति को देखकर और सब नाग भयभीत हो जाते हैं^१ । यह राजा धारा पश्चिमी मालवा का स्वामी या अधीश्वर कहा गया है^२ । उसके बंश का नाम टाक कहा गया है और उसका गोत्र कर्णटी बतलाया गया है । न तो उसका पिता जालप ही और न उसका प्रपिता विद्याधर ही राजा था । इससे यह जान पड़ता है कि वह किसी राजा का सगोत्र और बहुत निकट संबंधी होने के कारण सिंहासन पर बैठा था । इस ग्रंथ का नाम भावशतक है जिसमें सौ से कुछ अधिक छंद हैं जिनमें से ८५ छंदों में प्रायः भावों का ही विवेचन है । प्रत्येक छंद स्वतः पूर्ण है और उसमें कवित्व का एक ही विचार या भाव उसी प्रकार आया है, जिस प्रकार अमरु में है । बहुत से छंद शिवजी की प्रशंसा में हैं जो कवि के आश्रयदाता का इष्ट देवता है । कवि ने अपने आश्रयदाता का स्वभाव उम्र और कठोर बतलाया है और कहा है कि सुंदरी स्त्रियों में उसका मन नहीं रमता और वह स्वभाव से ही युद्धप्रिय और भारी योद्धा है । यह ग्रंथ काव्यमाला नामक संस्कृत पुस्तकमाला के सन् १८८८ बाले चौथे खंड में पृ० ३७ से ५२ तक छपा है^३ । परंतु

१-२. पञ्चगपतयः सर्वे वीक्षते गणपति भीताः (८०) । धारा-
धीशः (८२) ।

३. गणपति नाग के चरित्र और स्वभाव आदि के संबंध में देखा छंद सं० ७६, ८६ और ८२ आदि । साथ ही काव्यमालावाली प्रति

काव्यमालावाली प्रति के दूसरे श्लोक में राजा का नाम इस प्रकार गलत दिया गया है—गतवक्त्रश्रीनार्गिराजः^१ । पर मिथिलावाली हस्तलिखित प्रति में वह नाम इस प्रकार दिया है—गजवक्त्रश्रीनार्गिराजः अर्थात् श्री गणपति नागराज़; और इसी से मुझे यह पता चला कि यह उल्लेख गणपति नाग के संबंध में है । यह बात प्रायः सभी लोग अच्छी तरह जानते हैं कि जम्मू के पास तथा पंजाब के और कई स्थानों में टाक नाग रहा करते थे^२ । राजपूताने के चारणों, चंद बरदाई और सुसलमान इतिहास-लेखकों ने उनके राजवंश का उल्लेख किया है । महाभारत में उनके गोत्र कर्पटी का भी उल्लेख मिलता है जहाँ पंजाब-राजपूताने के प्रदेश में मालवों के साथ पंचकर्पट भी रखे गए हैं । स्पष्टतः ये सब प्रजातंत्री समाज थे^३ । जान पढ़ता है कि यह नाग वंश अपने निकटतम पड़ोसी मालवों के ही संबंधी थे जो मालव करकोट नाग की पूजा करते थे, करकोट नाग के में देखो छंद सं० १ और १८-१०० जिनमें गणपति नाग के वंश का वर्णन है ।

१. देखो इस पुस्तक में पृ० ८१ की पाद-ठिप्पणी ३ ।

२. कनिष्ठम A. S. R., खंड २, पृ० १० । मध्य युग में मध्य देश में टक्करिका नाम का एक भृग गाँव था जिसके बरान के लिये देखो I. A. १७, पृ० २४५ ।

३. देखो मेरा लिखा हुआ “हिंदू-राज्यतंत्र” पहला भाग, पृ० २५३ और महाभारत सभापर्व अ० ३२, श्लोक ७-८ ।

उपासक थे और पंजाब से चलकर राजपूताने में आ वसे थे ।
 (देखो आगे इस ग्रंथ का तीसरा भाग १४५-६ ।)

§ ३१ क. नंदी नाग ने जब कुशन काल में सन् ८० ई० के लगभग पद्यावती और विदिशा का रहना छोड़ा था, तब वे सन् ८० से १४० ई० लोग वहाँ से मध्य प्रदेश में चले गए तक नागों के शरण लेने और वहाँ के पहाड़ों में रचित रहकर का स्थान वे लोग पचासवें से अधिक समय तक राज्य करते रहे । इस बात का एक निश्चित प्रमाण है कि मध्य प्रदेश के नागपुर जिले पर उनका अधिकार था । राष्ट्रकूट राजा कृष्णराज द्वितीय के जो देवलीवाले ताम्रलेख (E. I. खंड ५, पृ० १८८) मध्य प्रदेश की आधुनिक राजधानी नागपुर से कुछ ही मीलों की दूरी पर पाए गए थे और जिन पर शक संवत् ८५२ (सन् ८४०-४१ ई०) अंकित है, उनमें कहा गया है कि दान की हुई भूमि नागपुर-नंदिवर्द्धन के प्रदेश में है । और इन देनों ही नामों का नंदी नागों से संबंध है । इस लेख से बहुत पहले का भी हमें नंदिवर्द्धन का उल्लेख मिलता है जो भार-शिव नागों के बाद ही साम्राज्य के उत्तराधिकारी हुए थे । प्रभावती गुप्त के पूनावाले ताम्रलेखों में, जिनका संपादन E.I. खंड १५, पृ० ३८ में हुआ है, नंदिवर्द्धन नगर का नाम आया है । जैसा कि मिं पाठक और मिं दीनित ने E.I. खंड १५, पृ० ५१ में बतलाया है, राय बहादुर

हीरालाल ने यह पता लगा लिया है कि यह नंदिवर्द्धन बहो कस्ता है जो आजकल नगरधन कहलाता है और जो नागपुर से बीस मील की दूरी पर है। कस्ते का नंदिवर्द्धन नाम कभी वाकाटकों या भार-शिवों के समय में नहीं रखा गया होगा; क्योंकि उनके समय में तो नंदी-उपाधि का परित्याग किया जा चुका था, बल्कि यह नाम भारशिवों के उत्थान से भी बहुत पहले रखा गया होगा। जिस समय नाग राजा लोग पद्मावती और विदिशा से चले थे, उस समय उनके नामों के साथ नंदी की वंशगत उपाधि लगती थी। ऐसा जान पड़ता है कि नंदी नामों ने प्रायः पचास वर्षों तक विष्णु पर्वतों के उस पारवाले प्रदेश—अर्थात् मध्य प्रदेश—में जाकर शरण ली थी जहाँ वे स्वतंत्रतापूर्वक रहते थे और जहाँ कुशन लोग नहीं पहुँच सकते थे। आर्यवर्त्त के एक राजवंश के इस प्रकार मध्य प्रदेश में जा बसने का बाद के इतिहास पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा था, और इसी प्रभाव के कारण भार-शिवों और उनके उत्तराधिकारी वाकाटकों के शासन-काल में दक्षिणापथ के एक भाग के साथ आर्यवर्त्त संबद्ध हो गया था। सन् १०० ई० से सन् ५५० ई० तक मध्य प्रदेश का विष्णवर्त्ती 'आर्यव' अर्थात् बुद्धेलखंड के साथ इतना अधिक घनिष्ठ संबंध हो गया था कि दोनों मिलकर एक हो गए थे और

उस समय इन दोनों प्रदेशों में जो एकता स्थापित हुई थी, वह आज तक बराबर चली चलती है। बुद्धेलखंड का एक अंश और प्राचीन दक्षिणापथ का नागपुरबाला अंश दोनों मिलकर एक हिंदुस्तानी प्रदेश बने रहे हैं और निवासियों, भाषा तथा संस्कृति के विचार से पूरे उत्तरी हो गए हैं और आर्यवर्त का विस्तार बस्तुतः निर्मल पर्वत-माला तक हो गया है। साठ वर्षों तक नाग लोग जो निर्वासित होकर वहाँ रहे थे, उसी के इतिहास का यह परिणाम है। एक और तो नागपुर से पुरिका होशंगाबाद तक और दूसरी ओर सिवनी से होते हुए जबलपुर तक उन्होंने पूर्वी मालवा से भी, जहाँ से उनका राज्याधिकार हटाया गया था, और बुद्धेलखंड रीवाँ के साथ भी अपना संबंध बराबर स्थापित रखा था; और फिर इसी बुद्धेलखंड से होते हुए वे अंत में गंगा-तट तक पहुँचे थे। उनका यह नवीन निवास-स्थान आगे चलकर गुप्तों के समय में वाकाटकों का भी निवास-स्थान हो गया था; और इसी से अजंटा का वैभव बढ़ा था जो अपने मुख्य इतिहास-काल में बराबर भार-शिवों और वाकाटकों के प्रभाव और प्रत्यक्ष अधिकार में बना रहा। अजंटा की कला मुख्यतः नागर भार-शिव और वाकाटक कला है। सन् २५०-२७५ ई० के लगभग शातवाहनों के हाथ से निकलकर यह अजंटा भार-शिव वाकाटकों में हाथ में चला आया था।

§ ३२. स्कंदगुप्त के शासन-काल तक कुछ नाग करद राजा थे, क्योंकि इस बात का उल्लेख मिलता है कि स्कंदगुप्त ने नागों के एक विद्रोह का कठोरतापूर्वक दमन किया था^१। चंद्रगुप्त द्वितीय ने कुबेर नाग नाम की एक नाग राजकुमारी के साथ विवाह किया था जो महादेवी थी और जिसके गर्भ से प्रभावती गुप्त उत्पन्न हुआ था। यदि यह नागकुमारी ध्रुवदेवी नहीं थी तो संभवतः चंद्रगुप्त की दूसरी रानी अवश्य थी। इस बात का भी उल्लेख मिलता है कि कोटा (राजपूताना) में मध्य युगों में करद नाग राजाओं का एक बंश रहता था^२। राय बडादुर हीरालाल ने बस्तर के जो शिलालेख आदि प्रकाशित किए हैं, उनमें भी नागवंशियों का उल्लेख है; और ये नागवंशी लोग संभवतः मध्य प्रदेश के उन्हीं नागों के बंशज थे जो अपने नाम के सृति-चिह्न के रूप में नागपुर^३ और नगरवर्धन ये दें

१. G. I. पृ० ५६, (जूनागढ़ पंचि) ३।

२. I. A. खंड १४, पृ० ४५।

३. नागपुर (आजकल के मध्य प्रदेशवाला) का उल्लेख दसवीं शताब्दी के एक शिलालेख में मिलता है। देखो हीरालाल का Inscriptions in the C. P. & Berar दूसरा संस्करण पृ० १०, और E. I. खंड ५, पृ० १८८, ग्यारहवीं और उसके बाद की शताब्दियों के नागवंशियों के बर्णन के लिये देखो हीरालाल का उक्त ग्रंथ पृ० २०६, २१०, और पृ० १६६ में आया हुआ उसका एक और

नाम-स्थान छोड़ गए हैं और जो संभवतः भार-शिवों के अधिकृत स्थानों के अवशिष्ट हैं ।

५. पद्मावती और मगध में कुशन शासन

(लगभग सन् ८० ई० से १८० ई० तक)

§ ३३. नव नागों और गुप्तों के उत्थान से पहले का पद्मावती और मगध का इतिहास पूरा करने के लिये पुराणों वनस्पर ने बीच में वनस्पर का इतिहास भी जोड़ दिया है । पुराणों में इस शब्द के कई रूप मिलते हैं; यथा विश्वस्फटि (क), विश्वस्फाणि और विंश्वस्फाटि^१ जिसमें के खरोष्ठी लिपि के न को लोगों ने भूल से श पढ़ा और श ही लिखा है^२ । इस प्रकार की भूल लोगों ने कुशाल के संबंध में भी की है और उसे कुशाल पढ़ा है । यह विंश्वस्फाटि और वि (न) वस्फाणि भी वही

उल्लेख । नगरधन, जैसा कि ऊपर (§ ३१ क) बतलाया जा चुका है, प्राचीन नंदिवर्दन नगर के ही स्थान पर बसा हुआ है; और इस नगर का उल्लेख प्रभावती गुप्त के पूनावाले ताम्रलेखों और राष्ट्रकूट लेख (देवली का ताम्रलेख) में भी आया है । आजकल यह नगरधन कहलाता है जिसका अर्थ है—नागों का वर्दन । इसमें का 'नगर' शब्द नागर के लिये आया है ।

१. पारजिटर कृत Purana Text पृ० ५२ की पाद-टिप्पणी नं० ४५५ तथा दूसरी टिप्पणियों ।

२. उक्त ग्रंथ पृ० ८५ ।

हैं जो सारनाथवाले शिलालेखों के बनस्फर और बनस्पर हैं। सारनाथ के दो शिलालेखों से हमें पता चलता है (E. I. खंड ८, पृ० १७३) कि कनिष्ठ के शासन-काल के तीसरे वर्ष में बनस्फर उस प्रांत का चत्रप या गवर्नर था जिसमें बनारस पड़ता था। उस समय बनस्फर (बनस्पर) के बज्जे एक चत्रप या गवर्नर था और उसका प्रधान खरपल्लाण महाचत्रप या बाइसराय था। बाद में बनस्फर भी महाचत्रप हो गया होगा। उसका शासन-काल कुछ अधिक दिनों तक था, इसलिये हम यह मान सकते हैं कि उसका समय लगभग सन् ८० ई० से १२० ई० तक रहा होगा। यह वही समय है जो विदिशा के नागों ने अज्ञातवास में विताया था।

§ ३४. इस बनस्पर का महत्व इतना अधिक था कि इसके बंशज, जो बुंदेलखंड के बनाफर कहलाते हैं, चंदेलों के समय तक अपनी वीरता और युद्ध-उसकी नीति कौशल के लिये बहुत प्रसिद्ध थे। मूल या उत्पत्ति के विचार से ये लोग कुछ निम्न कोटि के माने जाते थे और राजपूतों के साथ विवाह-संबंध स्थापित करने में इन्हें कठिनता होती थी। आज तक ये लोग समाज में कुछ निम्न कोटि के ही माने जाते हैं। बुंदेलखंड में उनके नाम से एक बनाफरी बोली भी प्रचलित है। विवस्फाटि ने भागवत के अनुसार पद्मावती में अपना केंद्र स्थापित किया था और

सब पुराणों के अनुसार मगध तक अपने राज्य का विस्तार किया था । पुराणों में उसकी वीरता की बहुत प्रशংসा की गई है और कहा गया है कि उसने पृथ्वी से विहार तक का सारा प्रदेश और बड़े बड़े नगर जीते थे । पुराणों में यह भी कहा है कि वह युद्ध में विद्युत के समान था और देखने में ही जड़ा सा जान पड़ता था । प्रसिद्ध इतिहास-लेखक गिब्बन (Gibbon) ने हृणों के संबंध में जो बात कही है, वही बात पुराणों ने बहुत पहले से इन बनाफरों के संबंध में भी कही है; अर्थात्— इन लोगों के चेहरों पर दाढ़ियाँ प्रायः होती ही नहीं थीं, इसलिये इन लोगों को न तो कभी युवावस्था की पुरुषोचित शोभा ही प्राप्त होती थी और न वृद्धावस्था का पूज्य तथा आदरणीय रूप ही । अतः ऐसा जान पड़ता है कि बनस्पर की आकृति हृणों की सी थी और वह देखने में मंगोल सा जान पड़ता था । उसकी नीति विशेष रूप से ध्यान में रखने योग्य है । उसने अपनी प्रजा में से ब्राह्मणों का विलकुल नाश ही कर दिया था—प्रजाश्च अब्राह्म-भूयिष्ठाः । उसने उच्च वर्ग के हिंदुओं को बहुत दबाया था और निम्न कोटि के लोगों तथा विदेशियों को अपने राज्य में उच्च पद प्रदान किए थे । उसने चत्रियों का भी नाश कर दिया था और एक नवीन शासक-जाति का निर्माण किया था । उसने अपनी प्रजा को अब्राह्मण कर दिया था । जैसा कि हम आगे चलकर बतलावेंगे (₹ १४६ ख), कुशनों ने भी बाद

में इसी नीति का अवलंबन किया था । वे अपने राजनीतिक उद्देश्यों की सिद्धि के लिये समाज पर अत्याचार करते थे और वहे धर्माध होते थे—दूसरे धर्मवालों को बहुत कष्ट देते थे । कैवत्तों में से, जो भारत के आदिम निवासियों में से एक छोटी जाति है और खेती-बारी करती है और जिसे आजकल केवट कहते हैं, उसने शासकों और राजकर्मचारियों का एक नया वर्ग तैयार किया था; और इसी प्रकार पंचकों में से भी, जो शूद्रों से भी निम्न कोटि के होते हैं और अस्पृश्य माने जाते हैं, उसने अनेक शासक और राजकर्मचारी तैयार किए थे । उसने मद्रकों को भी विहार से बुंदेलखण्ड में बुलवाया था जो पहले पंजाब में रहा करते थे और चकों तथा पुलिंदों या चक-पुलिंदों या पुलिंद यतु लोगों¹ को भी अपने यहाँ बुलाकर रखा था । शासन आदि के कार्यों के लिये उत्तर से पूर्व में प्रथम वर्ग के जो लोग बुलाए गए थे, उनका महत्व इस

१. पारबिटर P. T., पृ० ५२, पाद-टिप्पणी ४८ ।

विष्णुपुराण में कहा है—कैवत्तं यदु (यतु) पुलिद अब्राह्मणानाम् (न्यान्) राज्ये स्थापयिष्यति उत्साद्यस्त्रिल चत्र-जातिं ।

भागवत में कहा है—करिष्यति अपरान् वर्णान् पुलिद-यदु-मद्रकान् । प्रजाश्च अब्रह भूयिष्ठः स्थापयिष्यति दुर्मतिः ॥

वायुपुराण में कहा है—उत्साद्य पार्थिवान् सर्वान् सोऽन्यान् वर्णान् करिष्यति । कैवत्तान् पंचकांश्चैव पुलिदान् अब्राहणानास्तथा ॥

दूसरे पाठ—कैवत्यानाम् शकांश्चैव पुलिदान् । और—कैवत्तान् यपुमांश्चैव आदि ।

विचार से है कि उससे सूचित होता है कि उसने धन देकर भारत के एक भाग से दूसरे भाग में आदमियों को बुलाने की नीति का अवलंबन किया था । चक-पुलिंद वास्तव में शक पुलिंद हैं, क्योंकि भारत में प्रायः शक से चक शब्द भी बना लिया जाता है, जैसा कि गर्ग संहिता में^१ किया गया है । उनके साथ यथु या यतु विशेषण लगाया जाता है और वे पुलिंद यतु और पुलिंद अत्राद्युगानाम् कहे गए हैं^२ । दूसरे शब्दों में यही बात यों कहो जाती है कि वे भारतीय पुलिंद नहीं थे बल्कि अत्राद्युग और शक पुलिंद थे । ये लोग वहो पालद या पालक-शक जान पड़ते हैं जिन्होंने स्वयं अपने सिक्के चलाने के कारण और समुद्रगुप्त तथा चंद्रगुप्त के सिक्कों को प्रहण कर लेने के कारण^३ चौथी शताब्दी तथा पाँचवीं शताब्दी के आरंभ में कुछ विशेष महत्व प्राप्त कर लिया है ।

§ ३५. इस कुशन चत्रप के शासन का जो वर्णन ऊपर दिया गया है, उससे हमें इस बात का बहुत कुछ पता लग जाता है कि भारत में कुशनों का शासन किस प्रकार का

१. J. B. O. R. S. खंड १४, पृ० ४०८ ।

२. पारजिटर P. T. पृ० ५२; ३५ वीं तथा और पाद-टिप्पणियाँ ।

३. J. B. O. R. S. खंड १८, पृ० २०६. [अफगानिस्तान में उत्तरी पुलिंद भी ये जो संभवतः आजकल पेंगिदाह कहलाते हैं ।] देखें मत्स्यपुराण ११३-४८ ।]

था । काश्मीर के इतिहास राजतरंगिणी में कुशनों के शासन के संबंध में जो कुछ कहा गया है (१, १, १७४-१८५), उससे इस भ्रष्ट की और भी पुष्टि हो जाती है । उन दिनों काश्मीर में जो नागों की उपासना प्रचलित थी, उसे कुशनों ने बंद कर दिया था और उसके स्थान पर वैद्य धर्म का प्रचार किया था । एक वैद्य धर्म ही ऐसा था जिसके द्वारा विदेशी शक लोग उस प्राचीन सनातनी और अभिमानी समाज का मुकाबला कर सकते थे जो मनुष्यों के प्राकृतिक तथा जातीय विभागों के आधार पर संघटित हुआ था । ब्राह्मणों की वर्ण-व्यवस्था के कारण ये म्लेच्छ शासक बहुत ही उपेक्षा और धृष्णा की दृष्टि से देखे जाते थे जिससे उन म्लेच्छों को बहुत बुरा लगता था और इसी लिये उस सामाजिक व्यवस्था के नाश के लिये वे लोग अनेक प्रकार के उपाय करते थे जो उन्हें बहिष्कृत रखती थी । इसके परिणाम-स्वरूप काश्मीर में बहुत बड़ा आंदोलन हुआ था; और इस बात का उल्लेख मिलता है कि राजा गोनर्द तृतीय ने उस नाग उपासना को फिर से प्रचलित किया था जिसका हुष्क, जुष्क और कनिष्क के तुरुष्क अर्थात् कुशन शासन ने नाश कर डाला था । भारतवर्ष में भी ठीक यही बात हुई थी; और विना इस बात को जाने हम यह नहीं समझ सकते कि भार-शिवों के समय में जो राष्ट्रोदय आंदोलन खड़ा हुआ था, उसका क्या कारण था ।

कुशन शासन-काल में हमें केवल बैद्ध और जैन धर्मों के ही स्मृति-चिह्न आदि मिलते हैं। उस समय का ऐसा कोई

कुशनों के पहले के स्मृति-चिह्न नहीं मिलता जो हिंदू दंग सनातनी स्मृति-चिह्न की सनातनी उपासना से संबंध रखता और कुशनों की सामाजिक नीति हो। यद्यपि सब लोग यह बात अच्छी

तरह जानते हैं कि जिस समय बैद्धों के सबसे आरंभिक स्मृति-चिह्न बने थे, उससे बहुत पहले से ही सनातनी और हिंदू लोग अनेक प्रकार के स्मृति-चिह्न, भवन और मूर्तियाँ आदि बनाया करते थे, तो भी हमें बैद्धों से पहले का सनातनी हिंदुओं का कोई स्मृति-चिह्न या वस्तु अथवा तत्त्व का कोई नमूना या प्रमाण नहीं मिलता^१। मत्स्य पुराण में मंदिरों तथा देवी-देवताओं की मूर्तियों के निर्माण के संबंध में हमें बहुत कुछ विस्तृत और वैज्ञानिक विवेचन मिलता है; और हिंदुओं के और भी बहुत से ग्रंथों में इस विषय के उल्लेख भरे पड़े हैं^२ जिनसे यह प्रमाणित होता है कि सन् ३०० ई० से पहले भी इस देश में हिंदू देवताओं और देवियों के बहुत से और अनेक आकार-प्रकार के मंदिर आदि बना

१. इसका एक अपवाद भीठा का पंचमुखी शिवलिंग है (A. S. R. १६०८-१०) जिस पर ई० पू० दूसरी शताब्दी का एक लेख अकित है।

२. श्रीयुक्त वृद्धावन भट्टाचार्य ने अपने The Hindu Images नामक ग्रंथ में इन सबका बहुत ही योग्यतापूर्वक संग्रह किया है।

करते थे । इन सब प्रमाणों का देखते हुए इस बात में किसी प्रकार का संदेह नहीं किया जा सकता कि गुप्तों के समय से पहले भी सनातनी हिंदुओं की वास्तु विद्या और राष्ट्रीय कला अपनी उन्नति के बहुत ऊँचे शिखर पर पहुँच गई थी; और जब भार-शिवों, बाकाटकों तथा गुप्तों के समय में उनका फिर से उद्धार होने लगा, तब वैसे अच्छे भवन आदि फिर से नहीं बने, और जो बने भी, वे पुराने भवनों आदि के मुकाबले के नहीं थे । स्वयं बौद्धों और जैनों के स्मृति-चिह्नों की अनेक आंतरिक बातों से ही यह बात भली भाँति प्रमाणित हो जाती है । एक उदाहरण ले लीजिए । बौद्धों और जैनों के स्तूपों आदि पर की नकाशी में अप्सराओं के लिये कोई स्थान नहीं हो सकता था और उन पर अप्सराओं की मूर्तियाँ आदि नहीं बननी चाहिए थीं । परंतु वास्तव में यह बात नहीं है और हमें बोध गया के रेलिंगबाले द्वार पर, मथुरा के जैन स्तूपों पर और नागर्जुनी कोड़ा स्तूपों तथा इसी प्रकार के और अनेक भवनों आदि पर ऐसी मूर्तियाँ मिलती हैं जिनमें अप्सरा अपने प्रेमी गंधर्व के साथ अनेक प्रकार की प्रेमपूर्ण कोड़ा करती हुई दिखाई पड़ती है । अप्सराओं की भावना का बौद्ध और जैन धर्मों में कहाँ पता नहीं है; पर ही हिंदुओं की धर्मपुस्तकों में—उदाहरणार्थ मत्स्यपुराण में—अवश्य है जिनका समय कम से कम ईसवी तीसरी शताब्दी तक पहुँचता है । मत्स्य पुराण में इस विषय का जो

विवेचन है, उसमें पहले के अठारह आचार्यों के मत उद्धृत किए गए हैं जिससे सिद्ध होता है कि शताब्दियों पहले से इस देश में इन विषयों की चर्चा होती आई थी। हिंदू ग्रंथों में इस संबंध में कहा गया है कि मंदिरों के द्वारों अथवा तोरणों पर गंधर्व-मिथुन या गंधर्व और उसकी पल्ली की मूर्तियाँ होनी चाहिए^१ और मंदिरों पर अप्सराओं, सिद्धों और यज्ञों आदि की मूर्तियाँ नकाशी हुई होनी चाहिए। मधुरा में स्नान आदि करती हुई स्त्रियों की मूर्तियाँ हैं। उनकी मुख्य मुख्य बातें अप्सराओं की सी ही हैं और उनके स्नान करने की भाव-भंगियों आदि के कारण ही वे जल-अप्सराएँ कही गई हैं। अब प्रश्न यह है कि बैद्धों और जैनों को ये अप्सराएँ कहाँ से मिलीं। बैद्धों और जैनों को गज-लक्ष्मी कहाँ से मिलीं; और गरुड़ध्वज धारण करनेवाली वैष्णवी ही बैद्धों

१. मत्स्यपुराण के अध्याय २५१—२६६ में इस विषय का विवेचन है और वह विवेचन ऐसे १८ आचार्यों के मतों के आधार पर है जिनके नाम उसमें दिए गए हैं (अ० २५१, २-४)। अ० २७० से बास्तु कला के इतिहास का प्रकरण चलता है (अ० २७०-२७४) और इस इतिहास का अंत सन् २४० ई० के लगभग हुआ है। इन अठारह आचार्यों के कारण यह कहा जा सकता है कि इस विषय के विवेचन का आरंभ कम से कम २४० पू० ६०० में हुआ होगा।

२. मत्स्यपुराण २५७, १३-१४ (विष्णु के मंदिर के संबंध में)—
तोरणान् चोपरिष्ठात् तु विद्याधरसमन्वितम् ।
देवदुन्दुभिसंयुक्तं गन्धर्वमिथुनान्वितम् ॥

को कहाँ से मिली ? मेरा उत्तर यह है कि उन्होंने ये सब चीजें सनातनी हिंदू इमारतों से ली हैं । उन दिनों वास्तु-कला में इन सब बातों का इतना अधिक प्रचार हो गया था कि इमारतें बनानेवाले कारीगर आदि उन्हें किसी प्रकार छोड़ ही नहीं सकते थे । जिस समय बौद्धों ने अपने पवित्र स्मृति-चिन्ह आदि बनाने आरंभ किए थे, उस समय कुछ ऐसी प्रथा सी चल गई थी कि जिन भवनों और मंदिरों आदि में इस प्रकार की मूर्तियाँ नहीं होती थीं, वे पवित्र और धार्मिक ही नहीं समझे जाते थे; और इसी लिये बौद्धों तथा जैनों आदि को भी विवश होकर उसी ढंग की इमारतें बनानी पड़ती थीं, जिस ढंग की इमारतें पहले से देश में बनती चली आ रही थीं । हिंदू मंदिरों पर तो इस प्रकार की मूर्तियों का होना योग और परंपरा आदि के विचार से सार्थक ही था, क्योंकि हिंदुओं में इस प्रकार की भावनाएँ वैदिक युग से चली आ रही थीं और हिंदुओं के प्राचीन पौराणिक इतिहास के साथ इनका घनिष्ठ संबंध था; और हिंदुओं के अंतिम दिनों तक उनके मंदिरों और मूर्तियों आदि में ये सब बातें बराबर चली आई थीं । पर बौद्ध तथा जैन भवनों आदि में इस प्रकार की मूर्तियों के बनने का इसके सिवा और कोई अर्थ नहीं हो सकता कि वे कोवल भवनों की शोभा और शृंगार के लिये बनाई जाती थीं और सनातनी हिंदू भवनों से ही वे ली गई थीं और उन्होंकी नकल पर बनाई गई थीं । कुशन

काल से पहले की जो सनातनी इमारतें थीं, वे पूर्ण रूप से नष्ट हो गई हैं । पर इन्हें नष्ट किसने किया था ? मेरा उत्तर है कि कुशन शासन ने उन्हें नष्ट कर डाला था । एक स्थान पर इस बात का उल्लेख मिलता है कि पवित्र अग्नि के जितने मंदिर थे, वे सब एक आरंभिक कुशन ने नष्ट कर डाले थे और उनके स्थान पर बौद्ध मंदिर बनाए थे । एक कुशन चत्रप की लिखित नोति से हमें पता चलता है कि उसने ब्राह्मणों और सनातनी जातियों का दमन किया था और सारी प्रजा को ब्राह्मणों से हीन या रहित कर दिया था । सन् ७८ ई० में इस देश में जो शक शासन प्रचलित था, उसकी विशेषता का उल्लेख अलबेहनी ने इस प्रकार किया है—

“यहाँ जिस शक का उल्लेख है, उसने आर्यवर्त्त में अपने राज्य के मध्य में अपनी राजधानी बनाकर सिंधु से समुद्र तक के प्रदेश पर अत्याचार किया था । उसने हिंदुओं को आज्ञा दे दी थी कि वे अपने आपको शक ही समझें और शक ही कहें; इसके अतिरिक्त अपने आपको और कुछ न समझें या न कहें ।” (२, ६)

गर्ग संहिता में भी प्रायः इसी प्रकार की बात कही गई है—

“शकों का राजा बहुत ही लोभी, शक्तिशाली और पापो था । इन भीषण और असंख्य शकों ने प्रजा का

स्वरूप नष्ट कर दिया था और उनके आचरण भ्रष्ट कर दिए थे ।” (J. B. O. R. S. खंड १४, पृ० ४०४ और ४०८ ।)

गुणालय ने भी इसकी पहली शताब्दी में उन म्लेच्छों और विदेशियों के कार्यों का वर्णन किया है जो विक्रमादित्य शालिवाहन द्वारा परास्त हुए थे (J. B. O. R. S. खंड १६, पृ० २८६) । उसने कहा है—

“ये म्लेच्छ लोग ब्राह्मणों को हत्या करते हैं और उनके यज्ञों तथा धार्मिक कृतयों में बाधा डालते हैं । ये आश्रमों की कन्याओं को उठा ले जाते हैं । भला ऐसा कौन सा अपराध है जो ये दुष्ट नहीं करते ?” (कथासरित्सागर १८) ।

§ ३६ क. कुशनों के समय के बौद्ध भारत के सन् १५०-२०० ई० हिंदू जाति जिस हृषि से देखती थी, की सामाजिक अवस्था उसका वर्णन संक्षेप में महाभारत के पर महाभारत वनपर्व के अध्याय १८८ और १६० में इस प्रकार किया गया है—

१. अध्याय १६० में प्रायः वही बातें देहराई गई हैं जो पहले अध्याय १८८ में आ चुकी है । ऐसा जान पड़ता है कि आरंभ में अध्याय १८८ का ही पाठ या जो अध्याय १६० के रूप में देहराया गया है और उसके अंत में कलिक का नाम जोड़ दिया गया है जो अध्याय १८८ में नहीं है और जो स्पष्ट रूप से वायु-प्रोक्त पुराण से लिया गया है (अ० १६१, १६) । यद्यपि वायु-प्रोक्त ब्रह्मांड पुराण में कलिक का उल्लेख है, पर आज-कल के वायु पुराण में उसका कहीं

“इसके उपरांत देश में बहुत से म्लेच्छ राजाओं का राज्य होगा । ये पापी राजा सदा मिथ्या आचरण करेंगे, मिथ्या सिद्धांतों के अनुसार शासन करेंगे और इनमें मिथ्या विरोध चलेंगे । इसके उपरांत आध्रि, शक, पुलिंद, यवन (अर्थात् यौन), कोभोज, वाह्नोक और शूर-आभीर लोग शासन करेंगे (अध्याय १८८ श्लोक ३४-३६) । उस समय वेदों के वाक्य व्यर्थ हो जायेंगे, शूद्र लोग “भो” कहकर समानता-सूचक शब्दों में (ब्राह्मणों को) संबोधन करेंगे और ब्राह्मण लोग उन्हें आर्य कहकर संबोधन करेंगे (३८) । कर के भार से भयभीत होने के कारण नागरिकों का चरित्र भ्रष्ट हो जायगा (४६) । लोग इहलौकिक बातों में बहुत अधिक अनुरक्त हो जायेंगे जिनसे उनके मास और रक्त का सेवन और वृद्धि होती है (४८) । सारा संसार म्लेच्छ हो जायगा और सब प्रकार के कर्मकांडों और यज्ञों का अंत हो जायगा (१८०-२८) । ब्राह्मण, ज्ञात्रिय और वैश्य न रह जायेंगे । उस समय सब लोगों का एक ही वर्ण हो जायगा, सारा संसार म्लेच्छ हो जायगा और लोग आद्व आदि से पितरों को और तर्पण आदि से प्रेतात्माओं को तृप्त नहीं करेंगे (४६) । वे लोग देवताओं की पूजा वर्जित कर देंगे और हड्डियों की पूजा करेंगे । ब्राह्मणों

उल्लेख नहीं है । यह समय लगभग सन् १५० ई० से २०० ई० तक का उन राजाओं के नामों के आधार पर निश्चित किया गया है जिनका अध्याय १८८ में उल्लेख है ।

के निवास-स्थानों, बड़े बड़े ऋषियों के आश्रमों, देवताओं के पवित्र स्थानों, तीर्थों और नागों के मंदिरों में एहुक (बौद्ध स्तूप) बनेंगे जिनके अंदर हहियाँ रखी रहेंगी। वे लोग देवताओं के मंदिर नहीं बनवावेंगे।^१ (श्लोक ६५, ६६ और ६७)।

यह वर्णन अनेक अंशों में उस वर्णन से मिलता है जो शक शासन-काल के भारतवर्ष के संबंध में गर्ग संहिता में दिया है। यह वर्णन देखने में ऐसा जान पढ़ता है कि किसी प्रत्यच्चदर्शी का किया हुआ है। इस वर्णन में जिन आंध्र, शक, पुलिंद, बैकिट्रयन (अर्थात् कुशन) और आभीर आदि राजाओं के नाम आए हैं, उनसे सूचित होता है कि यह वर्णन कुशनों के शासन-काल के अंतिम भाग का है। हम ऊपर यह बात कह आए हैं कि कुशनों ने हिंदू मंदिर नष्ट कर डाले थे। इस मत की पुष्टि महाभारत में आए हुए निम्न-लिखित वाक्यों से भी होती है। समस्त हिंदू जगत् म्तेच्छ बना दिया गया था। सब जातियाँ या वर्ण नष्ट कर दिए गए थे और उनकी जगह केवल एक ही जाति या

१. एहुकान् पूजयिष्यन्ति वर्जयिष्यन्ति देवताः ।

शद्राश्च प्रभविष्यन्ति न द्विजाः युगसंक्षये ॥

आश्रमेषु महर्षोशां ब्राह्मणावसंयेषु च ।

देवस्थानेषु चैत्येषु नागानामालयेषु च ॥

एहुकच्छिहा पृथिवी न देवगृहभूषिता ।

कुम्भकोणाम् वाला संस्करण, पृ० ३१४ ।

वर्णा रह गया था । आद्व आदि कर्म बंद हो गए थे और लोग हिंदू देवताओं के स्थान में उन स्तूपों आदि की पूजा करते थे जिनमें हड्डियाँ रखी होती थीं । वर्णाश्रम प्रथा दबा दी गई थी । इस दमन का परिणाम यह हुआ कि लोगों के आचार भ्रष्ट होने लगे । इन्हों अध्यायों में विस्तारपूर्वक यह भी बतलाया गया है कि लोगों का कितना अधिक नैतिक पतन हो गया था ।

शकों के शासन का उद्देश्य हो यह था कि जैसे हो, हिंदुओं का हिंदुत्व नष्ट कर दिया जाय और उनकी राष्ट्रीयता की जड़ खोद दी जाय । शकों ने खूब समझ-बूझकर सामाजिक क्रांति उत्पन्न करने का प्रयत्न किया था । उनकी योजना यह थी कि उच्च वर्ग के लोगों और कुलोनों का दमन किया जाय, क्योंकि वही लोग राष्ट्रीय संस्कृति तथा राष्ट्रीय स्वतंत्रता के रक्षक थे । इस प्रकार वे लोग ब्राह्मणों और चत्रियों का सब प्रकार से दमन करते थे । हिंदू राजाओं की सैनिक शक्ति से शक लोग नहीं घबराते थे, क्योंकि उस पर वे विजय प्राप्त कर ही चुके थे; पर हिंदुओं की सामाजिक प्रथा से उन्हें बहुत ढर लगता था । वे जनसाधारण के मन में निरंतर भय उत्पन्न करके और उन्हें बलपूर्वक धर्म-भ्रष्ट करके तथा अपने धर्म में मिलाकर आचार-भ्रष्ट करना चाहते थे । गर्गसंहिता में कहा गया है कि वे सिप्रा के एक चौथाई निवासियों को अपनी राज-

धानी अर्थात् वैकिन्द्रिया में ले गए थे। उन्होंने कई बार एक साथ बहुत से लोगों की जो हत्याएँ कराई थीं, उनका उल्लेख गर्ग संहिता में भी है और पुराणों में भी। । वे लोग इस देश का बहुत सा धन अपने साथ वैकिन्द्रिया लेते गए होंगे। वे धन के बहुत बड़े लोभी हुआ करते थे। उन्होंने बराबर हिंदुओं पर अत्राह्मण धर्म लादने का प्रयत्न किया था। सारांश यह कि उन दिनों हिंदू जीवन एक प्रकार से कुछ समय के लिये बिलकुल बंद ही हो गया था। उत्तर भारत के सनातनी साहित्य में ऐसा एक भी ग्रंथ नहीं मिलता जो सन् ७८ ई० से १८० ई० के बीच में लिखा गया हो। इस कारण हिंदुओं के लिये यह बहुत ही आवश्यक हो गया था कि इस प्रकार के राजनीतिक तथा सामाजिक संकट से अपने देश को बचाने का प्रयत्न करें।

६. भार-शिवों के कार्य और साम्राज्य

§ ३७. भार-शिवों ने गंगा-तट पर पहुँचकर अपने देश को इस राष्ट्रीय संकट (§ ३६) से मुक्त करने का भार अपने भार-शिवों के समय ऊपर लिया था। प्रत्येक युग और का धर्म प्रत्येक देश में जब कोई मानव समाज कोई बड़ा राष्ट्रीय कार्य आरंभ करता है, तब उसके सामने एक ऐसा मुख्य तत्व रहता है, जिससे उसके समस्त कार्य

१ देखो आगे तीसरा भाग § १४६ ख और § १४७.

संचालित होते हैं। हमें यहाँ यह बात भूल न जानी चाहिए कि उस समय भारत के हिंदू समाज में भी इसी प्रकार का एक मुख्य तत्व काम कर रहा था। वह तत्व आध्यात्मिक विचार और विश्वास का है। जो इतिहास-लेखक इस तत्व पर ध्यान नहीं देता और केवल घटनाओं की सूची तैयार करने का प्रयत्न करता है, वह मानो चिड़ियों को छोड़कर उनके पर ही गिनता है। इस बात में बहुत कुछ संदेह है कि राष्ट्रीय विचारों और भावनाओं का पूरा पूरा ध्यान रखे बिना वह वास्तविक घटनाओं को भी ठोक तरह से समझ सकता है या नहीं।

§ ३८. अब प्रश्न यह है कि वह कौन सा राष्ट्रीय धर्म और विश्वास था जिसे लेकर भार-शिव लोग अपना उद्देश्य सिद्ध करने निकले थे। हमें तो उस समय सब जगह शिव ही शिव दिखाई देते हैं। हमें भार-शिवों के सभी कार्यों के संचालक शिव ही दिखाई देते हैं और वाकाटकों के समय के भारत में भी सर्वत्र उन्होंने का राज्य दिखाई देता है। जिन काव्य ग्रंथों में साधारणतः प्रेम-चर्चा होती है और होनी चाहिए, उन दिनों उन काव्य ग्रंथों में भी भगवान् शिव की ही चर्चा होती थी। हिंदू राज्य-निर्माताओं की राष्ट्रीय सेवा भी उसी सर्वप्रधान शक्ति को समर्पित होती थी जिसके हाथ में मनुष्यों का सारा भाग्य रहता है। उस समय राष्ट्र की जैसी प्रवृत्तियाँ और जैसे भाव थे, उन्होंने के अनुरूप

ईश्वर का एक विशिष्ट रूप उन लोगों ने चुन लिया था और उसी रूप को उन्होंने अपनी सारी सेवा समर्पित कर दी थी। उस समय उन्होंने जो राजनीतिक सेवा की थी, वह सब संहारकर्ता भगवान् शिव का अर्पित की थी। भार-शिवों ने उस समय शिव का आवाहन किया था और शिव ने गंगा-तट के मैदानों में वहाँ के निवासियों के द्वारा अपना तांडव नृत्य दिखलाना आरंभ कर दिया था। उस समय हमें सर्वत्र शिव ही शिव दिखाई पड़ते हैं। उस समय सब जगह सब लोगों के मन में यही विश्वास समागया था कि स्वयं संहारकर्ता शिव ने ही भार-शिव राज्य की स्थापना की है और वही भार-शिव राजा के राज्य तथा प्रजा के संरक्षक हैं। भगवान् शिव ही अपने भक्तों को स्वतंत्र करने के लिये उठ खड़े हुए हैं और वे उन्हें इस प्रकार स्वतंत्र कर देना चाहते हैं कि वे भली भाँति अपने धर्म का पालन कर सकें, स्वयं अपने मालिक बन सकें और आद्यों के ईश्वरदत्त देश आर्यावर्त में स्वतंत्रतापूर्वक रह सकें। यह एक ऐसी भावना है जो राजनीतिक भी है और भौगोलिक भी; और इसके अनुसार लोग आरंभ से ही यह समझते रहे हैं कि आर्यावर्त में हिंदुओं का ही राज्य होना चाहिए; और इसका उल्लेख मानव धर्मशास्त्र (२, २२-२३) तक में है; और यह भावना पतंजलि के समय (ई० पू० १८०^१) से मेघा-

तिथि [आक्रम्याक्रम्य न चिरं त्रत म्लेच्छाः स्थातारो भवन्ति] ^१ और बीसलदेव (सन् ११६४ ई०) तक बराबर लोगों के मन में ज्यों की त्यों और जीवित रही है [आर्यावर्त्त यशार्थ पुनरपि कृतवान् म्लेच्छविच्छेदनाभिः] ^२ । इस पवित्र सिद्धांत का खंडन हो गया था और यह सिद्धांत ढूट गया था और इसे फिर से स्थापित करना आवश्यक था । और लोगों का विश्वास था कि भगवान् शिव ही इस सिद्धांत की फिर से और अवश्य स्थापना करेंगे ; और वे यह कार्य अपने हुंग से अपना संहारकारक नृत्य आरंभ करके करेंगे । नाग राजा लोग भार-शिव हो गए । उन्होंने वह संहारक राष्ट्रोत्तम नृत्य करने का भार अपने ऊपर लिया और गंगा-तट के मैदानों में बहुत सफलतापूर्वक यह नृत्य किया । उस समय के भार-शिव राजाओं ने वीरसेन, स्कंद नाग, भीम नाग, देव नाग और भव नाग आदि अपने जो नाम रखे थे, उन सबसे यही प्रमाणित होता है कि उन दिनों इसी बात की आवश्यकता थी कि सब लोग शिव के भाव से अभिभूत हो जायें और उसी प्रकार के उत्तरदायित्व का अनुभव करें । उन्होंने जिस प्रकार बार बार वीर और योद्धा देवताओं के नाम रखे थे और बार बार बार जो अश्वमेघ यज्ञ किए थे, वे स्वयं ही इस बात का बहुत बड़ा प्रमाण हैं । भार-

१. टैगोर व्याख्यान—“मनु और याज्ञवल्क्य” पृ० ३१-३२ ।

२. दिल्ली का संभ I. A. खंड १६, पृ० २१२ ।

शिवों ने अनेक बार बहुत वीरतापूर्वक युद्ध किए और उनके इन प्रयत्नों का फल यह हुआ कि आर्यवर्त्त से कुशनों का शासन धीरे धीरे नष्ट होने लगा ।

वीरसेन के उत्थान के कुछ ही समय बाद हम देखते हैं कि कुशन लोग गंगा-तट से पीछे हटते हटते सरहिंद के आस-कुशनों के मुकाबले पास पहुँच गए थे । सन् २२६-२४१ई० में भार-शिव नामों की के लगभग कुशन राजा जुनाह यौवन^१ ने सफलता

सरहिंद से ही प्रथम सासानी सन्नाट् अरदसिर के साथ कुछ राजनीतिक पत्र-व्यवहार और संबंध किया था^२ । उस समय तक उत्तर-पूर्वी भारत का पंजाब तक का हिस्सा स्वतंत्र हो गया था । इस बात का बहुत अच्छा प्रमाण स्वयं वीरसेन के सिक्कों से ही मिलता है जो समस्त संयुक्त प्रांत में और पंजाब के भी कुछ भाग में पाए जाते हैं । कुशन राजाओं को भार-शिवों ने इतना अधिक दबाया था कि अंत में उन्हें सासानी सन्नाट् शापूर (सन् २३६ और २६८ई० के बीच में) के संरक्षण में चले जाना पड़ा था, जिसकी मूर्त्ति कुशन राजाओं को अपने सिक्कों तक पर अंकित करनी पड़ी थी । समुद्रगुप्त के समय से पहले ही पंजाब का भी बहुत बड़ा भाग स्वतंत्र हो गया था । माद्रकों ने फिर से अपने

१. J. B. O. R. S. लंड १८, पृ० २०१ ।

२. विंसेंट स्मिथ कृत Early History of India चौथा संस्करण, पृ० २८६ की पाद-टिप्पणी ।

सिक्के बनाने आरंभ कर दिए थे और उन्होंने समुद्रगुप्त के साथ संधि करके उसका प्रभुत्व स्वीकृत कर लिया था। जिस समय समुद्रगुप्त रंगस्थल पर आया था, उस समय काँगड़े की पहाड़ियों तक के प्रदेश फिर से हिंदू राजाओं के अधिकार में आ गए थे। और इस संबंध का अधिकांश कार्य दस अश्वमेध यज्ञ करनेवाले भार-शिव नागों ने ही किया था; और उनके उपरांत वाकाटकों ने भी भार-शिव राजाओं की नीति का ही अवलंबन करके उस स्वतंत्रता तथा प्राप्त राज्य की पचास वर्षों तक केवल रक्षा ही नहों की थी, बल्कि उसमें वृद्धि भी की थी ।

§ ३८. भार-शिवों की सफलता का ठोक ठोक अनुमान करने के लिये हमें पहले यह बात अच्छी तरह समझ लेनी कुशनों की प्रतिष्ठा चाहिए कि वैकिंट्रिया के उन तुखारों का, और शक्ति तथा भार-जिन्हें आजकल हम लोग कुशन कहते शिवों का साहस है, कितना अधिक प्रभाव था । वे ऐसे शासक थे जिनके पास बहुत अधिक रक्षित शक्ति या सेना थी, और वह रक्षित शक्ति उनके मूल निवास-स्थान मध्य एशिया में रहती थी जहाँ से उनके सैनिकों के बहुत बड़े बड़े दल बराबर आया करते थे । इन लोगों का राज्य बंगु नदी के तट से लेकर बंगाल की खाड़ी तक^१ यमुना से लेकर

१. यासुदेव के सिक्के पाठलिपुत्र तक की खुदाई में पाए गए थे—

A. R. A. S., E. C. १९१३-१४, पृ० ७४ । यद्यपि कुशन और

नर्मदा तक^१ और पश्चिम में काश्मीर तथा पंजाब से लंकर सिंध और काठियावाड़ तक और गुजरात, सिंध तथा बलोचिस्तान के समुद्र तक भली भाँति स्थापित हो गया था। प्रायः सौ बर्षों तक ये लोग बराबर यही कहा करते थे कि हम लोग दैवपुत्र^२ हैं और हिंदुओं पर शासन करने का हमें ईश्वर की ओर से अधिकार प्राप्त हुआ है। और साथ ही इन लोगों के संबंध में यह भी एक बहुत प्रसिद्ध बात थी कि ये लोग बहुत ही कठोरतापूर्वक शासन करते थे। यों तो एक बार थोड़ी सी यूनानी प्रजा ने भी विशाल पारसी साम्राज्य के विरुद्ध सिर उठाया था और उसे ललकारा था, पर भार-शिवों के एक नेता ने, जो अज्ञात-वास से निकलकर तुख्तारों की इतनी बड़ी शक्ति के विरुद्ध सिर उठाया था और उसे ललकारा था, वह बहुत अधिक वीरता का काम था। उन यूनानियों पर कभी पारसियों का प्रत्यक्ष रूप से शासन नहों था, पर जो ग्रादेश

पूरी-कुशन सिङ्कें का प्रभाव चंगाल की खाड़ी तक था, पर विहार के बाहर साधारणतः राजमहल की पहाड़ियों तक ही उनका प्रचार तथा प्रभाव था। ऐसा प्रसिद्ध है कि उड़ीसा पर भी एक बार यवनों का आक्रमण हुआ था, पर यह आक्रमण संभवतः कुशन यवनों का था।

१. भेड़ाधाट में एक कुशन शिलालेख पाया गया है।

२. कनिष्ठ का पूर्वज चहंतकीन अपने संबंध में जो जो चांते कहा करता था, उन्हें जानने के लिये देखो अलबेरनी २, १० (J. B. O. R. S. खंड १८, पृ० २२५।)

आज-कल संयुक्त प्रांत और विहार कहलाता है, उस पर कुशन साम्राज्य का प्रत्यक्ष रूप से अधिकार और शासन था। यह कोई नाम मात्र की अधीनता नहीं थी जो सहज में दूर कर दी जाती और न यह केवल दूर पर टैंगा हुआ प्रभाव का परदा था जो सहज में फाढ़ डाला जाता। यहाँ तो प्रत्यक्ष रूप से ऐसे बलवान् और शक्तिशाली साम्राज्य-शक्ति पर आकमण करना था जो स्वयं उस देश में उपस्थित थी और प्रत्यक्ष रूप से शासन कर रही थी। भार-शिवों ने एक ऐसी ही शक्ति पर आकमण किया था और सफलतापूर्वक आकमण किया था। जो शातबाहन इधर तीन शताब्दियों से दक्षिण के सम्राट् होते चले आ रहे थे, वे शातबाहन अभी पश्चिम में शक-शक्ति के विरुद्ध लड़-भगड़ ही रहे थे कि इधर भार-शिवों ने वह काम कर दिखलाया जिसे अभी तक दक्षिणापथ के सम्राट् पूरा नहीं कर सके थे।

§ ४०. जिस प्रकार शिवजी बराबर योगियों और त्यागियों की तरह रहते हैं, उसी प्रकार भार-शिवों का शासन भार-शिव शासन की भी विलक्षण योगियों का सा और सरल सरलता था। उनकी कोई बात शानदार नहीं होती थी, सिवा इसके कि जो काम उन्होंने उठाया था, वह अवश्य ही बहुत बड़ा और शानदार था। उन्होंने कुशन साम्राज्य के सिवकों और उनके ढंग की उपेत्ता की और फिर से पुराने हिंदू ढंग के सिवको बनाने आरंभ किए।

उन्होंने गुप्तों की सी शान-शौकत नहीं बढ़ाई। शिव की तरह उन्होंने भी जान-बूझकर अपने लिए दरिद्रता धंगीकार की थी। उन्होंने हिंदू प्रजातंत्रों को स्वतंत्र किया और उन्हें इस योग्य कर दिया कि वे अपने यहाँ के लिये जैसे सिक्के चाहें, वैसे सिक्के बनावें और जिस प्रकार चाहें, जीवन निर्वाह करें। जिस प्रकार शिवजी के पास बहुत से गण रहा करते थे, उसी प्रकार इन भार-शिवों के चारों ओर भी हिंदू राज्यों के अनेक गण रहा करते थे। वस्तुतः वही लोग शिव के बनाए हुए नंदी या गणों के प्रमुख थे। वे केवल राज्यों के संघ के नेता या प्रमुख थे और सब जगह स्वतंत्रता का ही प्रचार तथा रक्षा करते थे। वे लोग अश्वमेघ यज्ञ तो करते थे, पर एकराट् सम्भ्राट् नहीं बन बैठते थे। वे अपने देशवासियों के मध्य में सदा राजनीतिक शैव बने रहे और सार्वराष्ट्रीय दृष्टि से साधु और त्यागी बने रहे।

§ ४१. शिव का उपासक एक संकेत या चिद्र का उपासक हुआ करता है और बिंदु की उपासना या आराधना करता है। ये शिव के उपासक अवश्य ही बैद्र मूर्तिपूजकों को उपासना की दृष्टि से निम्न कोटि के उपासक समझते रहे होंगे।

१. नाग-वाकाटक काल में लंका के बौद्ध लोग भगवान् बुद्ध का दाँत आंप से उठाकर लंका ले गए थे (§ १७५)। इससे सूचित होता है कि उन दिनों भारत में बौद्ध उपासना का आदर नहीं रह गया था (मिलाओ § १२६)।

भार-शिव लोग चाहे बौद्धों को इस प्रकार निम्न कोटि का समझते रहे हों और चाहे न समझते रहे हों, परंतु इतना तो हम अवश्य ही निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि नाग देश में कम से कम इस विचार से तो बौद्ध धर्म का अवश्य ही पतन या हास हुआ होगा कि उसने राष्ट्रीय सम्भवता के शत्रुओं के साथ राजनीतिक मेल कर रखा था। उन दिनों बौद्ध धर्म मानों एक अत्याचारी वर्ग का पोष्य पुत्र बना हुआ था; और जब उस वर्ग के अत्याचारों का निर्मूलन हुआ, तब उसके साथ साथ उस धर्म का भी अवश्य ही पतन हुआ होगा। आरंभिक गुणों के समय में बौद्ध धर्म का जो इतना अधिक पतन या हास हुआ था, उसका कारण यही है। भार-शिव राजाओं के समय में उसका यह पतन या हास और भी अधिक बढ़ गया था। बौद्ध धर्म उस समय राष्ट्रीयता के उच्च तल से पतित हो चुका था और उसने अ-हिंदू स्वरूप धारण कर लिया था। उसका रूप ऐसा हो गया था जो हिंदुत्व के चेत्र से बाहर था; और इसका कारण यही था कि उसने कुशनों के साथ संबंध स्थापित कर लिया था। कुशनों के हाथ में पड़कर बौद्ध धर्म ने अपनी आध्यात्मिक स्वतंत्रता नष्ट कर दी थी और वह एक राजनीतिक साधन बन गया था। जैसा कि राजतंत्रियों से सूचित होता है, कुशनों के समय में काश्मीर में बौद्ध भिज्ञ समाज में उपद्रव और खराबी करने-

बाले अत्याचारी और भार-स्वरूप समझे जाते थे । आर्यवर्त्त में भी लोग उन भिजुओं को ऐसा ही समझते रहे होंगे । समाज को फिर से ठीक दशा में लाने के लिये शैव साधुता या विरक्ति एक आवश्यक प्रतिकार बन गई थी । शकों ने हिंदू जनता को निर्बल कर दिया था और उस निर्बलता को दूर करने के लिये शैव साधुता एक आवश्यक वस्तु थी । कुशनों के लोलुपता पूर्ण साम्राज्यवाद का नाश कर दिया गया और हिंदू जनता में नैतिक हटिसे जो दोष था गए थे, उनका निवारण किया गया । और जब यह काम पूरा हो चुका, तब भार-शिव लोग चेत्र से हट गए । शिव का उहेश्य पूरा हो चुका था, इसलिये भार-शिव लोग आध्यात्मिक कल्याण और विजय के लिये फिर शिव की भक्ति में लीन हो गए । अंत तक उन पर कोई विजय प्राप्त नहों कर सका था और न कभी उन्होंने अपने आचरण को भौतिक स्वार्थ से कलंकित ही किया था । वे शंकर भगवान् और उनके भक्तों के सच्चे सेवक थे और इसी लिये वे अपना सेवा-कार्य समाप्त करके इतिहास के चेत्र से हट गए थे । इस प्रकार का सम्मानपूर्ण और शुभ अंत क्वचित् हो होता है और भार-शिव लोग ऐसे अंत के पूर्ण रूप से पात्र थे । भार-शिवों ने आर्यवर्त्त में फिर से हिंदू राज्य की स्थापना की थी । उन्होंने हिंदू साम्राज्य का सिंहासन फिर से स्थापित कर दिया था, राष्ट्रीय सभ्यता की भी प्रस्थापना कर दी थी और अपने

देश में एक नवीन जीवन का संचार कर दिया था । प्रायः चार सौ वर्षों के बाद उन्होंने फिर से अश्वमेघ यज्ञ कराए थे । उन्होंने भगवान् शिव की नदी माता गंगा की पवित्रता फिर से स्थापित की थी और उसके उद्गम से लेकर संगम तक उसे पापों और अपराधों से मुक्त कर दिया था और इस योग्य बना दिया था कि वाकाटक और गुप्त लोग अपने मंदिरों के द्वारों पर उसे पवित्रता का चिह्न समझकर उसकी मूर्त्तियाँ स्थापित करते थे । उन्होंने ये सभी काम

१. गंगा की प्राचीनतम फल्यर की मूर्त्ति जानस्वट नामक स्थान में है (देखो इस ग्रन्थ का दूसरा प्लेट) । इसके बाद की मूर्त्ति यमुना की मूर्त्ति के साथ भूमरा में है; और इसके बाद की मूर्त्तियाँ देवगढ़ में मिलती हैं जिनका वर्णन कनिधम ने A. S. R. खंड १०, पृ० १०४ में पाँचवें मंदिर के अंतर्गत किया है । इन मूर्त्तियों के सिर पर पाँच फनवाले नाग की छाया है । ये मूर्त्तियाँ ठीक उसी प्रकार पाखों के नीचेवाले भाग में हैं, जिस प्रकार समुद्रगुप्त के एरनवाले विष्णु-मंदिर में हैं । देवगढ़ में का नाग-छत्र अनुपम है और उसके जोड़ का नाग-छत्र और कहीं नहीं मिलता । पैराशिक हृषि से गंगा और यमुना के साथ नाग का कोई संबंध नहीं है । नदी संबंधी भावना का संबंध भार-शिवों के समय से है (देखो § ३०); और इस मूर्ति के साथ जो नाग रखा गया है, उससे हमारे इस विचार का प्रबल समर्थन होता है । नाग गंगा और नाग यमुना उस नाग सीमा की दोनों नदियों की सूचक है जिसे उन लोगों ने स्वतंत्र किया था । नदी संबंधी भावनाओं का जान-बूझकर जो राजनीतिक महात्म रखा गया था उसके संघ में मिलाओ $\text{₹} ८६$ ।

कर डाले थे, पर फिर भी अपना कोई स्मारक पीछे नहीं छोड़ा था । वे केवल अपनी कृतियाँ छोड़ गए और स्वयं अपने आपको उन्होंने मिटा दिया ।

₹ ४२. दस अश्वमेघ यज्ञ करनेवाले नागों ने—यदि आज-कल के शब्दों में कहा जाय तो नाग सम्राटों ने—उन प्रजातंत्रों

नाग और मालव का रक्षण और वर्धन किया था जो समस्त पूर्वी और पश्चिमी मालव में और

संभवतः गुजरात, आभीर, सारे राजपूताने, यैधेय और मालव और कदाचित् पूर्वी पंजाब के एक अंश मढ़ में फैले हुए थे; और ये समस्त प्रदेश गंगा की तराई के पश्चिम में एक ही संबद्ध और विस्तृत क्षेत्र में थे । इसके उपरांत वाकाटकों के समय में जब समुद्रगुप्त ने रंगमंच में प्रवेश किया था, तब ये सब प्रजातंत्र अवश्य ही स्वतंत्र थे । जान पड़ता है कि मालव प्रजातंत्रों की स्थापना ऐसे लोगों और वर्गों ने की थी जो नागों के सगे संबंधी ही थे । जैसा कि एरन के प्रजातंत्री सिक्कों से सूचित होता है, विदिशा के आस-पास के निवासी बहुत आरंभिक काल से ही नागों के उपासक थे । स्वयं एरन या ऐरिकिण नगर का नाम ही ऐरक के नाम पर पड़ा है जो नाग था और एरन के सिक्कों पर नाग या सर्प की मूर्ति मिलती है । मालवों ने जयपुर के पास कर्कोट नागर नामक स्थान में अपनी राजधानी बनाई थी और यह नाम नाग कर्कोट के नाम पर रखा गया था । यह स्थान आज-

कल उनियारा के राजा के राज्य में है जो जयपुर के महाराज का एक करद राज्य है और टोक से २५ मील पूर्व-दक्षिण में स्थित है। राजधानी के नाम कर्कट नागर में जो नागर शब्द है, स्वयं उसका संबंध भी नाग शब्द के साथ है। यहाँ ध्यान में रखने योग्य महत्व की एक बात यह भी है कि नाग राजाओं और प्रजातंत्री मालवों की सम्भवता एक ही थी और सम्भवतः वे लोग एक ही जाति के थे। राजशेखर कहता है कि टक्क लोग और मरु के निवासी अपन्धंश के मुहावरों का प्रयोग करते थे। जैसा कि हम अभी बतला चुके हैं, पद्मावती के गणपति नाग का परिवार टाक-वंशी था, जिसका अभिप्राय यह है कि वह परिवार टक देश से आया था। इससे हमें पता चलता है कि मालव और नाग लोग एक ही बोली बोलते थे। जान पड़ता है कि जब प्रजातंत्री मालव लोग आरंभ में पंजाब से चले थे, तब टक्क नाग भी उन लोगों के साथ ही वहाँ से चले थे। साथ ही यह भी पता चलता है कि स्वयं नाग लोग भी मूलतः प्रजातंत्री वर्ग के ही थे—पंचकर्पट के ही थे (देखो ६ ३१) —पैर वे वस्तुतः पंजाब के रहनेवाले थे जो पीछे से मालवा में आकर बस गए थे।

§ ४३. नाग सम्बाट् उस आंदोलन के नेता बन गए थे दूसरे प्रजातंत्र जो कुशनों के शासन से स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिये उठा था। नाग काल में मालवों, यौधेयों और कुणिंदों (मद्रकों) ने फिर से अपने

अपने सिक्के बनाने आरंभ कर दिए थे । यदि इस विषय में अधिक सूच्ना विचार किया जाय तो बहुत संभव है कि यह पता चल जाय कि उनके इन सिक्कों का नाग सिक्कों के साथ संबंध था; और यह भी पता चल जाय कि उन पर के चिह्न या अंक एक ही प्रकार के थे अथवा वे सब नामों के अधीन थे । मालव प्रजातंत्री सिक्कों का पद्यावती के सिक्कों के साथ जो संबंध है, उसका पता पहले ही चल चुका है और सब लोगों के ध्यान में आ चुका है । डा० विंसेंट स्मिथ कहते हैं कि उन नाग सिक्कों का परवर्ती मालव सिक्कों के साथ घनिष्ठ संबंध है^१ । कुछ अंतर के उपरांत मालव सिक्के फिर ठीक उसी समय बनने लगे थे, अर्थात् लगभग दूसरी शताब्दी ईसवी में बनने लगे थे जिस समय पद्यावती के नाग सिक्के बने थे^२ । यौधेय सिक्के भी फिर से ईसवी दूसरी शताब्दी में ही बनने आरंभ हुए थे^३ और कुणिंद सिक्कों का बनना

१. भार-शिवों के सिक्कों में वृक्ष का जो अद्भुत चिह्न मिलता है और उस वृक्ष के आस-पास जो और चिह्न बने रहते हैं (देखा ६२-२६ क-२६ ख) वे उस समय के और भी अनेक प्रजातंत्री सिक्कों पर पाए जाते हैं ।

२. C. I. M. पृ० १६४ ।

३. रैप्सन I. C. पृ० १२, १३ मिलाओ C. I. M. पृ० १७६-७७ ।

४. C. I. M. पृ० १६५ ।

तीसरी शताब्दी में आरंभ हुआ था^१; और जान पड़ता है कि इसका कारण यही है कि कुणिंद लोग सबके अंत में स्वतंत्र हुए थे। यही बात दूसरे शब्दों में इस प्रकार कही जा सकती है कि यौधेयों और मालवों का पुनरुत्थान नागों के साथ ही साथ हुआ था।

§ ४४. कुशन शक्ति को खास धक्का नाग सम्राटों के हाथों लगा था। पर साथ ही यह बात भी प्रायः निश्चित नाग साम्राज्य, उसका सी है कि इन बड़े बड़े प्रजातंत्रों का स्वरूप और विस्तार एक संघ सा था; और इसलिये नागों को अपने इन युद्धों में इन प्रजातंत्री समाजों से भी अवश्य ही सहायता मिली होगी। हम कह सकते हैं कि नाग साम्राज्य एक प्रजातंत्री साम्राज्य था। जान पड़ता है कि मगध में कोट राजवंश का उत्थान भी इन्हीं नागों की अधीनता में हुआ था (देखो तीसरा भाग)। गुप्त राजवंश की जड़ भी नाग काल में ही जमी थी और पुराणों में इस बात का स्पष्ट रूप से उल्लेख है। (देखो तीसरा भाग § ११०)। यहाँ यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि नाग लोग भी उत्तर से ही चलकर आए थे और पूर्व में आकर बस गए थे (देखो तीसरा भाग § ११२)। मगध के कोट और प्रयाग के गुप्त भी संभवतः नाग साम्राज्य के अधीनस्थ और अंतर्गत ही थे। वायु और ब्रह्मांड पुराण में इस बात का

उल्लंख है कि विहार में नव नागों की राजधानी चंपावती में थी। नागों ने अपने राज्य का विस्तार मध्य प्रदेश तक कर लिया था; और इस बात का प्रमाण परवर्ती बाकाटक इतिहास से और नागवर्द्धन, नंदिवर्द्धन तथा नागपुर आदि स्थान-नामों से मिलता है। विंध्य पर्वतों के ठीक मध्य में पुरिका में भी उनकी एक राजधानी थी और वही मानों मालवा जाने के लिये प्रवेश-द्वार था। हम यह मान सकते हैं कि मोटे हिसाब से विहार, आगरे और अवध के संयुक्त प्रदेश, बुंदेलखण्ड, मध्य प्रदेश, मालवा, राजपूताना और पूर्वी पंजाब का मद्र प्रजातंत्र सभी भार-शिवों के साम्राज्य के अंतर्गत थे। कुशनों ने भार-शिव काल के ठीक मध्य में—अर्धांत सन् २२६-२४१ई० में—अर्देशिर की अधीनता स्वीकृत की थी और सन् २३८ से २६८ ई० के बीच में उन्होंने अपने सिकंड़ पर शापुर की मूर्त्ति को स्थान दिया था। यह भार-शिवों के दबाव का ही परिणाम था। इस प्रकार भार-शिवों के दस अश्वमेघ कोरे यज्ञ ही नहीं थे।

§ ४५. अश्वमेघ किसी राजवंश के पुनरुत्थान, राजनीतिक पुनरुत्थान और सनातनी संस्कृति के पुनरुद्धार के नागर स्थापत्य सूचक होते हैं। परंतु इन अश्वमेघों के अतिरिक्त इस बात का एक और स्वतंत्र प्रमाण भी मिलता है कि उस समय सनातनी संस्कृति का पुनरुद्धार और नवीन युग का आरंभ हुआ था। नागर

शब्द—जैसा कि कर्कोट नागर आदि शब्दों में पाया जाता है—निस्संदेह रूप से नाग शब्द के साथ संबद्ध है और उस शब्द का देशी भाषा का रूप है जो यह सूचित करता है कि इस शब्द की व्युत्पत्ति नाग शब्द से है; और ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार नगरधन शब्द=नागरवद्धन (§ ३२) में है। स्थापत्य शास्त्र का एक पारिभाषिक शब्द है नागर शैली; और इसकी व्याख्या केवल इस बात को आधार मानकर नहीं की जा सकती कि इसका संबंध नगर (शहर) शब्द के साथ है। मत्स्य पुराण में—जिसमें सन् २४३ ई० तक की अर्थात् गुप्त काल की समाप्ति से पहले की ही राजनीतिक घटनाओं का उल्लेख है—यह शैली-नाम नहीं मिलता। पर हाँ, मानसार नामक ग्रंथ में यह शैली-नाम अवश्य आया है और वह ग्रंथ गुप्त काल में अब्दवा उसके बाद बना था। नागर शैली से जिस शैली का अभिप्राय है, जान पड़ता है कि उस शैली का प्रचार नाग राजाओं ने किया था। इस संबंध में हमें यह भी याद रखना चाहिए कि इस रूप में नागर शब्द का प्रयोग और स्थानों में भी हुआ है। गंगा की तराई बुलंदशहर में रहनेवाले ब्राह्मण नागर ब्राह्मण कहलाते हैं। जो मुसल-

१ एफ० एस० ग्राउन ने J. B. A. S. १८७६, पृ० २७१ में लिखा है—“नगर के मुख्य निवासी नागर ब्राह्मणों की संतान हैं जो औरंगजेब के समय से मुसलमान हो गए हैं और जिनकी यह धारणा है कि हमारे पूर्वज जनमेजय के पुरोहित थे और उन्हींने जनमेजय का

मानों के समय में मुसल्लमान हो गए थे; और अहिच्छत्र के पास रहनेवाले जाट लोग नागर जाट कहलाते हैं। इनमें से उक्त ब्राह्मण लोग नागों के पुरोहित थे; और इस नाग शब्द में जो 'र' लगा हुआ है, वह नागों के साथ उनका संबंध सूचित करता है। स्थापत्य शाख में इसी नागर शैली की तरह देशी भाषा में एक और शैली कहलाती है जिसका नाम वेसर शैली है; और नागर शैली से उसमें अंतर यह है कि उसमें नागर की अपेक्षा फूल-पत्ते और बेल-बूटे आदि अधिक होते हैं। संस्कृत शब्द वेष है जिसका अर्थ है—पहनावा या सजावट। और प्राकृत में इसका रूप वेस अथवा वेस हो गया है और उसका अर्थ है—फूल-पत्तों या बेल-बूटों से युक्त (देखो शिल्परत्र १६, ५० वेसरम् वेष्य उच्यते^१)। नागर और वेसर दोनों ही शब्दों में मूल शब्द नाग और वेष में देशी भाषा के नियमानुसार उसी प्रकार र अन्तर

यत्ते कराया था और इसी के पुरस्कार-स्वरूप उन्हें इस नगर और इसके आस-पास के गाँवों का पट्ठा मिला था।”

१ रोज (Rose) कृत Glossary of the Tribes & Castes of the Punjab & the N.W.F. Provinces १६१६, संड १, पृ० ४८।

२ मिलाओ हाथीगंफावाले शिलालेख E. I. २०, पृ० ८०, पंक्ति १३ का विशिक्त शब्द जो राज या इमारत बनानेवाले के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। हिंदी में वेसर (वेसर) एक गहने का नाम है जो नाक में पहना जाता है।

जोड़ दिया गया है जिस प्रकार ग्रंथ (गाँठ) शब्द से बने हुए गढ़र शब्द में जुड़ा है। इसी प्रकार नागर में मूल शब्द नाग है। धार्मिक भवनों या मंदिरों आदि की वह शैली वेसर कहलाती है जिसमें ऊपरी या बनावटी सजावट और बेल-चूटे आदि बहुत होते हैं। इसके विपरीत नागर वह सीधी-सादी शैली है जो हमें गुप्तों के बनवाए हुए चौकोर मंदिरों, नचना नामक स्थान के पार्वती के बाकाटक मंदिर और भूमरा (भूमरा, देखो परिशिष्ट क) के भार-शिव मंदिर में मिलती है। वह एक कमरे या कोठरीबाला गृह (निवास-स्थान) या (मत्स्यपुराण २५२, ५१; २५३.२)।

यद्यपि नागों की पुरानी इमारतों की आभी तक अच्छी तरह जाँच-पढ़ताल नहीं की गई है, तो भी हम जानते हैं कि मालव प्रजातंत्र की राजधानी कर्कोट नागर में असली वेसर शैली की इमारतें भी थीं। कारलेले ने A. S. R. खंड ६, पृ० १८६ में उस मंदिर का वर्णन किया है जिसकी उसने खुदाई की थी और उसे अद्भुत आकृतिबाला बतलाया है। वह लिखता है—

“इस छोटे से मंदिर में यह विशेषता है कि यह बाहर से देखने में प्रायः बिलकुल गोल है अबवा अनेक पाश्वों से युक्त गोलाकार है; और इसके ऊपर किसी समय संभवतः एक शिखर रहा होगा और अंदर पत्थरों के ढोकों की चुनी हुई एक चौकोर कोठरी रही होगी; क्योंकि इस बात का कोई

चिद्र नहीं मिलता कि इसमें कोई खंभेदार सभा-मंडप, ड्योढ़ो
या कोई गर्भगृह रहा होगा ।”

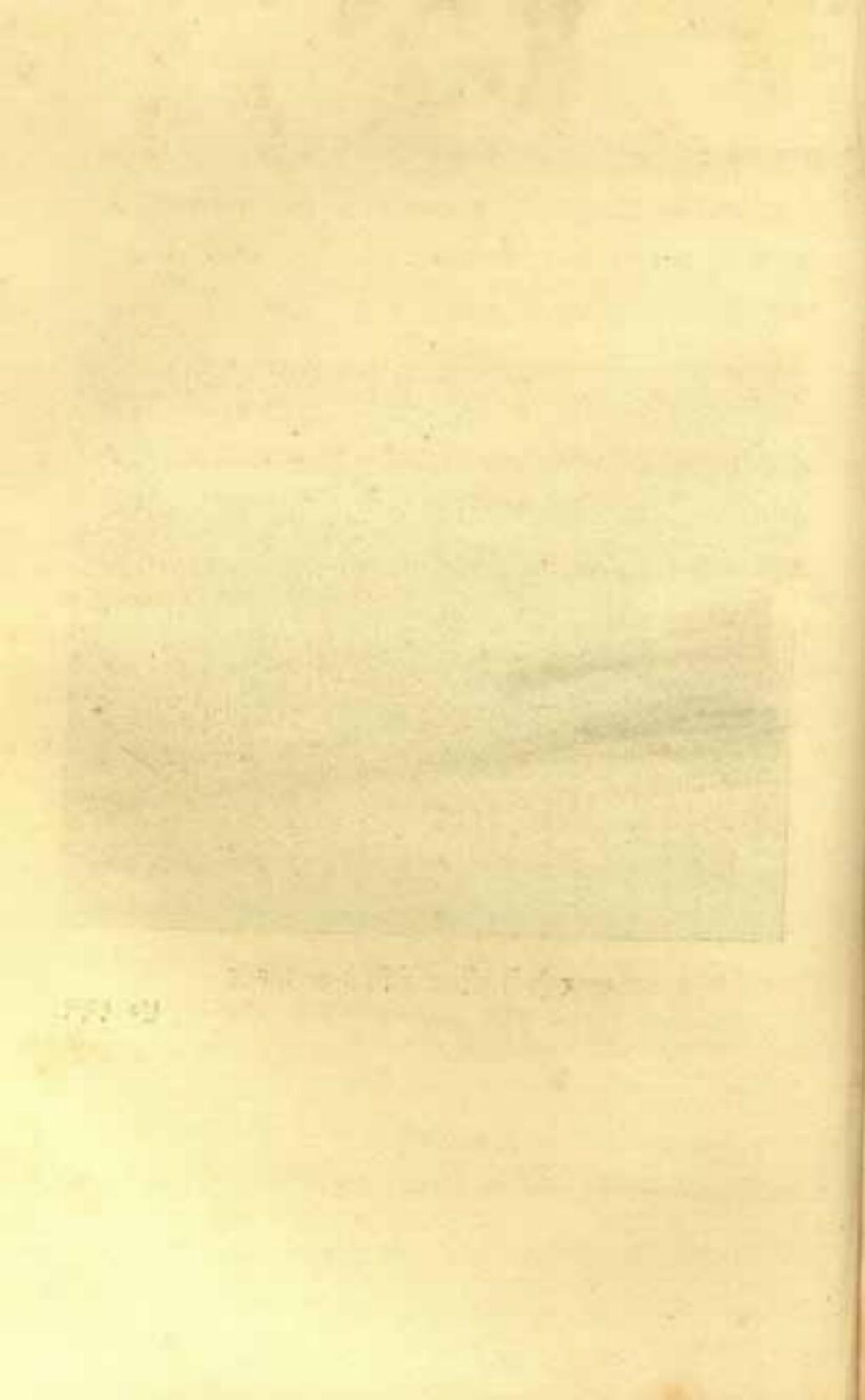
इस काल में एक शिखर-शैली भी मिलती है । इसमें
नागर ढंग की चौकोर इमारत पर चौपहला शिखर होता
है । इस शैली का एक बहुत छोटा मंदिर मुझे सूरजमऊ
में मिला है । इस मंदिर में पहले शिव-लिंग प्रतिष्ठित था,
पर अब वह लिंग बाहर है और यह मंदिर नाग बाबा का
मंदिर कहलाता है । कर्कोट नागर में शिखरोंवाले जो छोटे
छोटे मंदिर मिले हैं, वे सब किसी एक ही ढंग के नहीं हैं ।
सूरजमऊ में मैंने जो मंदिर हँड़ निकाला था, उसका नीचे-
बाला चौकोर भाग बिलकुल गुप्त शैली का था; और ऊपरी
या शिखरवाले अंश को देखने से जान पढ़ता है कि उसमें
एक पर एक कई दरजे थे और पर्वत के शिखर के ढंग
पर बने थे । खजुराहो में चौसठ योगिनियों के जो मंदिर हैं,
वे सब भी इसी ढंग के हैं । कनिंघम ने चौसठ योगिनियों के
मंदिरों का समय राजा ढंग के प्रपिता से पहले का अर्थात्
लगभग सन् ८०० ई० का निर्धारित किया है (A. S. R. २१,
५७) और उसका यह निर्धारण बहुत ठीक है । यदि

१. नागर ढाँचे के संबंध या नकशे के संबंध में मिलाओ गोपी-
नाथ राव कृत Iconography २, १, पृ० ६६ । नागर चतुरख-
स्पात् । देखा शिल्पलन १६, ५८ ।



खजुराहो में चौंसठ योगिनी का मन्दिर

पृ० १२२



सूरजमऊवाले नाग बाबा के मंदिर^१ और चौंसठ योगिनियों को मंदिरों^२ को देखा जाय तो तुरंत ही पता चल जाता है कि नाग बाबा वाला मंदिर बहुत पुराना है। कनिंघम का तिगोवा में इस प्रकार के छोटे-छोटे ३४ मंदिरों की नींवें मिली थीं^३ और ये सब मंदिर पूर्व की ओर तो खुले हुए थे और बाकी तीनों ओर से बंद थे, अर्थात् ये सबके सब बिल-कुल सूरजमऊवाले मंदिर की तरह ये और लंबाई-चौड़ाई में भी उसके बराबर ही थे। वहाँ की मूर्तियों के संबंध में कनिंघम का मत था कि ये गुप्त काल की बनी हुई हैं और इन मंदिरों का समय भी उसने यही निर्धारित किया था। स्मिथ ने अपने History of India नामक ग्रंथ के प्रकाशन के उपरांत तिगोवाबाले मंदिरों के भग्नावशेष के पूर्व-निर्धारित समय में कुछ परिवर्तन या सुधार किया था और कहा था कि ये बाकाटक काल के अर्थात् समुद्रगुप्त के समय के हैं^४। सुभे वहाँ शिखरों के बहुत से चैकोर टुकड़े मिले थे। कर्कीट

१. देखो माडर्न रिव्यू (Modern Review) अगस्त १८३२। सूरजमऊ कसवा मध्य भारत में छतरपुर के पास है।

२. सुभे अमी तक कहीं इनके चिन्ह नहीं मिले हैं। देखो प्लेट २ क।

३. A. S. R. ६, ४१-४४।

४. J. R. A. S. १८१४, पृ० ३३४। मैं इससे सहमत हूँ। इसमें का वारीक काम वैसा ही है जैसा नचना में है। स्थान का नाम तिगवाँ है।

नागरवाले छोटे छोटे शिखर-युक्त मंदिर भी कम से कम सन् ३५० ई० के लगभग के होंगे; और इसी समय के उपरांत से मालवों का फिर कुछ पता नहीं चलता और इस उजड़े हुए नगर में उस समय के पीछे का कोई सिक्का नहीं मिलता। ये छोटे मंदिर, जिनके भग्नावशेष कर्कोटि नागर और तिगोवा में मिले हैं, ऐसे हिंदू मंदिर हैं जो मन्त्रत पूरी होने पर बनवाए गए थे और ठीक उसी तरह के हैं, जिस तरह के स्तूप कुशन-काल में मन्त्रत पूरी होने पर बनवाए जाते थे। इस प्रकार स्थापत्य की हाइ से भी ये मंदिर कुशन-काल के ठीक बाद ही बने होंगे। मन्त्रत पूरी होने पर जो शिखरवाले मंदिर बनवाए जाते थे, उनकी अपेक्षा साधारण रूप से बनवाए हुए मंदिर अवश्य ही बहुत बड़े होते होंगे। शिखर बहुत पुराने समय से बनते चले आते थे। हाथी-गुंफावाले शिल्पालेख (लगभग १६० ई० पू०) में भी शिखरों का उल्लेख है जहाँ कहा गया है—“ऐसे सुंदर शिखर जिनके अंदर नक्काशी का काम किया है।” यह भी उल्लेख है कि वे शिखर बनाने-वालों को, जिनकी संख्या एक सौ थी, सम्राट् खारबेल की ओर से भूमि-संबंधी दानपत्र मिले थे (एपिग्राफिया इंडिका, २०, पृ० ८०, पंक्ति १३)। नागर शिखर एक विशेष प्रकार का और संभवतः बिलकुल नए ढंग का होता था, जिसका बनना नागों के समय अर्थात् भार-शिव राजवंश के शासन-काल में आरंभ हुआ था; और उन्होंके नाम पर उस शैली

को स्थायी और बहुत दूर तक प्रचलित 'नागर' नाम प्राप्त हुआ था। वाकाटक काल में, जो नाग काल के उपरांत हुआ था, हमें नागर शिखर का नमूना नचना के चतुर्मुख शिववाले मंदिर के रूप में मिलता है। वहाँ पार्वती का जो मंदिर है, वह पर्वत के अनुरूप बना था और उसमें बन्य पशुओं से युक्त गुफाएँ भी बनी थीं। परंतु शिव के मंदिर में केवल शिखर (कैलास) ही है। ये दोनों मंदिर एक ही समय में बने थे और दोनों शैलियाँ भी एक ही काल में प्रचलित थीं। इन दोनों का वही समय निश्चित किया गया है जो गुप्त मूर्तियों का समय कहलाता है; और इसका अभिप्राय यह है कि वे मंदिर गुप्तों के बाद के तो नहीं हैं, परंतु फिर भी वे गुप्तों नहीं हैं। उन पर की मूर्तियाँ और

१. इस चतुर्मुख मंदिर के संबंध में विद्वानों ने बहुत सी अटकल-पच्चू बातें कही हैं। वे कहते हैं कि चतुर्मुख का शिखरवाला मंदिर संभवतः बाद का बना हुआ है। परंतु वे लोग यह बात भूल जाते हैं कि वे दोनों मंदिर एक ही योजना के अंग हैं और दोनों की मूर्तियाँ एक ही छेनी की बनी हैं। दोनों ही मंदिर अपने मूल रूप में और पहले मसाले से बने हुए वर्तमान हैं। वे एक ही योजना के अंग हैं। एक में पर्वतों में रहनेवाली पार्वती है और उसकी दीवारें पर्वतों के अनुरूप बनी हैं; और दूसरे में कैलास के सूचक शिखर के नीचे चतुर्मुख लिंग है। ये मंदिर विलक्षण एकांत में बने थे और इसी लिये मूर्तियाँ और मंदिरों को तोड़नेवालों के हाथों से बच गए। देखो अंत में परिशिष्ट।

बेल-बूटे बनानेवाले कारीगर एक ही थे । चतुर्मुख शिव के मंदिर का शिखर बहुत ऊँचा है और उसके पाश्वे कुछ गोलाई लिए हैं और उसकी ऊँचाई लगभग ५० फुट है । वह एक ऊँचे चूतरे पर बना है । उसमें खंभे या सभा-मंडप नहीं है (देखो परिशिष्ट क) ।

§ ४६ क. भूमरा-मंदिर का पता स्व० श्री राखालदास बनर्जी ने लगाया था । यह मंदिर उन्हें पश्चिमी बघेलखंड

भूमरा मंदिर की नागौद रियासत के उच्चहरा—गुप्त

वाकाटक-काल के शिलालेखों का उच्छ्र-
कल्प—नामक स्थान में मिला था और उन्होंने इसका समय ईसवी पौच्चवों शताब्दी निश्चित किया है । यह मंदिर अवश्य ही भार-शिवों का बनवाया हुआ है । यह शैव मंदिर है । नचना के चतुर्मुख शिव की तरह का एक लिंग इस मंदिर में स्थापित किया गया था और इस मंदिर की शैली का अनुकरण समुद्रगुप्त के समय एरन में किया गया था । इस मंदिर में ताड़ की जो विलक्षण आकृतियाँ हैं, वही नागों की परंपरागत बातों के साथ इसका संबंध स्थापित करती हैं । ताड़ नागों का चिह्न था और यह ताड़

१. Archaeological Memoir सं० १६, पृ० ३, ७ । इसमें मन्नावशेष के चित्र भी हैं; और उस मन्नावशेष में को कुछ वस्तुएँ अवलकन्ते के इंडियन म्यूजियम या अजायबगाह में चली गई हैं । इसके समय के लिये देखो अत में परिशिष्ट क ।

पद्मावती में भी मिला है जो नागों की राजधानियों में से एक थी। भूमरा में तो हमें पुरे खंभे ही ऐसे मिलते हैं जो ताढ़ के बृक्षों के रूप में गढ़े गए थे (देखा प्लेट ४); और खंभों का यह एक ऐसा रूप है जो और कहीं नहाँ मिलता। हम तो इसे नाग (भार-शिव) कल्पना ही कहेंगे। सजावट के लिये ताढ़ के पत्ते (पंखे) के कटावों का उपयोग किया गया है। उसमें मनुष्यों की जो मूर्त्तियाँ हैं, वे भी बहुत सुंदर और आदर्श-रूप हैं। वे मूर्त्तियाँ बहुत ही जान-दार हैं और उनके सभी अंगों से सजीवता टपकती है। न तो कहाँ कोई ऐसी बात है जो बिलकुल आरंभिक अवस्था की सूचक हो और न कोई ऐसा चिह्न है जो पतन-काल का चोधक हो। वे बिलकुल खास ढंग की बनी हैं, उनके बनाने में विशिष्ट कल्पना से काम लिया गया है और वे विशेष रूप से गढ़ी गई हैं। ये सब मूर्त्तियाँ उसी तरह की हैं जिस तरह की हमें मथुरा में प्रायः मिलती हैं। यहाँ हमें वह असली और पुरानी हिंदू कला मिलती है जो सीधी भरहुत की कला से निकली थी; और भरहुत वहाँ से कुछ ही मीलों पर है। भरहुत यों तो भूमरा से पहले का है, पर भरहुत को देखने से यह पता चलता है कि वह पहले की एक और प्रकार की हिंदू कला के पतन-काल का बना है। अब तक यह पता नहाँ चलता था कि भारत की राष्ट्रीय सनातनी कला के साथ उदयगिरि-देवगढ़वाली गुप्तीय कला

का क्या संबंध है; पर भूमरा के मंदिरों को देखने से स्पष्ट पता चल जाता है कि यह उन दोनों की संयोजक शृंखला है। राष्ट्रीय सनातनी कला के बजेलखंड और दुंदेलखंड में ही वची हुई दिखाई पड़ती है जहाँ कुशनों का शासन उस कला का यथेष्ट रूप से नाश नहीं कर पाया था। भार-शिव और वाकाटक संस्कृति में बहुत ही थोड़ा अंतर है, क्योंकि वाकाटक संस्कृति वसी भार-शिव संस्कृति का परंपरागत रूप या शेषांश है; और इसलिये हम कुछ निश्चयपूर्वक यह बात मान सकते हैं कि भार-शिवों के समय में राष्ट्रीय रूपदात्री कला का पुनरुद्धार हुआ था; और इस बात की पुष्टि जानखट के भग्नावशेषों से होती है जिनका पहले से और स्वतंत्र अस्तित्व था। भार-शिवों से पहले जो शिखर बनते थे, वे चौकोर मीनार के रूप में होते थे, जैसा कि पाटलिपुत्र में मिले हुए उस धातु-खंड से सूचित होता है जिस पर बोध गया का चित्र बना है और जिस पर ईसवी पहली या दूसरी शताब्दी का एक लेख अंकित है। साथ ही सन् १५० ईसवी के लगभग की बनी हुई और मशुरा में मिली हुई शिखर-मंदिरों की उन दोनों मूर्त्तियुक्त प्रतिकृतियों से भी, जिनकी ओर डा० कुमारस्वामी ने ध्यान आकृष्ट किया है, यही बात सूचित होती है। भार-शिव और वाकाटक शिखर चौकोर मंदिर के

ऊपर चौकोर मीनार के रूप में होते हैं और उस मीनार पर कुछ उभार होता है। कुशनों के उपरांत नए ढंग का यह शिखर अवश्य ही भार-शिव काल में बनना आरंभ हुआ था; और इसी शैली को हम नागर शिखर कह सकते हैं।

§ ४७. गुप्तों के समय में आकर पत्थर के मंदिरों में यह शिखर-शैली पुरानी और परित्यक्त हो जाती है। पर ही, गुप्त काल में ईंटों और चूने के जो मंदिर आदि बनते थे, उनमें इस नागर शैली की अवश्य प्रधानता रहती थी। मध्य-कालीन स्थापत्य में स्तंभ और शिखर का चौकोर और गोल बनावट का अर्थात् नागर और वेसर शैलियों का सम्मिश्रण पाया जाता है और नागर शैली की कुछ प्रधानता रहती है।

§ ४८. चित्र-कला की भी एक नागर शैली थी। देखने में तो उसका भी नाग काल से ही संबंध सूचित होता है, पर अभी तक हम लोग उसे पूरी तरह से नागर चित्र-कला पहचान नहीं सकते हैं। और अजंता में अस्तरकारी पर बने हुए जो हमारे पुराने चित्र बने हैं, यदि उनमें किसी समय आगे चलकर इस शैली का कुछ विशिष्ट रूप से स्पष्टीकरण हो जाय और उसका पता चल

१. मिलाओ केंच नामक स्थान के ईंटों के बने हुए गुप्त मंदिर के संबंध में कनिष्ठम का लेख A. S. R. १६, प्लेट १७, पृ० ५२।

जाय तो मुझे कुछ भी आश्चर्य न होगा । अजंता सन् २५०
ईसवी के लगभग नाग साम्राज्य में सम्मिलित हुआ था ।

§ ४८. यह बात निश्चित है कि नागों ने प्राकृत भाषा
का तिरस्कार नहीं किया था । अपने सिक्कों पर वे प्राकृत
भाषा का व्यवहार करते थे । राजशेखर
यद्यपि बाद में हुआ है, तो भी उसने
लिखा है कि टक्के लोग अपञ्च-श-भाषाओं का व्यवहार
करते हैं । कुशनों के आने से पहले भी प्राकृत ही राज-
भाषा थी और उनके बाद भी वही बनी रही । राजनीतिक
चेत्र में वे प्रजातंत्रवादी थे और भाषा के संबंध में भी वे
प्रजा के बहुमत का ध्यान रखते थे ।

§ ४९ क. इसी प्रकार यह भी बतलाया जा सकता है
कि लिपि का नाम नागरी क्यों पड़ा । मैं समझता हूँ कि
नागर लिपि लिपि का यह नाम नाग राजवंश के
कारण पड़ा है; क्योंकि शीर्ष-रेखा लगा-
कर अच्छे को लिखने की प्रथा उन्हों के समय में चली थी;
और इसके अस्तित्व का प्रमाण हमें पृथिवीपेण प्रथम के समय
से नचना और गंज के शिलालेखों में मिलता है । बाका-

१. एपिग्राफिया इंडिका खंड १७, पृ० ३६२ में जो यह एक नई
बात कही गई है कि नचना और गंज के शिलालेख पृथिवीपेण
द्वितीय के हैं, उससे मैं जोरदार शब्दों में अपना मत-मेद प्रकट करता
हूँ । मैंने उनकी लिपियों का बहुत ध्यानपूर्वक मिलान किया है

टक शिलालेखों में अच्चर ऊपर की ओर संदूक-नुमा शीर्ष-रेखा से विरो हुए मिलते हैं, पर सन् ८०० ई० के लगभग नागरी लिपि में वह एक सीधी रेखा के रूप में हो गई थी। जान पड़ता है कि नागरी नाम का प्रयोग उस लिपि के लिये होता था जो इसबो चौथी शताब्दी में तथा पाँचवीं शताब्दी के आरंभ में प्रचलित थी और जिसमें अच्चरों की शीर्षरेखा संदूकनुमा होती थी। यह बात भी विशेष रूप से ध्यान में रखने की है कि इस संदूकनुमा लिपि का सबसे अधिक प्रचार भी ठीक उन्हीं स्थानों में था, जिन स्थानों में नागों का शासन सबसे प्रबल था, अर्थात् बुंदेलखण्ड और मध्य प्रदेश में ही इस लिपि का विशेष प्रचार था। मध्य प्रदेश में हमें नाग काल के पहले का एक कुशन शिलालेख भेड़ाघाट में मिलता है जो साधारण बाह्यों लिपि में है। इसलिये विलचण संदूकनुमा लिपि का प्रचार कुशनों के उपरांत और बाकाटकों के पहले हुआ था। हम निरिचत रूप से और दृढ़तापूर्वक कह सकते हैं कि उसका प्रचार नाग काल में हुआ था।

और यह स्थिर करना असंभव है कि वे इसबो चौथी शताब्दी के बाद के हैं। इन लेखों के काल के संबंध में प्लीट का जो मत था, वह चिलकुल ठीक था। पृथिवीपेण द्रितीय के प्लेटों से यह बात स्पष्ट रूप से प्रकट होती है कि नचनावाला पृथिवीपेण उक्से बहुत पहले हुआ था। (बाकाटक शिलालेखों के संबंध में देखो § ६१ क।)

§ ५०. गंगा और यमुना की मूर्तियाँ और नाग काल के साथ उनके संबंध का उल्लेख उपर हो चुका है।

गंगा और यमुना वाकाटक काल में भी इस प्रकार की मूर्तियाँ बराबर मिलती हैं (§८६); और आगे गुप्त कला में भी तथा उसके उपरांत चंदेल कला में भी इस प्रकार की मूर्तियाँ देखने में आती हैं।

§ ५१. इसके उपरांत जो दूसरा बड़ा अर्थात् गुप्त काल आया, उसमें हमें सामाजिक बातों में सहसा एक परिवर्त्तन

गौ की पवित्रता दिखाई देता है। गुप्त शिलालेखों में हमें यह लिखा हुआ मिलता है कि गौ और साँड़ पवित्र हैं और इनकी हत्या नहीं होनी चाहिए। इस प्रकार की धारणा का आरंभ संभवतः नाग काल में हुआ था। कुशन लोग गौओं और साँड़ों की हत्या करते थे^१। पर भार-शिवों के लिये साँड़ एक पवित्र चिह्न के रूप में था और यहाँ तक कि वे स्वयं अपने आपको भी नंदी मानते थे। संभवतः उनके कारण उनके सारे साम्राज्य में साँड़ पवित्र माना जाने लगा था और यहाँ से

१. कनिष्ठम A. S. R. २१, ५६. कनिष्ठम ने जिस फाटक का उल्लेख किया है, वह आजकल खजुराहो के म्यूजियम या अजायबघर के द्वार पर लगा है।

२. देखो आगे गुप्तों के प्रकरण में कुशनों के शासन का विवरण (§ १४६ ख।)

मानों उनका काल उस पिछले राजनीतिक काल से अलग होता था, जिसमें कुशनों की पाकशाला के लिये आम तौर पर सौँड़ मारे जाते थे। गुप्त काल में राजाओं को इस बात का गर्व रहता था कि हम सौँड़ों और गौओं के रखक हैं; और इस प्रकार वे कुशनों के शासन के मुकाबले में स्वयं अपने शासन की एक विशेषता दिखलाते थे। आधुनिक हिंदुत्व की नींव नाग सभ्राटों ने रखी थी, बाकाटकों ने उस पर इमारत खड़ी की थी, और गुप्तों ने उसका विस्तार किया था।

दूसरा भाग

वाकाटक राज्य (सन् २४८-२८४ ई०)

वाकाटक साम्राज्य (सन् २८४-३४८ ई०) और परवर्ती
वाकाटक काल (सन् ३४८-५५० ई०) के संबंध
में एक परिशिष्ट^१

वाकाटकललाभस्य क्रमग्रात्मनृपथियः—वाकाटक मोहर।

१. वाकाटक

§ ५२. वाकाटक शिलालेखों आदि से नीचे लिखी वार्ते
भली भाँति सिद्ध होती हैं। समुद्रगुप्त की विजयों से प्रायः
वाकाटक और उनका एक सौ वर्ष पहले वाकाटक नाम का
महस्व एक राजवंश हुआ था। इस राजवंश
का पहला राजा विंध्यशक्ति^२ नाम का एक ब्राह्मण था।

१. वाकाटकों का परवर्ती इतिहास (सन् ३४८-५५० ई०) इसमें
इसलिये सम्मिलित कर लिया गया है कि एक तो उसका सांस्कृतिक
दृष्टि से महस्व था और दूसरे और कहीं उसका वर्णन भी नहीं हुआ था।

२. जान पड़ता है कि यह उसका असली नाम नहीं था, वल्कि
राज्याभिषेक के समय धारण किया हुआ अभिषेक-नाम था, और उस
देश के नाम पर रखा गया था जिस देश में उसकी शक्ति का उदय
हुआ था।

इन राजाओं का गोत्र विष्णुवृद्ध था और यह भारद्वाजों का एक उप-विभाग है। इस राजवंश का दूसरा राजा प्रबरसेन था; और उसके उपरांत जितने राजा हुए, उन सबके नामों के अंत में सेन शब्द रहता था। विष्णुशक्ति का पुत्र प्रबरसेन था और आगे इसका उल्लेख प्रबरसेन प्रथम के नाम से होगा। इसने केवल चार अश्वमेघ यज्ञ ही नहीं किए थे, बल्कि भारत के सम्राट् की उपाधि भी धारण की थी। इसने इतने अधिक दिनों तक राज्य किया था कि इसका सबसे बड़ा लड़का गौतमीपुत्र सिंहासन पर बैठ ही नहीं सका और इसका पोता रुद्रसेन प्रथम इसका उत्तराधिकारी हुआ। इसका पुत्र गौतमीपुत्र एक ब्राह्मणी के गर्भ से उत्पन्न हुआ था, जैसा कि स्वयं उसके नाम से ही स्पष्ट है। परंतु स्वयं गौतमीपुत्र का विवाह भव नाग नामक एक भार-शिव त्रिविंश राजा की कन्या के साथ हुआ था। उसकी इसी ज्ञात्राणी पत्नी के गर्भ से रुद्रसेन का जन्म हुआ था जो प्रबरसेन प्रथम का पोता और भव नाग का नाती था। हमें इसको रुद्रसेन प्रथम कहना पड़ेगा, क्योंकि प्राचीन हिंदू-धर्मशास्त्र के अनुसार उसी वंश में यह नाम और भी कई राजाओं का रखा गया था; और यह एक ऐसी प्रथा थी जिसका अनुकरण गुप्तों ने भी किया था। रुद्रसेन का पुत्र पृथिवीपेण प्रथम था और उसके समय तक इस राजवंश को अस्तित्व में आए १०० वर्ष हो चुके थे। यथा—

चर्ष-शतम् अभिवर्ज्मान-कोष-दंड-साधन ।

अर्थात्—जिसके कोष और दंड-साधन—शासन के साधन—एक सौ वर्ष तक बराबर बढ़ते गए थे ।

इस पृथिवीयेण ने—जिसकी राजनीतिक तुल्यमत्ता, वीरता और उत्तम शासन की बहुत प्रशंसा की गई है—कुंतल के राजा को अपने अधीन किया था । यह कुंतल देश कर्नाटक देश और कदंब राज्य का एक अंग था; और इस कदंब राज्य के संबंध की बातें हम आगे चलकर बतलावेंगे । पृथिवीयेण प्रथम के पुत्र रुद्रसेन द्वितीय का विवाह चंद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य की कन्या से हुआ था जिसका नाम प्रभावती गुप्त था । इस प्रभावती गुप्त का जन्म सम्राज्ञी कुवेर नागा के गर्भ से हुआ था जो नाग वंश की राजकुमारी थी । जब प्रभावती गुप्त के पति रुद्रसेन द्वितीय की मृत्यु हुई, तब वह अपने अल्पवयस्क पुत्र युवराज दिवाकरसेन की अभिभावक बनकर राज्य का शासन करती थी । जिस समय राजमाता प्रभावती गुप्त ने पूनावाले दानपत्र प्रस्तुत किए थे, उस समय उसके पुत्र दिवाकरसेन की अवस्था तेरह वर्ष की थी । दिवाकरसेन के उपरांत उसका जो दूसरा पुत्र दामोदर-सेन-प्रबरसेन गढ़ी पर बैठा था, उसके अभिभावक के रूप में भी प्रभावती ने कुछ दिनों तक शासन किया था । इस

१. चमक, दूदिया और बालाघाट के प्लेट (देखो ह ६१ क ।)

दामोदरसेन-प्रवरसेन ने भी १६ वर्ष की अवस्था में एक घोषणापत्र निकाला था जो हम लोगों को मिला है^१ । इस देहरे नाम दामोदरसेन-प्रवरसेन से सिद्ध होता है कि इन राजाओं में दो नाम रखने की प्रथा थी । एक नाम तो राज्याभिषेक से पहले का होता था और दूसरा नाम राज्याभिषेक के समय रखा जाता था, जिसे चंपा (कंबोडिया) के शिलालेख में अभिषेक-नाम कहा गया है^२ । इसी प्रकार गुप्त सम्राट् चंद्रगुप्त द्वितीय के भी दो नाम थे—एक देवगुप्त और दूसरा चंद्रगुप्त^३ । दामोदरसेन-प्रवरसेन ने २५ वर्ष की अवस्था में राज्याधिकार अपने हाथ में लिया होगा, क्योंकि शास्त्रों में राज्याभिषेक की यही अवस्था बतलाई गई है^४ । इस प्रकार अपने दो पुत्रों के अल्पवयस्क रहने की दशा में प्रभावती गुप्त ने संभवतः २० वर्षों तक अभिभावक रूप में राज्य किया होगा । न तो कभी प्रभावती गुप्त ने और न वयस्क होने पर उसके पुत्र ने ही गुप्त संवत् का व्यवहार किया था । अतः हम निश्चयपूर्वक यह मान सकते हैं कि उस समय बाकाटकों की ऐसी स्थिति हो गई थी कि चंद्रगुप्त

१. पूर्णे के दूसरे प्लेट । I. A. ५३, पृ० ४८.

२. डा० आर० सी० मजुमदार कृत Champa (चंपा) नामक छाँगरेजी ग्रंथ, पृ० १५७ ।

३. J. B. O. R. S. खंड १८, पृ० ३८ ।

४. हिन्दू-राज्यतत्र, दूसरा भाग, § २४३ ।

द्वितीय और उसके उत्तराधिकारियों के शासन-काल में वाकाटक राज्यों में गुप्त संवत् का व्यवहार करने की आवश्यकता ही नहीं होती थी। यद्यपि समुद्रगुप्त के उपरांत वाकाटक लोग गुप्तों के साम्राज्य में थे, तो भी वे लोग पूरे स्वतंत्र राजा थे। अजंता के शिलालेखों और बालाघाट के दानपत्रों से यह भी स्पष्ट है कि इन लोगों के निजी करद राजा भी थे और वे स्वयं ही युद्ध तथा संघि करते थे। उन्होंने त्रिकूट, कुंतल और आंध्र आदि देशों के राजाओं पर विजय प्राप्त की थी और उन्हें अपना करद राजा बनाया था। उनका राज्य बुंदेलखण्ड की पश्चिमी सीमा से, जहाँ से बुंदेलखण्ड शुरू होता है अर्थात् अजयगढ़ और पत्ता से, आरंभ होता था; और समस्त मध्य प्रदेश तथा बरार में उनका राज्य था। त्रिकूट देश पर भी उन्हों का राज्य था जो उत्तरी कोकण में स्थित था और वे समुद्र तक मराठा देश के उत्तरी भाग के भी स्वामी थे। वे कुंतल अर्थात् कर्नाटक और आंध्र देश के पड़ोसी थे। वे विंध्य की सारी उपत्यका और विंध्य तथा सतपुड़ा के बीच की तराई पर, जिसमें मैकल पर्वतमाला भी सम्मिलित थी, प्रत्यक्ष रूप से शासन करते थे। अजंता घाटों से होकर दक्षिण जाने का जो मार्ग था, वह भी उन्हों के अधिकार में था। उनके साम्राज्य में दक्षिण कोशल, आंध्र, पश्चिमी मालवा और उत्तरी हैदराबाद (₹७३ पाद-टिप्पणी) सम्मिलित था। और भार-शिवों से उत्तराधिकार में उन्होंने

जो कुछ पाया था, वह इससे अलग था । इस प्रकार उनके प्रत्यक्ष शासन में बहुत बड़ा राज्य था जो समुद्रगुप्त के शासन-काल में कम हो गया था, पर उसके बादवाले शासन-काल में वह सब उन्हें फिर से वापस मिल गया था । बल्कि बहुत कुछ संभावना तो इसी बात की जान पड़ती है कि वह सब अंश उन्हें स्वयं समुद्रगुप्त के शासन-काल में ही वापस मिल गया था, क्योंकि कदंब का जो नया राज्य स्थापित हुआ था, उसके साथ पृथिवीयेण प्रथम ने युद्ध किया था और वहाँ के राजा को अपना अधीनस्थ बना लिया था (§§८२, २०३) ।

§ ५३. जब तक पुराणों की सहायता न ली जाय और भार-शिव साम्राज्य के अधीनस्थ भारत का इतिहास न देखा जाय, तब तक उनके इतिहास के अधिकांश का कुछ पता ही नहीं चलता । इन्हों दोनों की सहायता से अब हम यहाँ बाकाटक इतिहास की बातें बतलाते हैं । वास्तव में यह भारत का प्रायः अर्द्ध शताब्दी का इतिहास है जिसे हमें बाकाटक काल कहना पड़ता है । एक तो काल के विचार से इसका महत्व बहुत अधिक है; और दूसरे इसलिये इसका महत्व है कि इससे परवर्ती साम्राज्य-काल अर्थात् गुप्त साम्राज्य के उदय और प्रगति से संबंध रखनेवाली बहुत सी बातों का पता चलता है । सीमा तथा विस्तार की दृष्टि से भी और संस्कृति की दृष्टि से भी गुप्तों ने केवल उसी

साम्राज्य पर अधिकार किया था जो प्रबरसेन प्रथम स्थापित कर चुका था । यदि पहले से वाकाटक साम्राज्य न होता तो फिर गुप्त साम्राज्य भी न होता ।

§ ५४. प्रबरसेन प्रथम वह पहला राजा था जिसने प्राचीन सनातनी सम्बाटों की उपाधि “द्विरश्वमेधयाजिन्” (दो अश्वमेध यज्ञ करनेवाले) का परित्याग किया था । प्रायः पाँच सौ वर्ष पूर्व आर्यावर्त के सम्बाट् पुष्यमित्र शुंग ने तथा दक्षिणापथ के सम्बाट् श्री सातकर्णि प्रथम ने यह उपाधि कई सौ वर्षों के उपरांत फिर से धारण करना आरंभ किया था । सम्बाट् प्रबरसेन ने चार अश्वमेध यज्ञ किए थे और साथ ही बृहस्पति सब भी किया था जो केवल ब्राह्मण ही कर सकते थे । इसके अतिरिक्त उसने कई वाजपेय तथा दूसरे यज्ञ भी किए थे । भार-शिव लोग सम्बाट् की उपाधि नहों धारण करते थे, परंतु प्रबरसेन ने सम्बाट् की उपाधि भी धारण की थी; और वह इस उपाधि का पूर्ण रूप से पात्र भी था, क्योंकि उसने दक्षिण पर भी अपना अधिकार जमाया था (§ ५२, १७६) और ऐसी सफलता प्राप्त की थी, जैसी मौर्य सम्बाटों के उपरांत तब तक और किसी ने प्राप्त नहीं की थी । हमें पता चलता है कि उत्तरी दक्षिणापथ का बहुत बड़ा अंश उसके साम्राज्य के अंतर्गत आ गया था ।

₹ ५५, यद्यपि यह बात देखने में विलक्षण सी जान पड़ती है, परं फिर भी यह तो संभव है कि भारतीय इतिहास की आधुनिक पाठ्य पुस्तकों में अब पुराणा और वाकाटक तक वाकाटक साम्राज्य के संबंध में एक भी पंक्ति न लिखी गई हो, परं यह संभव नहीं था कि पुराणों में राजाओं और राजवंशों के जो विवरण दिए गए हैं, उनमें विंध्यशक्ति और प्रवरसेन के राजवंश का उल्लेख न हो। चार चार अश्वमेध यज्ञ करना कोई मामूली बात नहीं थी; और न किसी व्यक्ति का सम्राट् की उपाधि धारण करना और अपने आपको मांधारा तथा वसु का सम-कच्च बनाना ही कोई सामान्य व्यापार था। जिन पुराणों ने भारत में राज्य करनेवाले विदेशी राजकुलों तक का वर्णन किया है, वे प्रवरसेन और उसके वंश को कभी भूल नहीं सकते थे; और वास्तव में बात भी यही है कि वे उन्हें भूले नहीं हैं। तुखार अर्थात् कुशन राजवंश के पतन का उल्लेख करने के उपरांत तुरंत ही उन्होंने विंध्यकों के राजवंश का उल्लेख किया है और उस वंश के मूल पुरुष का नाम उन्होंने विंध्यशक्ति दिया है और उसके पुत्र का नाम प्रवीर बतलाया है। कहा गया है कि यह नाम बहुत प्रसिद्ध और प्रचलित है और इसका शब्दार्थ है—बहुत बड़ा वीर। पुराणों में उसके बाजपेय यज्ञों का भी उल्लेख है; और वायु पुराण के एक संस्करण में, जो वस्तुतः मूल ब्रह्मांड पुराण

है । वाजपेय शब्द के स्थान में वाजिमेध शब्द मिलता है जिसका अर्थ अश्वमेध ही है और यह शब्द भी बहुवचन में रखा गया है—वाजिमेधैश्च २ । संस्कृत व्याकरण के अनुसार इस शब्द का अर्थ यह है कि उसने तीन या इससे अधिक अश्वमेध यज्ञ किए थे । उसका शासन-काल ६० वर्ष बतलाया गया है । यद्यपि यह काल बहुत विस्तृत है, तो भी एक तो वाकाटक शिलालेखों से और दूसरे इस बात से इसका समर्थन होता है कि अश्वमेध यज्ञ एक तो बहुत दिनों तक होते रहते हैं और दूसरे बहुत दिनों के अंतर पर होते हैं; और इसलिये चार अश्वमेध यज्ञ करने में ४०-५० वर्ष अवश्य ही लगे होंगे । तीन बातों से इस सिद्धांत का पूर्ण रूप से समर्थन होता है—(१) विंध्यशक्ति और प्रवीर के उदय का समय जो पुराणों में गुमों से पहले और तुखारों के बाद आता है; (२) इस राजवंश के मूल पुरुष के नाम दोनों स्थानों में एक ही हैं; और (३) वाजिमेधों और प्रवीर के बहुकाल-व्यापी शासन का उल्लेख । और इसके साथ वह

१ पारजिटर द्वारा संपादित वायु पुराण का मत डा० हालवाले ब्रह्मांड पुराण के मत से पूरी तरह से मिलता है । आज-कल ब्रह्मांड पुराण का जो मुद्रित संस्करण मिलता है, वह संशोधित संस्करण है । ब्रह्मांड पुराण की हस्त-लिखित प्रति इतनी दुर्लभ है कि न तो वह मि० पारजिटर को ही मिल सकी और न मुझे ही ।

२ पारजिटर कृत Purana Text पृ० ५०, टिप्पणी ३५ ।

पारस्परिक संबंध भी मिला लीजिए जो पुराणों में नाग राजवंश और प्रवरसेन में उसके प्रपौत्र के द्वारा स्थापित किया गया है और जिसका मैंने अभी ऊपर विवेचन किया है। इस प्रकार जब ये दोनों एक ही सिद्ध हो जाते हैं, तब हमें पुराणों में बाकाटकों का वह सारा इतिहास मिल जाता है जो स्वयं शिलालेखों में भी पूरा पूरा नहीं मिलता ।

§ ५६. इस बात में कुछ भी संदेह नहीं है कि बाकाटक लोग ब्राह्मण थे । उन्होंने बृहस्पति सब किए थे जो बाकाटकों का मूल केवल ब्राह्मणों के लिये ही हैं और ब्राह्मण निवास-स्थान ही कर सकते हैं । बृहस्पति सब के इस विशिष्ट रूप के संबंध में कभी कोई परिवर्तन नहीं हुआ—कभी यह नहीं माना गया कि ब्राह्मणों के अतिरिक्त और लोग भी बृहस्पति सब कर सकते हैं । उनका गोत्र विष्णु-बृह भी ब्राह्मणों का ही गोत्र है और जो अब तक महाराष्ट्र प्रदेश के ब्राह्मणों में प्रचलित है^१ । इसके अतिरिक्त विष्णवशक्ति को स्पष्ट रूप से द्विज या ब्राह्मण कहा गया है—द्विजः प्रकाशो भुवि विष्णवशक्तिः^२ । अब इनके मूल निवास-

१ इस सूचना के लिये मैं प्रो॰ डी॰ आर॰ मांडारकर का अनुग्रहीत हूँ ।

२ A. D. S. R. खंड ४, पृ० १२५ और १२८ की पाद-टिप्पणी । प्लेट ५७ ।

स्थान को लोजिए । पुराणों में इसे विंध्यक या विंध्य देश का राजवंश कहा गया है जिससे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि ये लोग विंध्य प्रदेश के रहनेवाले थे; और आगे विचार करने से उनके ठीक निवास-स्थान का भी पता चल जाता है । विंध्यक या बाकाटक लोग किलकिला नदी के तट के या उसके आस-पास के प्रदेश के रहनेवाले थे (किलकिला-याम्) । कुछ लोग यही समझते होंगे कि यह वही नदी है जो नक्षों में केन के नाम से दी गई है; पर इसमें कल्पना के लिये कोई स्थान ही नहीं रह जाता, क्योंकि मेरे मित्र (अब स्व०) राय बहादुर हीरालाल ने स्वयं किलकिला देखी है जो पन्ना के पास एक छोटी नदी है और जो अपने स्वास्थ्यनाशक जल के लिये बदनाम है । इस प्रकार हम फिर उसी अवयव-गढ़ और पन्नावाले प्रदेश में आ पहुँचते हैं जहाँ बाकाटकों के सबसे प्राचीन शिलालेख मिले हैं और यह वही गंज-नचना का प्रांत है । विदिशा के नागों और प्रबोरक का उल्लेख करते समय भागवत पुराण में इन सबको एक ही वर्ग में

१. इस नदी का पूरा विवरण मुझे सतना (रीवौं) के अधिक शारदा-प्रसाद ने लिख भेजा है जिससे मुझे पता चला कि मैंने इस नाले को दो बार यिन उसका नाम जाने ही, उसकी तलाश में, पार किया था । यह नाला पन्ना से होकर बहता है । नागाद से पन्ना जाते समय इसे पार करना पड़ता है । यह एक सँकरा नाला है । देखो पृ० १४ की पाद-टिप्पणी ।

रखकर “किलकिला के राजा लोग” कहा है। इसका अभिप्राय यही है कि उक्त पुराणा पूर्वी मालवा, विदिशा और किलकिला को एक ही प्रदेश मानता है या पूर्वी मालवा को भी किलकिला के ही अंतर्गत रखता है। इस प्रकार सभी सम्मतियों के अनुसार इस राजवंश का स्थान चुंदेलखंड में ठहरता है।

§ ५७. अब हमें वाकाटक शब्द के इतिहास पर भी कुछ विचार कर लेना चाहिए। वाकाटकानाम् महाराज श्री अमुक अमुक आदि जो पद मिलते हैं, उनका यह अभिप्राय नहीं है कि अमुक अमुक नाम के राजा वाकाटक जाति के राजा थे; बल्कि इसका अभिप्राय केवल यही है कि अमुक अमुक महाराज वाकाटक राजवंश के थे। बहुवचन रूप वाकाटकानाम् का अभिप्राय ठीक उसी प्रकार केवल “वाकाटक राजवंश का” है। जिस प्रकार कदंबों के संबंध में कदंबानाम् का और उनके सम-कालीन पल्लवों के संबंध में पल्लवाण्डे (प्राकृत शब्द है जिसका अभिप्राय है पल्लवों का) का अभिप्राय होता है। “भारद्वायो पल्लवाण्ड शिवखंड वमो” में “पल्लवों का” पद विलकृत स्वतंत्र है^३। इस

१ I. A. खंड ६, पृ० २६।

२ E. I. खंड १, पृ० ५।

३ पृथिवीपेण द्वितीय के बालाघाटवाले प्लेटों का संपादन करते समय कीलहार्न ने इस बात पर जोर दिया था। E. I. खंड ६, पृ० २६६।

प्रकार वाकाटक किसी जाति का सूचक नाम नहो है, बल्कि वह एक वैयक्तिक वंश-नाम है। वाकाटक शब्द का अर्थ है—वाकाट या वकाट नामक स्थान का निवासी, जैसा कि समुद्रगुप्त के शिलालेख में महाकांतारक कौशलक और पैष्ठापुरक आदि शब्दों से महाकांतार का, कोशल का, और पिष्ठापुर का रहनेवाला सूचित होता है। वंश-नाम त्रैकूटक ठोक इसी के समान है। मुझे ओड़छा राज्य के सबसे उत्तरी भाग में चिरगाँव से छः मील पूर्व झाँसी के जिते में बागाट नाम का एक पुराना गाँव मिला था। उसके पास ही विजौर नाम का एक और गाँव है और प्रायः बागाट के साथ उसका भी नाम लिया जाता है। लोग विजौर-बागाट कहा करते हैं। वह ओड़छा की तहरौलो तहसील में है। यह क्यना और दुगर्ह नाम की दो छोटो छोटो नदियों के बीच में है जो आगे जाकर बेतवा में मिलती हैं। यह ब्राह्मणों का एक बड़ा और बहुत पुराना गाँव है और इसमें अधिकतर भागीर ब्राह्मण रहते हैं। लोगों में प्रायः यही माना जाता है कि महाभारत के सुप्रसिद्ध ब्राह्मण वीर द्रोणाचार्य का यह गाँव है। वहाँ दो बड़ी गुफाएँ हैं। लोग मुझसे कहते थे कि वे प्रायः २५ गज चौड़ी और ३० गज लंबी हैं। मैंने यह भी सुना था कि वहाँ बहुत सी मूर्तियाँ हैं। उन मूर्तियों का जो वर्णन मैंने सुना था, उससे मुझे ऐसा जान

पढ़ता था कि वे मूर्चियाँ गुप्त काल की हैं। आज तक कभी कोई पुरातत्ववेत्ता उस स्थान पर नहीं गया है। यदि वहाँ अच्छी तरह खोज और खुदाई आदि की जाय तो वहाँ अनेक शिलालेख तथा मूल्यवान् अवशेष मिल सकते हैं।

§ ५७ क. जान पढ़ता है कि पुराणों के अनुसार जिस ब्राह्मण का पहले-पहल राज्याभिषेक हुआ था, जो इस राजवंश का मूल पुरुष था और जिसने अपना उपयुक्त नाम विंध्यशक्ति रखा था, उसने अपने राजवंश की उपाधि के लिये अपने नगर या गाँव का नाम चुना था। अमरावती में एक यात्री का लेख मिला है जिसमें एक सामान्य नागरिक ने ई० पू० सन् १५० के लगभग अपने आपको वाकाटक अर्थात् वाकाट का निवासी बतलाया है। और इससे सिद्ध होता है कि वाकाट एक बहुत पुराना कसबा था। संभव है कि उस समय भी वहाँ के ब्राह्मणों को इस बात का गर्व रहा हो कि हमारा कसबा द्रोणाचार्य का निवास-स्थान है; और द्रोणाचार्य भी वाकाटकों की तरह भारद्वाज ब्राह्मण ही थे।

§ ५८. प्राचीन पुराणों में विंध्यक जाति का वर्णन नहीं है; परंतु मत्स्यपुराण के एक स्थान के पाठ की भूल के कारण किलकिला यवनाः विष्णुपुराण भी गड़बड़ी में पढ़ गया अशुद्ध पाठ है है। मत्स्यपुराण में जहाँ आंध्रों की सूची समाप्त हो गई है और उनके सम-कालीन राजवंशों का

उल्लेख आरंभ हुआ है, वहाँ अध्याय २७२, श्लोक २४ में लिखा है—तेषुत्सन्नेषु कालेन ततः किलकिला नृपाः । इस पंक्ति के साथ मत्स्य पुराण में इस प्रकरण का अंत हो गया है और आगे २५वें श्लोक से यवन-शासन का वर्णन आरंभ हुआ है जिससे वहाँ कुशन शासन (यौन, यौवन) का अभिप्राय है^१ । इस वर्णन की पहली पंक्ति को विष्णु-पुराण ने किलकिला राजाओं के वर्णन के साथ मिला दिया है; और मत्स्य पुराण की दूसरी पंक्ति यह है—भविष्यन्तीह यवना धर्मतो वामतोर्यतः । विष्णुपुराण के कर्चा ने इन दोनों पंक्तियों का अन्वय इस प्रकार किया है—तेषुत्सन्नेषु कैलकिला यवना भूपतयो भविष्यन्ति मूर्ढाभिषिक्तस् तेषां विष्यशक्तिः । इस विषय में भागवत में विष्णुपुराण का अनुकरण नहीं किया गया है और विष्णुपुराण के टीकाकार ने एक दूसरा पाठ दिया है और उसकी शुद्ध व्याख्या इस प्रकार की है कि विष्यशक्ति उस पाठ के अनुसार चत्रिय अर्थात् हिंदू राजा था । टीकाकार ने दूसरा पाठ इस प्रकार दिया है—विष्यशक्तिमूर्ढाभिषिक्त इति पाठे चत्रिय मुख्य इत्यर्थः । इस दूसरे पाठ से यह नहीं सूचित होता कि विष्यशक्ति भी कैलकिला यवनों में से था । यह भूल विलकुल स्पष्ट है और इसलिये हुई है कि यवनाः शब्द

को मत्स्यपुराणवाली दूसरी पंक्ति के कैलकिला: शब्द के साथ मिला दिया गया है । यहाँ इस बात का स्थान रखना चाहिए कि यह संगत पाठ नहीं है, बल्कि योंही रख दिया गया है । विष्णुपुराण की सभी प्रतियों में टीकाकार को यह उल्लेख नहीं मिला था कि कैलकिल लोग यवन थे । कुछ प्रतियों में उसे यह पाठ विलकुल मिला ही नहीं था, जैसा कि मि० पारजिटर को भी 'ज' (h) वाली विष्णुपुराण प्रति में नहीं मिला था^१ । जान पड़ता है कि जब आगे चलकर फिर किसी ने विष्णुपुराण का पाठ देआहराया और मत्स्यपुराण के पाठ के साथ उसका मिलान किया, तब उसने पाठ की उस भूल का सुधार किया जिसमें कैलकिलों को यवनों के साथ मिला दिया गया था । प्रकट यही होता है कि मूल प्रति में इस स्थान पर यवनों का उल्लेख नहीं था और वह बाद में मिलाया गया था ।

₹ ५८. पुराणों में विष्णशक्ति के उदय का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि विष्णशक्ति किलकिला के राजाओं में से विष्णशक्ति था । यह बात स्पष्ट है कि यहाँ पुराणों का अभिप्राय नागों से है जिनका उस समय किलकिला के साथ बहुत संबंध था, क्योंकि उनका नाम विदिशा वृष से बदलकर किलकिला वृष हो गया था, जैसा कि वायुपुराण में कहा है । यथा—

१. P. T. पृ० ४८, पाद-टिप्पणी ८२ ।

तच्छनेन च कालेन ततः किलकिला-वृषाः ।

ततः कि(कै)लकिलेभ्याश्च विष्ण्यशक्तिर्भविष्यति ॥

× × × ×

वृषान् वैदेशकांश्चापि भविष्यांश्च-निवोधत्^१ ।

भागवत में इसी प्रकार परवर्ती नागों का वर्णन किया गया है और किलकिला के राजाओं का वर्णन भूतनंदी से आरंभ करते हुए कहा गया है—

किलकिलायां नृपतयो भूतनन्दोथ वंगिरिः ।

शिशुनन्दिश्च तद्भाता यशोनन्दिः प्रवीरकः^२ ॥

पुराणो में प्रवीर को किलकिला वृषों के अंतर्गत अर्थात् पूर्वी बुंदेलखण्ड और बघेलखण्ड के भार-शिवों के साथ रखा है।

जो यह कहा गया है कि किलकिला के राजाओं में से विष्ण्यशक्ति एक राजा हुआ था, उसका अभिप्राय यह है कि वह किलकिला के राजाओं के माने हुए करद राजाओं में या उनके संघ के एक खास सदस्यों में से था। वाकाटकों के जो राजकीय लेख आदि हैं, उनमें विष्ण्यशक्ति का नाम छोड़

१. वायुपुराण, श्लोक ३५८—३६०। मिलाओ ब्रह्मांडपुराण, श्लोक १७८, १७९।

२. श्लोक ३२, ३३. भागवत में इस बात का उल्लेख दोढ़ दिया गया है कि यशःनंदी और प्रवीर के बीच में और राजा भी हुए थे।

दिया गया है और अपने स्वतंत्र राजाओं के बंश का प्रबर-
सेन से आरंभ किया गया है; और इसी से यह बात प्रमा-
णित होती है कि राष्ट्रीय संघटन की दृष्टि से विंध्यशक्ति
एक अधीनस्थ राजा था। केवल अजंता की गुफा वाले
शिलालेख में (गुफा नं० १६) बंश का जो इतिहास (चिति-
पानु-पूर्वी) दिया गया है, उसी में कहा गया है कि वाकाटक
बंश का संस्थापक विंध्यशक्ति था—वाकाटकबंशकेतुः ।
इस वर्णन से यह प्रकट होता है कि विंध्यशक्ति, जिसकी
शक्ति बड़े बड़े युद्धों में विजय प्राप्त करने से बढ़ी थी और
जिसने अपने बाहुबल से एक नए राज्य की स्थापना की
थी, जो वाकाटक बंश का केतु था और जो जन्म भर कहर
बाह्यण बना रहा (चकार पुण्येषु परं प्रयत्नम्), वस्तुतः किल-
किला के वृषों का एक सेनापति था। उसने अपने बंश
की उपाधि के लिये अपने मूल निवास-स्थान का जो नाम
चुना था, उससे सूचित होता है कि वह एक सामान्य
नागरिक था और किसी राजबंश में उसका जन्म नहीं हुआ
था। विंध्य तथा अपने निवास-स्थान वाकाट के साथ
अपना संवंध स्थापित करने में उसे देशभक्ति-जन्य आनंद
होता था। स्वयं विंध्यशक्ति भी एक गढ़कर बनाया हुआ
नाम मालूम होता है। जान पड़ता है कि आंध्र तथा
नैषध विदुर देशों में उसने बहुत से स्थानों पर विजय प्राप्त
करके उन्हें अपने अधिकार में किया था (६६७५, ७८ क) ।

§ ६०. जिस राजधानी में प्रवरसेन प्रथम राज्य करता था, वह चनका थी (₹२४); और पुराणों के वर्णन से यह

प्रकट होता है कि वह नगरी पहले से
राजधानी ही वर्तमान थी, प्रवरसेन की बसाई हुई

नहीं थी। जान पड़ता है कि यदि नागों ने उस नगरी की स्थापना नहीं की थी तो वह कम से कम विंध्यशक्ति की स्थापित की हुई अवश्य थी (₹२४ पाद-टिप्पणी)। आजकल गंज-नचना नाम का जो पुराना और किलेबंदीबाला कसबा है, वही मेरी समझ में पुराना चनका या कांचनका नाम का स्थान है जहाँ बाकाटक लोग राज्य करते थे। वह सामरिक दृष्टि से जिस स्थान पर और जिस ढंग से बना है, उससे यही सूचित होता है कि वह किसी नवीन शक्ति का बनवाया हुआ था और नवीन धारणा किए हुए 'विंध्यशक्ति' नाम की भी इससे सार्थकता हो जाती है, जिससे सूचित होता है कि विंध्य ही उसकी वास्तविक शक्ति थी। जनरल कनिंघम ने गंज-नचना की स्थिति का जो वर्णन किया है, वह इस प्रकार है—

“नाचना नाम का क्षेत्र गाँव गंज नामक कसबे के पश्चिम में दो मील की दूरी पर है और यह गंज कसबा पन्ना से दक्षिण-पूर्व २५ मील और नागोद से दक्षिण-पश्चिम १५ मील की दूरी पर है।..... जिस स्थान को नचना कहते हैं, वह बहुत सी ईटों से ढका हुआ है; और गंज से नचना को जो सड़क जाती

है, उस पर ईटों की बनी हुई इमारतों के बहुत से खड़हर हैं। लोग कहते हैं कि कूथर (नचना के किले का पुराना नाम) प्राचीन काल में बहुत बड़ा नगर था और वहाँ उस देश के राजा की राजधानी थी। नचनावाले स्थान को लोग अब तक खास कूथर कहते हैं।.....यह भी कहा जाता है कि कूथर के किले से सतना या गोरेना नाला तक एक सुरंग है। यह नाला नचना से होता हुआ बहता है और गंज से ११ मील दक्षिण-पश्चिम कियान या केन नदी में मिलता है। यह स्थान एक घाटी के द्वार पर पड़ता है और बाहरी आकमण के समय पूर्व, पश्चिम और दक्षिण की ओर पीछे हटकर विंध्य की पहाड़ियों में अपनी रक्षा के लिये जाकर रहने का इसमें अच्छा स्थान है।”

इस स्थान की पहचान पार्वती और चतुर्मुख शिव के उन देवानों मंदिरों से होती है जिनका वर्णन हम कपर कर चुके हैं और जिनके द्वारों पर गंगा और यमुना की मूर्तियाँ हैं। गंगा और यमुना की मूर्तियाँ बनाने की कल्पना विशेष रूप से वाकाटकों की है जो उन्होंने भार-शिवों से प्राप्त की थी। यह स्थान पृथिवीयेण प्रथम के तीन शिलालेखों के लिये

^१ कनिष्ठम A. S. R. संड २१, पृ० ६५। इसका शुद्ध रूप नाचना है, नाचना नहीं।

भी प्रसिद्ध है। भारतीय स्थापत्य और तचण कला के इतिहास में ये मंदिर अनुपम हैं और इन्होंने से उस कला का आरभ होता है जिसे हम लोग गुप्त कला कहते हैं। ये सभी लेख संस्कृत में हैं।

८. वाकाटकों के संबंध में लिखित प्रमाण और उनका काल-निर्णय

§ ६१. सिक्कों से हमें दो वाकाटक सम्माटों के नाम मिलते हैं—एक तो प्रवरसेन प्रथम और दूसरा रुद्रसेन प्रथम जो प्रवरसेन प्रथम का पोता और उत्तराधिकारी था, (§ ५२ पाद-टिप्पणी)। प्रवरसेन प्रथम के पिता विंध्यशक्ति का कोई सिक्का नहीं मिलता। विंध्यशक्ति वस्तुतः भार-शिव नाग सम्माटों का अधीनस्थ राजा था और संभवतः उसने अपने सिक्के बनवाए ही नहीं थे। वाकाटक सम्माटों के जिन दो सिक्कों का ऊपर उल्लेख किया गया है और जिनके बनवानेवालों का निर्णय हमने किया है, उन पर पहले कभी किसी ने ध्यान ही नहीं दिया था; क्योंकि अब तक या तो वे ठीक तरह से पढ़े ही नहीं गए थे और या बिलकुल ही नहीं पढ़े गए थे। हमने अभी प्रवरसेन प्रथम के सिक्के का विवेचन किया है (§ ३०) जो संभवतः अहिच्छव की टकसाल में बना था। रुद्रसेन प्रथम के उत्तराधिकारी वस्तुतः गुप्तों के अधीन थे; और गुप्तों का यह

नियम था कि वे अपने किसी अधीनस्थ राजा को सिक्के बनाने ही नहीं देते थे। परंतु ऐसा जान पढ़ता है कि रुद्रसेन प्रथम के पुत्र और उत्तराधिकारी पृथिवीपेण प्रथम के संबंध में इस नियम का पालन नहीं किया गया था और उसे अपवाद रूप से मुक्त कर दिया गया था और उसने अपने पुत्र रुद्रसेन द्वितीय का विवाह चंद्रगुप्त द्वितीय की कन्या से किया था। जान पढ़ता है कि उसका सिक्का भी हम लोगों को मिल चुका है। डॉ विंसेंट स्मिथ ने अपने Catalogue of the Coins in Indian Museum नामक ग्रंथ में^१, प्लेट नं० २० में, जिस छोटे और साफ सिक्के का चित्र चौथे नंबर पर दिया है और जिस पर पीछे की ओर साँड़ की एक बहुत अच्छी मूर्ति बनी है, वह सिक्का पृथिवीपेण प्रथम का ही है। इस सिक्के के सामनेवाले भाग पर वही प्रसिद्ध वृत्त बना है जो कोसम की टकसाल में बने हुए भार-शिव सिक्कों पर पाया जाता है; और उस पर एक पर्वत की भी आकृति बनी हुई है। इस पर का लेख ब्राह्मी लिपि में है। डॉ स्मिथ (पृ० १५५) ने इसे पवतस पढ़ा था जिसका अर्थ उन्होंने लगाया था—पवत का। परंतु इसमें का पहला अचर प नहीं है, बल्कि पृ है और अ॒ की मात्रा अचर के नीचे है। दूसरा अचर संयुक्त अचर है और उसमें

१. साथ ही देखो इस ग्रंथ का तीसरा प्लेट।

गुप्तीय श (जिसके मध्य में एक स्पष्ट चिन्दु है) के नीचे आधा व भी है। ऊपर की ओर F का चिह्न भी है यह श (व्) ३ पढ़ा जाना चाहिए। जिस अच्चर को डा० स्मिथ ने त पढ़ा है, वह य है और उसके ऊपरे की मात्रा है। इसके बाद का अच्चर य है। इस प्रकार पूरा नाम पृथ (व्) ३११८ अर्थात् पृथिवीष्ण जान पढ़ता है। नीचे की ओर दाहिने कोने पर रेलिंग के पास एक अंक है जो ८ के समान है और जिसका अर्थ यह है कि यह सिक्का उसके शासन-काल के नवे वर्ष में बना था। इसमें का श टेड़ा या झुका हुआ और वैसा ही है, जैसा गुप्त लेखों में पाया जाता है; और यह अच्चर भी तथा बाकी दूसरे अच्चर भी उन अच्चरों से मिलते हैं जो आरंभिक गुप्त काल में लिखे जाते थे।

इसी वर्ग (कोसम के सिक्के) में डा० स्मिथ ने उसी प्लेट नं० २० में प्रबों संख्या पर एक और सिक्के का चित्र दिया है। इस सिक्के पर का लेख उनसे पढ़ा नहीं गया था। इस पर भी वही पाँच शाखाओंवाले वृक्ष की आकृति बनी है, पर वह अधिक कल्पनामय और रुद्र रूप में है और उस पर भी पर्वत का वैसा ही चिह्न बना है, जैसा कि पृथिवी-षेण प्रथम के सिक्के (आकृति नं० ४) पर है। जान पढ़ता

१. यह सिक्का बड़ा है, इसलिये इस पर का पर्वत भी बड़ा है पर इसकी आकृति ठीक वैसी ही है, जैसी ४ नंबरवाले सिक्के पर है। मैंने इन सिक्कों के जो चित्र दिए हैं, वे उनके मूल आकार से कुछ

है कि यह पर्वत विंध्य ही है । इस पर भी वही बाकाटक चक्र बना है जो दुरेहा के स्तंभ और गंज तथा नचना के बाकाटक शिलालेखों और साथ ही प्रवरसेन प्रथम के उद्देश्य के सिक्के पर अंकित है (§ ३०) । इस सिक्के पर पीछे की ओर एक ध्वज की ओर मुख किए हुए वैसा ही दुर्बल साँड़ बना है, जैसा पल्लव मोहरों पर है (S. I. I. २, पृ० ४२१) । इसके ऊपरी भाग पर मकर का सिर बना है जो गंगा का वाहन तथा चिह्न है^२ । साँड़ के ऊपर एक और आकृति है जो एक पद-स्थल पर स्थित है और जिसके मुख के चारों ओर प्रभा-मंडल है जो संभवतः शिव की मूर्ति है । यह मूर्ति भी प्रायः वैसी ही है जैसी पल्लव मोहर पर है । पीछे की ओर चक्र के ऊपर एक किनारे लेख है

छोटे हैं । इन पर के लेख पढ़ने के लिये मैंने इनके ठप्पों से काम लिया था ।

१. इसमें साँड़ ध्वज की ओर चला जा रहा है, परंतु पल्लव मोहर पर वह शांत खड़ा है । इससे और पहले की पल्लव मोहर पर—जिसका उल्लेख E. I. संड ८, पृ० १४४ में है—साँड़ खड़ा हुआ है और साथ ही मकरध्वज भी है ।

२. मैं समझता हूँ कि ब्रैकेट के आकार का जो मकरध्वज है, उसका नाम मकर-तोरणा था । संयुक्त प्रांत में ब्रैकेट को अब तक टोड़ी या तोड़ी कहते हैं । पठने के मूर्जियम में कौसि का बना हुआ एक पुराना मकर-तोरणावाला ध्वज प्रस्तुत है जिसके ऊपर एक चक्र है । यह बकसर के पास मिला था ।

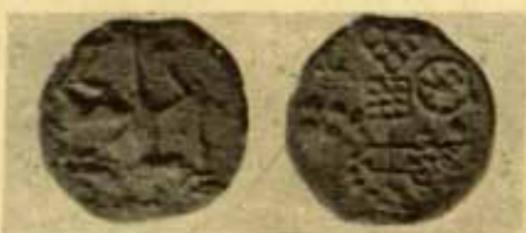
बाकाटक सिक्के

प्रवरसेन का सिक्का



15

रुद्र (सेन प्रथम) का सिक्का



C. I. M. Plate XXII.

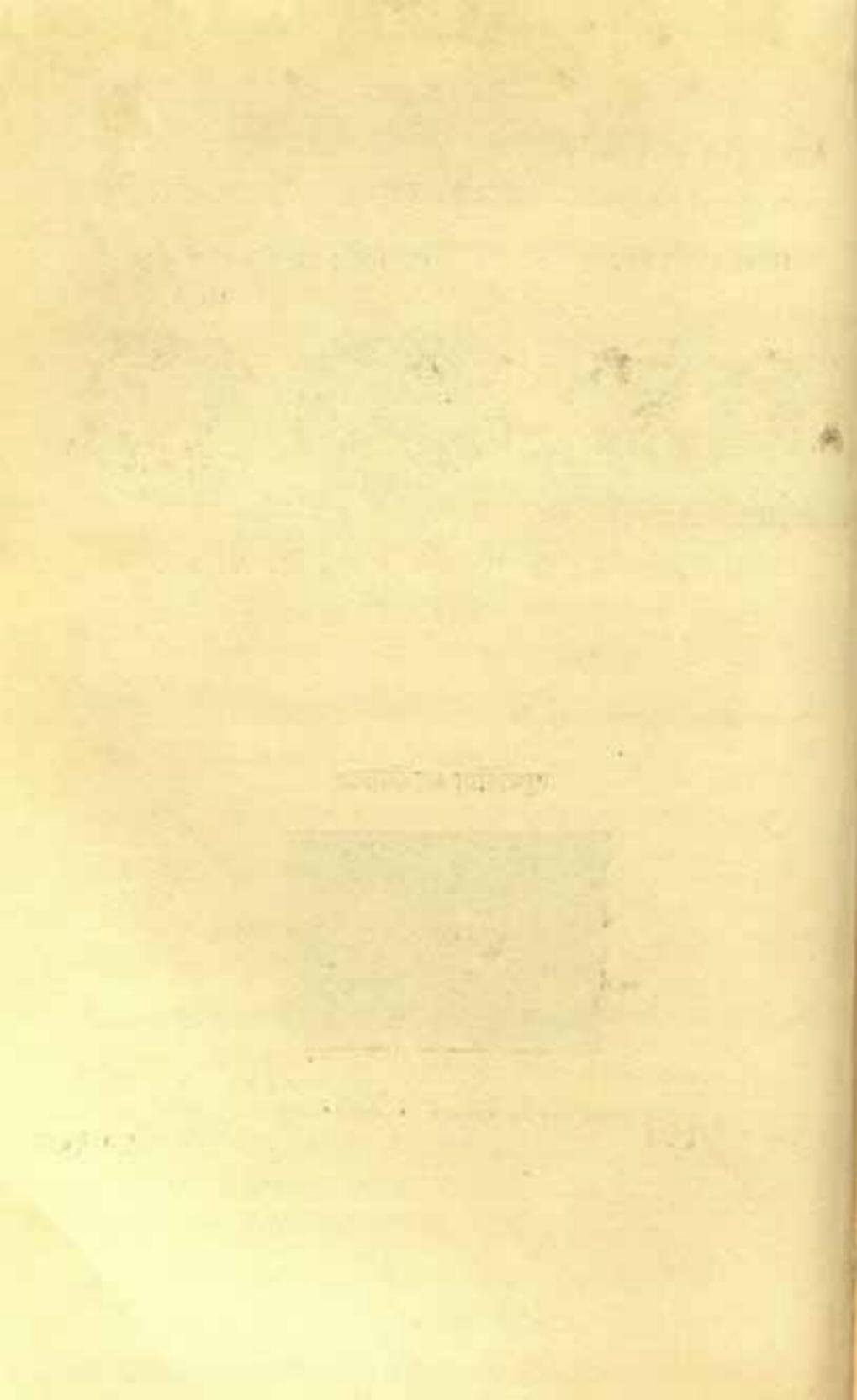
C. I. M. XX. 5.

पृष्ठीयेशा का सिक्का



C. I. M. Pl. XX. 4.

पृ० १५८



जो 'रुद्र' पढ़ा जाता है। र का ऊपरी भाग संदूकनुमा है और द के ऊपर की रेखा कुछ मोटी है। पर्वत के दाहिने भाग में १०० का अंक है। मैं समझता हूँ कि यह रुद्रसेन का सिक्का है जो संवत् १०० में बना था। यह सिक्का अपनी बनावट, गंगा के चिह्न, पर्वत, वृक्ष, साँड़ और चक्र के कारण प्रबरसेन प्रथम और पृथिवीषेण प्रथम के सिक्कों (देखें ५३०) के ही समान है।

शेष वाकाटकों के सिक्के नहीं हैं।

₹ ६१ क. मिलान के सुभीते के लिये मैं वे सब वाकाटक अभिलेख, जो अब तक प्रकाशित वाकाटक शिलालेख हो चुके हैं, काल-क्रम के अनुसार लगाकर नीचे दे देता हूँ।

पृथिवीषेण प्रथम—(क,ख,ग) पत्थर पर खुदेहुए तीन छोटे उत्सर्ग संबंधों लेख। तीनों का विषय एक ही है। पृथिवी-षेण प्रथम के शासन-काल में व्याघ्रदेव ने नचना और गंज में जो मंदिर बनवाए थे, उन्हीं के निर्माण का इनमें उल्लेख है। यह व्याघ्रदेव या तो पृथिवीषेण के परिवार का था अथवा उसका कोई कर्मचारी या करद राजा था। इन शिलालेखों पर राजकीय चक्र का चिह्न है। G. I. पृ० २३३ नं० ५३ और ५४ नचना का। E. I. खंड १७, १२ (गंज)।

प्रभावतीगुप्ता—(घ) राजमाता प्रभावती गुप्ता (चंद्रगुप्त द्वितीय और महादेवी कुबेर नागा की पुत्री) युवराज दिवाकर-

सेन की माता के अभिलेख पूनावाले प्लेट में हैं और जो १३वें वर्ष में तैयार कराए गए थे। यह दान नागपुर जिले में नंदिवर्धन ने किया था (E. I. १५, ३८)।

प्रबरसेन द्वितीय—(छ) प्रबरसेन द्वितीय के चमकवाले प्लेट। यह रुद्रसेन द्वितीय और प्रभावती गुप्ता का पुत्र था और प्रभावती गुप्ता देवगुप्त की कन्या थी। ये प्लेट १८वें वर्ष में प्रबरपुर में तैयार हुए थे। ये प्लेट बरार के एलिचपुर जिले के चमक नामक स्थान में मिले थे और भोजकट राज्य के चमक (चर्नांक) नामक स्थान से संबंध रखते हैं (G. I. पृ० २३५)।

(च) सिवनीवाले प्लेट जो मध्य प्रदेश के सिवनी नामक स्थान में मिले थे। ये प्रबरसेन द्वितीय के हैं और उसके शासन-काल के १८वें वर्ष के हैं। ये एलिचपुर जिले की एक संपत्ति के विषय में हैं (G. I. पृ० २४३)।

(छ) दामोदरसेन प्रबरसेन द्वितीय के शासन-काल के १८वें वर्ष के पूनावाले^१ दूसरे प्लेट के लेख जो राजमाता प्रभावती गुप्ता महादेवी ने, जो रुद्रसेन द्वितीय की रानी और महाराज श्री दामोदरसेन प्रबरसेन की माता थी, तैयार कराए थे। यह दान रामगिरि (मध्यप्रदेश में नागपुर के पास रामटेक) में किया गया था। (I. A. खंड ५३, पृ० ४८)।

१. इन्हें रिद्धपुरवाले प्लेट कहना चाहिए। देखा चा० हीरालाल कृत Inscriptions in C. P. & Berar. १८३२, पृ० १३८। रिद्धपुर अमरावती से २६ मील है।

(ज) प्रवरसेन द्वितीय के दूदियावाले प्लेट जो २३वें वर्ष में प्रवरपुर में प्रस्तुत कराए गए थे और मध्य प्रदेश के छिंदवाड़ा जिले में मिले थे । E. I. खंड ३, पृ० २५८ ।

(झ) प्रवरसेन द्वितीय के पटना न्यूज़ियमवाले प्लेट । ये खंडित हैं और इन पर कोई समय नहीं दिया गया है । ये प्लेट मध्य प्रदेश के जबलपुर से पटने आए थे । J. B. O. R. S. खंड १४, पृ० ४६५ ।

पृथिवीपेण द्वितीय—(अ) बालाघाटवाले प्लेट जो महाराज श्री नरेंद्रसेन के पुत्र और प्रवरसेन द्वितीय के पौत्र पृथिवीपेण द्वितीय के हैं । पृथिवीपेण द्वितीय की माता कुंतल के राजा (कुंतलाधिपति) की कन्या महादेवी अञ्जिकता भट्टारिका थी । इन पर के लेख मसौदे के रूप में हैं जो बाकी सादे अंश पर एक दान के संबंध में खोदे जाने के लिये तैयार किए गए थे । पर इनमें किसी दान का उल्लेख नहीं है । ये मध्यप्रदेश के बालाघाट जिले में पाए गए थे । E. I. १८; २६८ ।

देवसेन—(ट) अजंता के गुहा-मंदिर का शिलालेख नं० १३ (घटोत्कच गुहा) राजा देवसेन के मंत्री हस्तिभोज का लिखवाया हुआ और देवसेन बाकाटक^१ के शासन-काल में खुदवाया हुआ (बाकाटके राजति देवसेने) । यह मंत्री दक्षिणी ब्राह्मण था जिसकी वंशावली उसमें दी गई है ।

१. बुहलर ने भूल से इसे कुछ परवर्ती काल का बतलाया है ।

यह गुहा-मंदिर उसने वैद्युत-धर्म के लिये उत्सर्ग किया था ।

A. S. W. I. ४, १३८ ।

हरिषण—(ठ) अजंता का शिलालेख (बुहलर का तीसरा लेख) जो गुहा-मंदिर नं० १६ में है । यह देवसेन के पुत्र हरिषण के शासन-काल का है । देवसेन ने अपने पुत्र हरिषण के लिये राजसिंहासन का परित्याग कर दिया था । यह देवसेन प्रवरसेन द्वितीय के एक पुत्र का, जिसका नाम नहीं मिलता, पुत्र था । इस शिलालेख के पहले भाग में श्लोक १ से १८ तक वंश का इतिहास (चितिपानुपूर्वी) है । बाका-टक राजवंश के राजाओं की यह आनुपूर्वी या राजसिंहासन पर बैठनेवाले राजाओं का क्रम विध्यशक्ति से आरंभ होता है । दूसरे भाग श्लोक १९ से ३२ तक में स्वयं उस मंदिर का उल्लंखन है जिसका आशय यह है कि मंत्री वराहदेव ने, जो देवसेन के मंत्री हस्तिभोज का पुत्र था, यह गुहा-मंदिर या चैत्य बनवाकर वैद्यों के पूजन-अर्चन के लिये उत्सर्ग कर दिया था । A. S. W. I. ४, १२४ ।

(ड) अजंता के गुहा-मंदिर का शिलालेख, जो बुहलर का चौथा लेख है, राजा हरिषण के किसी अधीनस्थ और करद राजा के वंश के लोगों का बनवाया हुआ है । इसमें उनकी दस पीढ़ियों तक की वंशावली दी है और कहा गया है कि — यह गुहा-मंदिर (नं० १७) बनवाकर भगवान् बुद्धदेव के नाम पर उत्सर्ग किया गया था । इस पर हरिषण के शासन-काल

का वर्ष दिया है जिसने अपनी प्रजा के हित के काम किए
थे (परिपालयति चिरोद्वचंद्रे हरिषेणु हितकारिणी प्रजा-
नाम) । A. S. W. I. ४, १३० ठ (१) २१, A. S. W. I.
४, १२८ ।

इनके अतिरिक्त दो और अभिलेख हैं जो, मेरी समझ
से, वाकाटकों के हैं और जिनका वर्णन आगे चलकर
किया जायगा ।

§६२. शिलालेखों और पुराणों के आधार पर वाका-
टकों की जो वंशावली बनती है, वह यहाँ दी जाती है ।

इस वंशावली में जिन लोगों के नाम
वाकाटक-वंशावली गोल कोषुक के अंदर दिए गए हैं, वे
वाकाटक राजा के रूप में सिंहासनासीन नहीं हुए थे ।

१. इनमें से एक दुरेहा (जासो) का स्तंम है । देखो अत
में परिशिष्ट क । इसमें स्पष्ट रूप से इस वंश का नाम है और लिपि
के विचार से यह सबसे पहले का है ।

विभ्यशक्ति राजा (मूर्खीभाषिक)

सम्ब्राट् प्रवरसेन प्रथम, प्रबोर; ६० वर्ष तक शासन किया

(गौतमी पुनः) (दूसरा लड़का)
 (तीसरा लड़का)

(उपराज के रूप में शासन (उपराज के रूप में शासन
 करता था) (चौथा लड़का)
 करता था)

राजसेन प्रथम—यह शैशवावस्था में ही, मार-शिव राजा का पोता होने के कारण, भार-शिव
 राजा के रूप में सिहासन पर बैठा था और अपने प्रपत्ता प्रवरसेन के संरचण
 में पुरिका में शासन करता था । बाद में यह चनका में प्रवरसेन का

उत्तराधिकारी हुआ था । यह समुद्रगुप्त का सम-कालीन था ।
 पृथिवोपेण प्रथम—यह समुद्रगुप्त छोर चन्द्रगुप्त द्वितीय का सम-कालीन था और इसने कुन्तल
 के राजा पर विजय प्राप्त की थी ।

ठद्सेन द्वितीय—इसका विवाह प्रभावती गुप्ता के साथ हुआ था। जो चन्द्रगुप्त द्वितीय तथा

महादेवी कुवेर नामा की पुत्री थी।

(दिवाकरसेन—यह तेरह वर्ष की अवस्था में
या उसके उपरान्त युवराज
रहने की दशा में ही मर
गया था)

दामोदरसेन-प्रबरसेन (प्रबरसेन द्वितीय)
शिलालेखों से पता चलता है कि इसने
मध्य प्रदेश के प्रबरपुर में कम से कम २३
वर्ष तक राज्य किया था। जान पट्टा
है कि यह पक्क नई राजधानी थी जो
उसी के नाम पर स्थापित हुई थी।

नरेंद्रसेन—(अजंताबाले शिलालेख में इसका नाम नहीं है। यह ८ वर्ष की अवस्था में सिहासन
पर बैठा था।) बालाचाटबाले प्लेटों में इसका नाम नरेंद्रसेन दिया है। इसने
महादेवी अंजिकता भट्टारिका के साथ विवाह किया था जो कुंतल के राजा को
कन्या थी। कोशला सेकला और मालव के करद राजा इसके आज्ञानुबच्छी थे।

पृथिवीयेण द्वितोष्य

(इसने अपने हबे हुए बंशा
का उद्घार किया था)

देवसेन—भोगप्रिय (भोगपु यथेष्टचेष्टा:) और रूपवान् राजा
जिसने अपने पुत्र हरियेण के लिए सिंहासन का
परित्याग कर दिया था ।

हरियेण—इसने कुंतल, अबंती, कलिंग, कोशल, त्रिकूट,
लाट और आघ देशों पर विजय प्राप्त की थी ।
इसी के मंत्रो हस्तिमेज ने अंजंता का गुहा-
मंदिर नं० १६ बनवाया था और बैद्ध भित्तुओं
को अर्पित किया था ।

देवसेन और उसके पुत्र पृथिवीयेण द्वितीय के उत्तराधिकार के संबंध में कुछ भ्रम उत्पन्न
हो गया है; और इसका कारण दो लोक हैं । पहला तो अंजंता को १६ नं० बाली गुफा
का शिलालेख है जो हरियेण के शासन-काल में उत्कीर्ण हुआ था और दूसरा पृथिवीयेण
द्वितीय का ताम्रपत्रवाला मसौदा है । परंतु इनके यक्षदों को ठोक ठोक रूप में लाने पर यह
भ्रम या गङ्गवड़ी दूर हो जाती है; और आगे चलकर परवर्ती वाकाटकों के इतिहास में मैंने
इस विषय का विवेचन किया है ।

§ ६३. शिलालेख में देवसेन का जो वर्णन है और जो उसके पुत्र के शासन-काल में उत्कीर्ण हुआ था, उसके बिल-

शिलालेखों के ठीक कुल ठीक होने का प्रमाण इस बात से होने का प्रमाण भी मिलता है कि उस समय के राज-कर्मचारियों और कवियों ने भी उसके ठीक होने का उल्लेख किया है । स्वरूपबान् राजा 'जिसके पास उसकी सब प्रजा उसी प्रकार पहुँच सकती थी, जिस प्रकार एक अन्धे मित्र के पास' प्रायः भोग-विलास में ही अपना सारा जीवन व्यतीत करता था । यह अपने पुत्र के लिये राज्य छोड़कर अलग हो गया था । इसने अपने सामने अपने पुत्र का राज्याभिषेक कराया था; और इसके उपरांत यह अपना सारा समय भोग-विलास में ही विताने लगा था ।

§ ६४. शिलालेखों आदि के अनुसार बाकाटक इतिहास में एक निश्चित बात यह है कि चंद्रगुप्त द्वितीय के बाकाटक इतिहास में समय में ही पृथिवीषेण प्रथम और एक निश्चित बात रुद्रसेन द्वितीय हुए थे । एक और बात, जिसका पता प्रयाग के समुद्रगुप्तवाले शिलालेख से चलता है, यह है कि समुद्रगुप्त के सम्भ्राट् होने से पहले ही सम्भ्राट् प्रवरसेन का देहांत हो चुका था, क्योंकि उस शिलालेख में प्रवरसेन का नाम नहीं मिलता । समुद्रगुप्त ने गंगायमुना के देशभाव के आस-पास के 'बन्य प्रदेश' के राजाओं को अपना शासक या गवर्नर और सेवक बनाया

था । जिसका निष्पंदेह रूप से अर्थ यही है कि बुंदेलखण्ड और बघेलखण्ड उसकी अधीनता में आ गए थे । अब प्रश्न यह होता है कि उस समय विंध्य प्रदेश में कौन सा वाकाटक राजा था जिसके अधीनस्थ और करद राजाओं को समुद्रगुप्त ने छीनकर अपने अधीन कर लिया था । उसने जो प्रदेश जीते थे, वे प्रवरसेन के बाद जीते थे; और चौथा वाकाटक राजा पृथिवीपेणु प्रथम सारे वाकाटक देश पर राज्य करता था और उसके लड़के का विवाह चंद्रगुप्त विक्रमादित्य की कन्या के साथ हुआ था । इसलिये समुद्रगुप्त का सम-कालीन वही वाकाटक राजा रहा होगा जो प्रवरसेन के बाद और पृथिवीपेणु से पहले हुआ था; और वह राजा रुद्रसेन प्रथम था जिसे हम निश्चित रूप से वही रुद्रदेव कह सकते हैं जो समुद्रगुप्त की सूची में आर्यावर्त्त का प्रधान राजा था (§ १३८) ।

§ ६५. परंतु वाकाटकों के इतिहास के संबंध में हमें और बहुत सी बातें तथा सहायता पुराणों से मिलती हैं । पुराणों

वाकाटक इतिहास के में कहा है कि विंध्यशक्ति के बंशजों ने संबंध में पुराणों के ८६ वर्ष तक राज्य किया था; और उल्लेख

यह भी कहा है कि इनमें से ६० वर्षों तक शिशु राजा तथा प्रवरसेन प्रवीर का राज्य रहा; और इसलिये विंध्यशक्ति के राज्य के लिये ३६ वर्ष बचते हैं । दूसरे

शब्दों में हम यही बात यों कह सकते हैं कि पुराणों में रुद्रसेन प्रथम से ही इस राजवंश का अंत कर दिया जाता है। इसलिये हम दृढ़तापूर्वक कह सकते हैं कि रुद्रसेन को समुद्रगुप्त का मुकाबला करना पड़ा था और इसी में उसका लोप हो गया। वायु पुराण और ब्रह्मांड पुराण में कहा गया है कि साम्राज्य (भूमि^१) ५६ वर्षों के उपरांत दूसरों के हाथ में चलो गई थी। वायुपुराण में जहाँ ६० वर्षों का उल्लेख है, वहाँ किया बहुवचन में है, जिससे पता चलता है कि ६० वर्ष का उल्लेख दोनों के संबंध में है। उसकी किया (भोक्ष्यन्ति) द्विवचन में नहीं बल्कि बहुवचन में है जो प्राकृत के नियमों के अनुसार है, जैसा कि मिठि पारजिटर ने बतलाया है (P.T. पृ० ५०, टिप्पणी ३१)। भागवत में न तो शिशु राजा का उल्लेख ही है और न उसकी गिनती ही हुई है। जान पड़ता है कि प्रवरसेन की मृत्यु होते ही समुद्रगुप्त ने तुरंत अपना यह अभियान आरंभ कर दिया था और प्रयाग या कौशांबी के युद्ध-क्षेत्र में रुद्रसेन प्रथम की शक्ति टूट गई थी; और इसी युद्ध में उसके साम्राज्य-संघ के प्रमुख राजा अच्युत और नागसेन की तथा संभवतः गगपति नाग की भी मृत्यु हो गई थी।

१. मिलाओ इलाहायाद का शिलालेख जिसमें 'पृथिवी' (पंक्ति २४) और 'धरणी' का 'अर्थ' 'भारत' और 'साम्राज्य' है।

२. देखो आगे तीसरा भाग § १३२।

§ ६६. इस प्रकार पुराणों में विष्यक राजवंश का तो अंत कर दिया गया है, पर गुमों के संबंध में उनमें जो उल्लेख मिलता है, उससे जान पड़ता है कि उनका वंश तब तक बराबर चला चलता था, क्योंकि गुप्त राजाओं को उन्होंने बिना पूरा गिनाए हो जाङ दिया है और यह नहों बतलाया है कि सब मिलाकर उन्होंने कितने दिनों तक राज्य किया था। पुराणों में जो यह कहा है कि विष्यक बाकाटक सम्राटों ने सब मिलाकर ८६ वर्ष तक राज्य किया था, उसका समर्थन बाकाटक शिलालेखों से भी होता है जिनमें पृथिवीयेण प्रथम के शासन के संबंध में लिखा है—“जिसके उत्तराधिकारी पुत्र और पौत्र बराबर होते चले गए थे और जिसके कोश तथा दंड या शासन के साधन बराबर सौ वर्षों तक बढ़ते गए थे” (फ्लीट कृत G. I. पृ० २४)। कोषम के सिक्कों में से एक का जो सिक्का है, उस पर बाकाटकों का विशाट चक्र है और उस पर १००वाँ वर्ष अंकित है (§ ६१)। इस प्रकार रुद्रमेन ने अपने राजवंश के शासन के एक सौ वर्ष पूरे किए थे और उसने चार वर्षों तक राज्य किया था।

§ ६७. विष्णुपुराण और भागवत में दो जोड़ दिए हैं। उनमें से एक तो १०० वर्ष है और दूसरा कुछ अनिश्चित है [५६,६ या ६०(1)] है और वहाँ का पाठ कुछ ठोक नहों है। विष्णुपुराण की हस्तलिखित प्रतियों में है—वर्ष-शतम् पट्;

वर्षाणि और वर्ष-शतम् पंचवर्षाणि; और भागवत में है—वर्ष-शतम् भविष्यति अधिकानि पट् । जान पढ़ता है कि वर्ष शतम् लिखने के उपरात कुछ और भी लिखा गया था जो अब साफ साफ पढ़ा नहीं जाता । विष्णुपुराण में वर्षशतम् के उपरात फिर वर्षाणि शब्द को दोहराने की कोई आवश्यकता नहीं थी । विष्णुपुराण के संपादकों या प्रतिलिपि करनेवालों के सामने दो अंक थे । एक तो शिशुक और प्रबीर के लिये ६० वर्ष का और दूसरा विंध्यशक्ति के बंश के लिये १०० या ८६ वर्षों का । ८६ और ५० को मिलाकर उन्होंने वर्षशतानि पंच कर दिया या षट् कर दिया; और जान पढ़ता है कि १०० और ५६ या १०० और ८० को घटाकर १०६ कर दिया गया । यहाँ यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि उन्होंने न तो बायु पुराण और ब्रह्मांड पुराण का ६० वाला अंक लिया और न उनका ८६ वाला अंक लिया, बल्कि उन दोनों की जगह उन्होंने १०६ या १५६ पढ़ा । इसलिये हम यह मान लेते हैं कि १०० अथवा ८६ वर्षों तक तो बाकाटकों का स्वतंत्र शासन रहा और ६० वर्षों तक प्रवरसेन तथा रुद्रसेन ने शासन किया । स्वयं रुद्रसेन प्रथम ने, सम्राट् के रूप में नहीं बल्कि राजा के रूप में, संभवतः चार वर्षों तक शासन किया था; (और यही

वह चार वर्षों का अंतर है जो पुराणों के दो वर्गों में मिलता है—वर्षशतम् या १०० वर्ष और ८६ वर्ष)^१ ।

§ ६८. इसके अतिरिक्त पुराणों में राज्य-क्रम की एक और महत्त्वपूर्ण बात मिलती है। वे सन् २३८ या २४३ ई०^२ के लगभग शातवाहनों के शासन का अंत करके और उनके सम-कालीन मुरुंड-तुखारों का वर्णन (लगभग २४३ या २४७ ई०^३) समाप्त करके विंध्यशक्ति के उदय का वर्णन आरंभ करते हैं। इसलिये यदि हम यह मान लें कि विंध्यशक्ति का राज्य सन् २४८ ई० में आरंभ हुआ था तो पुराणों और शिलालेखों के आधार पर हमें नीचे लिखा क्रम और समय मिलता है—

१. विंध्यशक्ति	सन् २४८—२८४ ई०
२. प्रवरसेन प्रथम	२८५—३४४ "
३. रुद्रसेन प्रथम	३४४—३४८ "
४. पृथिवीपेण प्रथम	३४८—३७५ "
५. रुद्रसेन द्वितीय	३७५—३८५ "
६. प्रभावती गुप्ता (क) दिवाकरसेन की अभिभाविका के रूप में			३८५—४०५ "

१. एक प्रकार से कानून की दृष्टि से बाकाटक-वंश का अंत प्रवरसेन प्रथम से ही हो गया था। (§ २८, पाद-टिप्पणी १) ।

२. J. B. O. R. S. खंड १६, पृ० २८० ।

३. उक्त जरनल और खंड, पृ० २८६ ।

ब्रैर (ख) दामोदरसेन प्रवरसेन द्वितीय की		
अभिभाविका के रूप में, ...	४०५—४१५ ई०	
७. प्रवरसेन द्वितीय, वयस्क होने पर	४१५—४३५ "	
८. नरेन्द्रसेन (८ वर्ष की अवस्था में सिंहा- सन पर बैठा था)	४३५—४७० "	
९. पृथिवीषेणा द्वितीय	४७०—४८५ "	
१०. देवसेन (इसने सिंहासन का परित्याग किया था)	४८५—४९० "	
११. हरिषेणा	४९०—५२० "	

६६. ऊपर जो क्रम दिया गया है, वह मुख्यतः पुराणों
के आधार पर है; और ज्ञात ऐतिहासिक घटनाओं से अर्थात्
आरंभिक गुप्त इति- चंद्रगुप्त प्रथम और समुद्रगुप्त के शासन-
हास से मिलान काल से इसका मिलान या समर्थन हो
जाता है। सिक्कों के अनुसार भी और कौमुदी-महोत्सव
के अनुसार भी चंद्रगुप्त ने लिच्छवियों की सहायता से
पाटलिपुत्र पर अधिकार प्राप्त किया था। मगध में जो राज-
वंश शासन करता था, वह अवश्य ही भार-शिवों के साम्राज्य
का अधीनस्थ रहा होगा; क्योंकि उस साम्राज्य का अस्तित्व
सन् २५० ई० के लगभग आरंभ हुआ था और उस राज-
वंश को चंद्रगुप्त प्रथम ने राज्यच्युत कर दिया था। चंद्रगुप्त
प्रथम ने सन् ३२० ई० से लिच्छवियों के नाम से अपने

सिक्के बनाने आरंभ किए थे^३, और इसका अभिप्राय यह है कि उस समय से उसने भार-शिवों और उनके उत्तराधिकारी प्रवरसेन प्रथम का प्रभुत्व मानना छोड़ दिया था और उसका खुलकर विरोध किया था। उसके सिक्के लगभग नौ तरह के (उसके कोशल और मगध दो प्रांतों में) हैं और इनके लिये उसका शासन-काल लगभग बीस वर्ष रहा होगा। इससे भी कौमुदी-महोत्सव के इस कथन का समर्थन होता है कि सुंदर वर्मन् का छोटा बच्चा किसी प्रकार अपनी दाई के साथ बचकर निकल गया था और विंध्य पर्वत में जा पहुँचा था; और पाटलिपुत्र नगर की सभा या कालंसिल ने उसे वहाँ से बुलवाकर उसका राज्याभिषेक किया था। और हिंदुओं के धर्मशास्त्रों के अनुसार राज्याभिषेक २४ वर्ष की अवस्था पूरी कर लेने पर होता है। कौमुदी-महोत्सव और

१. मुझे ऐसा जान पड़ता है कि उसके पहले के सिक्के उन्हीं सिक्कों में मिलते हैं जिन्हें पांचाल सिक्के कहते हैं और जिनके चित्र कनिघम ने अपने C. A. I. प्लेट ७ में, संख्या १ और २ पर, दिए हैं। ये सिक्के वस्तुतः कोशलवाले सिक्कों के वर्ग के हैं; क्योंकि उस वर्ग के एक राजा धनदेव के संबंध में मैंने अयोध्या के एक शिलालेख (J. B. O. R. S. १०, पृ० २०२, २०४) के आधार पर यह प्रमाणित किया है कि वह कोशल का राजा था। ऊपरवाले सिक्कों (सं० १) पर चंद्र-गुप्तस्य लिखा है, रुद्रगुप्तस नहीं लिखा है, जैसा कि कनिघम ने उसे पढ़ा है। इसकी शैली बिलकुल हिंदू है और उसके लिङ्गाओं सिक्कों से बिलकुल भिन्न है।

समुद्रगुप्त के शिलालेख दोनों से ही यह बात प्रमाणित होती है कि समुद्रगुप्त से पहले एक बार पाटलिपुत्र पर से गुप्त राजवंश का अधिकार हटा दिया गया था । समुद्रगुप्त और चंद्रगुप्त प्रथम के सिक्कों के बीच की शृंखला टृटी हुई है; और इसका पता इस बात से भी चलता है कि चंद्रगुप्त प्रथम के सिक्के कभी गुप्त सम्राटों के सिक्कों के साथ नहीं मिले हैं । समुद्रगुप्त के व्याघ्र रूपबाले जो सिक्के मिले हैं, उनसे सूचित होता है कि उसने कुछ दिन एक छोटे राजा के रूप में, साकेत में रहकर अथवा बनारस और साकेत के बीच में रहकर, विताए थे । इन सिक्कों पर केवल 'राजा समुद्रगुप्त' लिखा है । तब तक उसने न तो गरुड़ध्वज का ही अंगीकार किया था और न उन दूसरे चिह्नों का ही जो उसके उन सिक्कों पर मिलते हैं जो उसके सम्राट् होने की दशा में बने थे । इन सिक्कों पर, पोछे की ओर, एक शिंशुमार पर खड़ी हुई गंगा की मूर्ति है । बाकाटकों के समय में गंगा और यमुना दोनों मास्त्राव्य के चिह्न थे । भार-शिव सिक्कों पर, और प्रवरसेन के सिक्कों पर भी, गंगा की मूर्ति मिलती है । जान पढ़ता है कि जिस समय समुद्रगुप्त एक करद और अधीनस्थ राजा के रूप में था, उस समय उसने बाकाटक सम्राटों का गंगाबाला चिह्न अपने सिक्कों पर रखा था । आगे बढ़कर जब वह सम्राट् हुआ था, तब उसने जो सिक्के बनवाए थे, उन पर यह गंगा का चिह्न

नहीं मिलता । व्याघ्र रूपवाले सिक्के बहुत ही कम मिलते हैं; तो भी उनके जो नमूने मिलते हैं, उनसे हम यह तो निश्चय-पूर्वक कह सकते हैं कि इन सिक्कों के दो वर्ग थे अथवा ये दो बार अलग अलग बने थे । व्याघ्र शैलीवाले सिक्कों पर समुद्रगुप्त, अपने प्रपिता की तरह, सम्राट् पद के उपयुक्त जिरह-बक्तर आदि नहीं पहने हैं; और इससे भी यही सूचित होता है कि वाकाटकों के अन्यान्य करद तथा अधीनस्थ राजाओं की तरह उस समय समुद्रगुप्त भी संयुक्त प्रांत के सामान्य सनातनी हिंदू राजाओं की तरह रहता था । यदि हम यह मान लें कि चंद्रगुप्त प्रथम सन् ३२० से ३४० ई० तक राज्य करता था और राजा समुद्रगुप्त के व्याघ्र शैलीवाले सिक्कों के लिये चार वर्ष का समय रखें तो हम सन् ३४४ ई० तक पहुँच जाते हैं जो समुद्रगुप्त के लिये विकट और संकट का समय था । चंद्रगुप्त प्रथम की उचाकांचाओं को फलवती होने से रोकने में, जान पड़ता है कि, प्रवरसेन का भी हाथ था और कोट वंश के जिस राजकुमार ने भागकर वाकाटक साम्राज्य की पंपा नगरी में आश्रय लिया था, उसे तथा कोट वंश को फिर से राज्यारूढ़ कराने में भी संभवतः उसने बहुत कुछ सहायता की थी । इसी लिये जब वाकाटक सम्राट् प्रवरसेन की मृत्यु हो गई, तब समुद्रगुप्त को मानो फिर से मगध पर अधिकार करने और पूर्ण रूप से स्वतंत्र होने का सबसे अच्छा और उपयुक्त अवसर मिला । और

तथोक्त महाराजाधिराज चंद्रगुप्त प्रथम बरावर मगध पर फिर से अधिकार करने और स्वतंत्र होने की कामना रखता था, पर उसकी वह कामना पूरी नहीं हो सकी थी । पर समुद्रगुप्त ने उसकी उस कामना को पूरा करने का अवसर पाकर उससे लाभ उठाया । यहाँ हम इस बात की ओर भी पाठकों का ध्यान आकृष्ट कर देना चाहते हैं कि समुद्रगुप्त के व्याघ्र-शैलीवाले जो सिक्के हैं, उनसे यह सूचित नहीं होता कि लिच्छवियों के साथ भी उसका किसी प्रकार का संबंध था । उन सिक्कों पर न तो लिच्छवियों की सिंहवाहिनी देवी की ही आकृति है और न लिच्छवियों का नाम ही है । पर साथ ही समुद्रगुप्त अपने शिलालेखों में यह बात बरावर दोहराता है कि मैं लिच्छवियों का दैहित्र हूँ । राष्ट्रीय संघटन की दृष्टि से इसका महत्व इस बात में है कि समुद्रगुप्त भी उसी प्रकार स्वतंत्र होना चाहता था, जिस प्रकार लिच्छवी लोग किसी समय स्वतंत्र थे; और वह लिच्छवियों के विशाल राज्य का भी उत्तराधिकारी बनना चाहता था अथवा उस पर अधिकार करना चाहता था । उसके पुत्र चंद्रगुप्त द्वितीय के समय में लिच्छवी-राजधानी में गुमों की ओर से एक प्रांतीय शासक रहने लगा था और उसकी उपाधि “महाराज” थी । इस लिच्छवियों का पतन-काल प्रकार लिच्छवी-प्रजातंत्र दबा दिया गया था, और जिस समय लिच्छवियों का दैहित्र भारत

का सम्राट् हुआ था, उससे पहले ही उनके प्रजातंत्र का अंत हो चुका था। इसके बाद हमें पता चलता है कि लिच्छवी-शासक नेपाल चले गए थे जहाँ उन्होंने सन् ३३०-३५० ई० के लगभग एक राज्य स्थापित किया था। इससे वही प्रबल परिणाम निकलता है कि जिन लिच्छवियों के संरक्षण में चंद्रगुप्त प्रथम के, सिक्के बने थे, उन्हें बाकाटक सम्राट् ने सन् ३४० ई० के लगभग परास्त करके ज्ञेत्र से हटा दिया था। इसलिये समुद्रगुप्त के हिस्से बाकाटक राजवंश से राजनीतिक बदला चुकाने का बहुत बड़ा काम आ पड़ा था और वह बदला चुकाने में उसने कोई बात उठा नहीं रखी थी। इस प्रकार जो यह सिद्ध होता है कि सन् ३४४ ई० में या उसके लगभग प्रबरसेन की मृत्यु और समुद्रगुप्त का उदय हुआ था, उसका पूरा पूरा मिलान सभी ज्ञात तत्त्वों से हो जाता है।

ट. बाकाटक साम्राज्य

§ ७० ऊपर बाकाटकों का जो काल-कम हमने निश्चित किया है, वह चंद्रगुप्त द्वितीय के ज्ञात समयों से मिलता चंद्रगुप्त द्वितीय और है। चंद्रगुप्त द्वितीय ने एक नई नीति परवर्ती बाकाटक यह प्रहण की थी कि जो राज्य किसी समय उसके वंश के शत्रु थे, उनके साथ वह विवाह-संबंध

स्थापित करता था; और इसी का यह परिणाम हुआ था कि उसने अपनी कन्याओं का विवाह वाकाटक शासक रुद्र-सेन द्वितीय के साथ कर दिया था और कदंब-राजा की एक कन्या का विवाह अपने वंश के एक राजकुमार के साथ किया था। स्वयं उसने भी कुवेर नागा के साथ विवाह किया था जो एक नाग राजकुमारी थी और जो प्रभावती गुप्त की माता थी। ध्रुवदेवी भी और कुवेर नागा भी क्रमशः गुप्त और वाकाटक लेखों में महादेवी कही गई हैं। यदि ध्रुवदेवी, जिसके पूर्वजों का पता नहो है, यही कुवेर नागा नहीं है, तो यहो कहा जा सकता है कि चंद्रगुप्त द्वितीय ने सिंहासन पर बैठने के उपरांत शीघ्र ही उसके साथ विवाह किया था और तब ध्रुवदेवी के उपरांत कुवेर नागा महादेवी हुई होगी। जब नाग राजकुमारी के गर्भ से उत्पन्न एक राजकुमार उस वाकाटक राजवंश में चला गया, जो नागों का उत्तराधिकारी था, तब गुप्तों और वाकाटकों की पुरानी शत्रुता का अंत हो गया। इसके उपरांत वाकाटक फिर धीरे धीरे प्रबल होने लगे; और नागों के अधीन उन्हें जितनी स्वतंत्रता मिली थी, उतनी और किसी दूसरे राज्य को नहो मिली थी। प्रभावती की मृत्यु के उपरांत और गुप्त साम्राज्य का पतन हो जाने पर नरेंद्रसेन की अधीनता में वाकाटक लोग फिर

बरार-मराठा-प्रदेश के, जिसमें कोंकण भी सम्मिलित था, सर्व-प्रधान राजा हो गए और उनका साम्राज्य कुंतल, पश्चिमी मालवा, गुजरात, कोशल, मेकल और आंध्र तक हो गया। हरिषेण के समय में भी उनके राज्य की यहीं सीमा बनी रही। पश्चिम में और दक्षिण में कदंब राज्य के कुंतल देश तक गुप्तों का जो राज्य था, वह पूरी तरह से नरेंद्रसेन और हरिषेण के अधिकार में आ गया था। इस विस्तृत प्रभुत्व का महत्व उस समय स्पष्ट हो जायगा, जब हम वाकाटक-सरकार का सविस्तर वर्णन करेंगे, जिसका पुराणों में पूरा पूरा वर्णन है और उसी के साथ जब हम यह भी वर्णन करेंगे कि गुप्तों ने दक्षिण में किस प्रकार और कहाँ तक विजय प्राप्त की थी और समुद्रगुप्त की अधीनता में किस प्रकार वहाँ का पुनर्घटन हुआ था। और इन सब बातों का भी पुराणों में पूरा पूरा उल्लेख है।

§ ७१. वाकाटक-काल के तीन मुख्य विभाग हैं—(१) साम्राज्य-काल (२) गुप्तों के समय का काल और (३) वाकाटक-साम्राज्य-काल गुप्तों के बाद का काल (नरेंद्रसेन से लेकर हरिषेण के समय तक और संभवतः उसके उपरांत भी)।

§ ७२. वाकाटक-साम्राज्य का आरंभ प्रवरसेन प्रथम के शासन-काल से होता है और रुद्रसेन प्रथम के शासन के साथ उसका अंत होता है। परंतु समुद्रगुप्त के प्रथम युद्ध

के कारण (₹ १३२) रुद्रसेन प्रथम को इतना समय हो नहीं मिला था कि वह अपने बाकाटक प्र-पिता का सम्भाट् पद ग्रहण कर सकता। सम्भाट् प्रबरसेन के सिक्के पर संवत् ७८ अंकित मिलता है जिससे जान पड़ता है कि उसने अपने राज्य का आरंभ अपने पिता के समय से ही मान लिया था; क्योंकि स्वयं उसने केवल ६० वर्षों तक ही शासन किया था। समुद्रगुप्त ने भी गुप्त राज्य-वर्षों की गणना करते समय^१ इसी प्रकार अपने पिता के राज्याभिषेक के काल से आरंभ किया था और प्रबरसेन प्रथम के उदाहरण का अनुकरण किया था।

§ ७३. बाकाटकों की साम्राज्य-संघटन की प्रणाली यह थी कि वे अपने पुत्रों तथा संवंधियों को अपने भिन्न भिन्न बाकाटक - साम्राज्य- प्रांतों के शासक नियुक्त करते थे; और संघटन यह प्रणाली उन्होंने नाग साम्राज्य से ग्रहण की थी। विशेषतः इस विषय में पुराणों में बहुत सी बातें दी हुई हैं। उनमें कहा है कि प्रबरसेन के चार लड़के प्रांतों के शासक नियुक्त हुए थे; तीन वंश ऐसे थे, जिनके साथ उनका विवाह-संबंध स्थापित हुआ था; और एक वंश उनके वंशजों का था जो इन चार केंद्रों से शासन करते थे—माहिषी, मेकला, कोसला और विदूर^२। यहाँ माहिषी

१. मिलाओ (१. I. पृ० ६५—अब्द-शते गुप्त-नृप-राज्य-भुक्ति)।

२. विष्यकानाम् कुलानाम् ते नृप वैवाहिकाख्यः। —ब्रह्मांड०। इसमें के वैवाहिकाः शब्द का पाठ दूसरे पुराणों में भूल से वै वाहीकाः

से अभिप्राय उसी माहिष्मती से है जो नर्मदा के किनारे नीमाड़ के अँगरेजी जिले और इंदौर राज्य के नीमाड़ जिले के बीच में है। यह पश्चिमी मालवा प्रांत की राजधानी थी। ब्रार के आस-पास के प्रदेशों का तीसरे वाकाटक-काल में फिर इसी प्रकार विभाग हुआ था—कोसला, मेकला और मालवा। इन सभी प्रांतों के संघ में पुराणों में यह बतलाया गया है कि इनमें कौन कौन से शासक थे और उन्होंने कुल कितने दिनों तक शासन किया था, जिसका अभिप्राय यही होता है कि इनका अंत भी वाकाटक-साम्राज्य-काल के अंत के साथ ही साथ अर्थात् समुद्रगुप्त की विजय के समय आकर होता है।

और वैवाहिकाः दिया है। यह भूल है तो विलक्षण, पर सहज में समझ में आ जाती है। वैवाहिकाः के उन्होंने दो अलग अलग शब्द मान लिए थे—वै और वाहिकाः; और तब उन्होंने वाहिकाः का संस्कृत वाह्लीकाः और वाह्लीकाः बना लिया था !

१ देखो J R A. S. १८१०, पृ० ४४४, जहाँ इसके ठीक स्थान का निर्देश किया गया है।

२ बालाघाट के प्लेट E. I. संड ६, पृ० २७१। प्रो० कील हार्न ने समझा था कि कोसला और मेकला रूप अशुद्ध हैं; और इसी लिये उन्होंने इनके स्थान पर कोसल और मेकल शब्द रखे थे। परंतु पुराणों के मूल पाठ से सुनित होता है कि शिलालेखों में इन शब्दों के जो रूप दिए हैं, वही ठीक है और वाकाटकों के समय में इनके यही नाम थे।

६७३. क—इन चार प्रांतीय राजवंशों में से मेकला में शासन करनेवाले राजवंश को वायु पुराण में विशेष रूप से वाकाटक प्रांत, मेक-विंध्यकों के वंशजों का वंश कहा ला आदि गया है । यथा—

मेकलायाम् नृपाः सप्त भविष्यन्तीः सन्ततिः ॥

भागवत में और विष्णुपुराण की कई प्रतियों में भी मेकल के इन राजाओं को, जिनकी संख्या सात थी, सप्तांग्र या (आंग्र देश के सात राजा) कहा गया है^१ । जान पड़ता है कि मेकल का प्रांत आज-कल की मैकल पर्वत-माला^२ के दक्षिण से आरंभ होकर एक सीधो रेखा में आज-कल की वस्तर रियासत को पार करता हुआ चला गया था जहाँ से आंग्र देश आरंभ होता है । इसके पूर्व में कोसला का प्रांत था अर्थात् उड़ीसा और कलिंग के करद राज्यों का प्रांत था । यहाँ यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि राय-पुर से वस्तर तक के प्रदेश में बराबर नागों की वस्ती के चिह्न मिलते हैं; और यहाँ दसवाँ शताब्दी से लेकर इधर के

१. P. T. पृ० ५२, टिप्पणी १७ । अधिकांश इस्त-लिखित प्रतियों और उन सब प्रतियों में, जिन्हें विलसन और हाल ने देखा था, यही पाठ मिलता है । (V. P. ४, पृ० २१४-१५.) इसका सत्तमा: पाठांतर अशुद्ध और निरर्थक है ।

२. P. T. पृ० ५२, टिप्पणी १६ ।

३. J. B. O. R. S. १८; ६८ ।

परवर्ती नाग-वंशों के शिलालेख आदि वहुत अधिक संख्या में मिलते हैं। शेष मध्य उद्देश के साथ साथ यह प्रांत भी नाग-साम्राज्य का एक अंश था। आगे चलकर जब दक्षिणी इतिहास का विवेचन किया जायगा और पल्लवों के संबंध की बातें बतलाइ जायेंगी (§ १७३ और उसके आगे) तब यह भी बतलाया जायगा कि ये नाग लोग विंध्यकों अथवा विंध्यशक्ति के वंशजों की किस शाखा के थे। यहाँ के बल इतना बतला देना यथेष्ट है कि विंध्यक लोग आंध्र देश के शासक थे, उनके मेकल प्रांत में आंध्र भी सम्मिलित था और इस वंश की एक शाखा वहाँ करद और अधोनस्थ वंश के रूप में बस गई थी जिसने सात पोङ्कियों तक राज्य किया था। शेष तीनों वंशों के शासक कुल इस वर्णन के अंतर्गत आते हैं—विवाह-संबंध-द्वारा स्थापित राजवंश (वैवाहिकाः)। नैषध प्रांत पर एसे

^१ विष्णुपुराण के कर्त्ता ने बाखुपुराण का यह अंश पढ़ने में भूल की थी और महीणी राजाओं के मेकला राजाओं के बग्ग में मिला दिया था जिनमें वैवाहिकाः (इसे भूल से बाह्लीकाः पढ़ा था) भी सम्मिलित थे और विंध्यशक्ति के वंशज भी थे (मिलाओ टीकाकार—तत्पुत्राः विंध्यशक्त्यादीना पुत्राः)। विष्णुपुराण का पाठ इस प्रकार है—तत्पुत्राः त्रयोदशीव बाह्लीकाः त्रयः ततः पुष्यमित्रपद्मित्रपद्ममित्रास त्रयोदशा । मेकलाश्च (विलसन कृत V. P. ४; २१३)। इसमें संततिः शब्द का संबंध मूलतः मेकलों से था और त्रय पुष्यमित्रबग्ग के 'दश' अंक का

राजवंश का अधिकार था जो अपने आपको नल का वंशज बतलाता था । उनकी राजधानी विदूर में थी जो आज-कल का बीदर जान पड़ता है और जो निजाम राज्य की पुरानी राजधानी है । वैदूर्य सतपुड़ा पर्वत है । महीषों के शासकों के दो वर्ग थे—एक तो महिषियों के स्वामी थे जो राजा कहलाते थे और दूसरे पुष्यमित्र थे जिनके साथ दो और समाज थे और जो राजा नहीं कहलाते थे । ये भी उन्हीं महीषियों अर्थात् पश्चिमी मालवा के निवासियों के अंतर्गत हैं जिसे परवर्ती वाकाटक शिलालेखों आदि में मालव कहा है । ये प्रजातंत्री महीषों लोग संभवतः इसी राजा के अधीन थे जो वाकाटकों के करद और अधीनस्थ थे ।

(६७४) प्रयोग उन राजाओं के लिये किया गया था जो वायुपुराण के पाठ में विश्वशक्ति के बाद और मेकलों के पहले थे । अर्थात् इन दोनों शब्दों का उसने तीन वाहलीकों (वस्तुतः वैयाहिकों) और दस पुष्यमित्रों, पठुमित्रों और पद्ममित्रों के साथ मिला दिया था । और जब इस प्रकार तेरह की संख्या पूरी हो गई, तब मेकलों के संबंध में, जो वास्तव में वंशज थे, लिख दिया—और मेकल भी (मेकलाश्च) । भागवत में भी विष्णुपुराण का ही अनुकरण किया गया और उसका कर्ता १३ संतानों का उल्लेख करके रह गया । इससे यह स्पष्ट जान पड़ता है कि विष्णुपुराण के कर्ता को मेकलों के बाद और उनके साथ 'संतति' शब्द मिला था ।

§ ७४, अब हम इन केंद्रों पर अलग अलग विचार करते हैं। महीषों के एक राजा का नाम सुप्रतीक नभार दिया गया है और तीन मित्र हैं जो शाक्यमान का पुत्र था^३। वह प्रजातंत्र महीषियों का राजा और देश का स्वामी था^४। इस राजा के सिक्के भी मिले हैं। उन सिक्कों पर लिखा है—महाराज और प्र (f) तकर। प्रो० रैप्सन ने, जिन्होंने इन सिक्कों के चित्र प्रकाशित किए थे^५, बतलाया था कि ये सिक्के नार्गा के सिक्कों के अंतर्गत हैं^६। पुराणों की आज-कल

विष्णुपुराण ने सप्त के केशला के साथ मिला दिया—सप्तकोसलाया। (टीकाकार ने भी यही पाठ ढीक मान लिया था।) विलसन की टस्टलिखित प्रति में भी यही पाठ मिला था। (देखो जे० विद्यासागर का संस्करण पृ० ५८४, विलसन ४, २१३-१४)। भूमिका में वायु-पुराण इसे पञ्चकोसलाः कहता है—वैदिशाः पञ्चकोसलाः; पर मेकलाः कोसलाः का उल्लेख वह अलग करता है (पारजिटर कृत P. T. पृ० ३)। इन दोनों के मिलाने पर सप्तकोसलाः के सात प्रांत पूरे हो जाते हैं। महाभारत में भी इस प्रांत के देश विमागों का उल्लेख है जिनके नाम के साथ कोसल है (सधापव ३१, १३)। (कोसल का राजा, वेरण तट का राजा, कांतारक और पूर्वों कोसलों का राजा)।

१, २. सुप्रतीकों नभारस्तु समा भोद्यति विशर्ति ।

शाक्यमानभवो राजा महीषीनाम् महोपतिः ॥

P. T. ५०, ५१, टिप्पणी ६, १०।

३. J. R A.S. १६००, पृ० ११६। प्लेट चित्र १६ और १७।

४. उन्होंने इसे महाराज भी प्रभाकर पढ़ा था। जिस अन्तर को उन्होंने भ पढ़ा था, वह मेरी समझ में त है। सिक्कों पर के लेखों

की हस्तलिखित प्रतियों में यह नाम इस प्रकार लिखा मिलता है—सुप्रतीकन भार (=भारशिव)। इसमें का न भूल से र के बदले में पढ़ा गया है, जैसा कि पौरा को भूल से माना पढ़ा गया है और जिसका उल्लेख विष्णुपुराण के टीकाकार ने किया है^१। इसका शुद्ध पाठ था—सुप्रतीकर भार। कहा गया है कि इसने ३० वर्षों तक राज्य किया था। इस चेत्र में, जो महीषी केंद्र के अंतर्गत था, तीन जातियाँ वसती थीं जिन तीनों के नामों के अंत में ‘मित्र’ शब्द था। विष्णुपुराण में उनके नाम इस प्रकार दिए गए हैं—पुष्यमित्र पद्ममित्रास्त्रयः। भागवत में लिखा है—पुष्यमित्र (अर्थात् राष्ट्रपति) राजन्य जो एक प्रकार के प्रजातंत्री राष्ट्रपति का पारिभाषिक नाम है^२। विष्णुपुराण में जो तीन जातियों या समाजों के नाम दिए गए हैं और ब्रह्मांड पुराण में जो त्रिमित्रों का उल्लेख है,^३ उससे हमें यह मानना पड़ता है कि उनका राज्य

में^४ की मात्रा या चिह्न प्रायः छूटा हुआ मिलता है। उस समय म और त में बहुत कम अंतर होता था और उनकी आकृति इतनी मिलती थी कि भ्रम हो सकता था।

१. विद्यासागर का संस्करण, पृ० ५८४।

२. देवता जायसवाल कृत हिंदू राज्यतंत्र, पहला खंड, पहला भाग, पृ० ५८।

३. ब्रह्मांड पुराण में जो पट्टिमित्राः दिया है, उसके संबंध में यह माना जा सकता है कि पट्टि त्रिमित्राः को भूल से इस रूप में पढ़ कर लिखा गया है।

तीन भागों में विभक्त था और उनमें एक के बाद एक इस प्रकार दस राजा गढ़ी पर बैठे थे। वायुपुराण में जो 'त्रयोदशाः' पद आया है, उसका यह अर्थ हो सकता है कि उन तीनों राज्यों में दस शासक या दस राष्ट्रपति हुए थे। दूसरी हस्तलिखित प्रतियों में त्रयोदश के स्थान पर तथैव च^१ पाठ है; और इससे यह भी सूचित हो सकता है कि महीवी के सुख्य शासकों की तरह उन्होंने भी तीस वर्षों तक राज्य किया था। इनके राज्य का कोई अलग स्थान नहीं बतलाया गया है और इसी लिये हम समझते हैं कि वे पश्चिमी मालवा में थे। परवर्ती अर्थात् गुप्त काल में ये लोग आवन्त्य कहे गए हैं जो या तो आभीरों के अधीन थे और या उनके संघ में थे (§ १४५ और उसके आगे)। यह बात बहुत प्रसिद्ध है कि कुमारगुप्त के समय में पुष्यमित्र लोग इतने बलवान् हो गए थे कि उन्होंने उस सम्भ्राट् पर बहुत भीषण आक्रमण किया था। यहाँ प्रजातंत्री राष्ट्रपतियों या राजन्यों के राज्यारोहण का उल्लेख है, इसलिये उनकी दस की संख्या का अर्थ यह है कि प्रत्येक राष्ट्रपति या राजन्य तीन वर्ष तक शासन करता था। जान पड़ता है कि इस मालवा प्रांत पर बाकाटकों ने सन् ३००-३१० ई० के लगभग अधिकार प्राप्त किया था।

₹ ७५. मेकला में ७० वर्षों में^१, अर्थात् लगभग सन् २७५ से ३४५ ई० तक, सात शासक हुए थे। जान पड़वा मेकला है कि यह प्रदेश बाकाटकों के हाथ में विंध्यशक्ति के समय में आया था।

मेकला के शासक, जो विंध्यक वंश की एक शास्त्रा में से थे, आंध्र देश के राजा थे^२। आंध्र देश के इतिहास से, जो आगे दक्षिणी भारत के इतिहास के अंतर्गत दिया गया है, उस काल का पूरा पूरा समर्थन होता है जो हमें पुराणों से इन शासकों के संबंध में मिलता है।

₹ ७६. बाकाटकों के समय में कोसला में एक के बाद एक इस प्रकार नौ शासक हुए थे, पर भागवत के अनुसार कोसला इनकी संख्या सात ही है। ये लोग मेघ कहलाते थे। संभव है कि ये लोग उड़ीसा तथा कलिंग के उन्होंने चेदियों के वंशज हों जो खारवेल के वंशधर थे और जो अपने साम्राज्य-काल में महामेघ कहलाते थे। अपनी सात या नौ पीढ़ियों के कारण ये लोग मूलतः विंध्यशक्ति के समय तक, जब कि आंध्र पर विजय प्राप्त की गई थी, अथवा उससे भी और पहले भारशिवों के समय तक जो पहुँचते हैं। विष्णुपुराण के अनुसार कोसला प्रदेश के सात विभाग थे (सप्त कोसला)। पुराणों में कहा गया है कि ये

१. ब्रह्मांड पुराण के सन्तति: पाठ के अनुसार।

२. P. T. ५१, टिप्पणी १६।

शासक बहुत शक्तिशाली और बहुत बुद्धिमान् थे । गुप्तों के समय में भेघ लोग हमें फिर कौशांबी के शासकों या गवर्नरों के रूप में मिलते हैं जहाँ उनके दो शिलालेख मिले हैं^१ ।

§ ७६ क. बरार (नैपथ्य देश) और उसकी राजधानी विदूर (उत्तरी हैदराबाद का बीदर) नल-वंश के अधिकार में थी और नैपथ्य या बरार देश इस वंशवाले बहुत वीर तथा बलवान् थे । कदाचित् विष्णुपुराण का छोड़-

कर और कहीं इस बात का उल्लेख नहीं है कि इसमें कितने राजा हुए थे और विष्णुपुराण की अधिकांश प्रतियों में इनकी भी नौ ही पीढ़ियों का उल्लेख है^२ । उनके आरंभ या अंत का वर्णन इस प्रकार किया गया है—भविष्यति आ मनुच्यात् (अर्थात् ये लोग तब तक बने रहेंगे जब तक मनु के वंशज इनका ज्य न करेंगे) । और इसका दूसरा अर्थ यह है कि मनुओं का ज्य हो जाने पर ये लोग होंगे । यदि दूसरा अर्थ ही लिया जाय तो इनका उदय मनुओं का अंत होने पर हुआ था; और मनुओं से यहाँ अभिप्राय हारीतीपुत्र मानव्यों से है; और ये उसी वंश के लोग हैं जिन्हें आज-कल की पाठ्य पुस्तकों में चुट राजवंश कहा जाता है (देखो चौथा भाग § १५७. और उसके आगे) और इस विचार से इनका उदय

१. E. I. १६२५, पृ०, १५८ ।

२. 'तावन्त एव' (इतना) पाठ के स्थान पर तत् एव (उपरांत) पाठ भी मिलता है ।

लगभग सन् २७५ ई० से ठहरता है। अब यदि पहलेवाला अर्थ लिया जाय तो उसका अभिप्राय यह होगा कि बरार के वंश का नाश मानव्य कदंबों ने किया था जो सन् ३४५ ई० के लगभग हुआ होगा। चुदुओं का जो काल-कम हमें ज्ञात है (देखो आगे चौथा भाग) तथा वाकाटकों और गुप्तों का जो काल-कम हम लोग जानते हैं, उससे क्षपर के दोनों ही अवौं का मेल मिलता है। यदि हम वायुपुराण का पाठ^१ ठोक मानें तो हमें पहला ही अर्थ ठोक मानना पड़ता है; अर्थात् यह मानना पड़ता है कि चुद मानव्यों का नाश होने पर नलों का उदय हुआ था। और उनका यह उदय उसी समय हुआ था जब कि विंध्यशक्ति के समय में आंध्र पर विजय प्राप्त की गई थी। शातबाहनों का अंत होने पर जो राज्य बने थे, जान पड़ता है कि भार-शिवों के सेनापति के रूप में विंध्यशक्ति ने उन सबका अंत कर दिया था। नैषध वंश का अंत समुद्रगुप्त की विजय के समय हुआ था। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि इनमें कम से नौ राजा सिंहासन पर बैठे थे या इससे कम।

• § ७७. संभवतः पुरिका के अधीन नागपुर, अमरावती और खानदेश की सरकार रही होगी। प्रवीर पुरिका और पुरिका और वाकाटक चानका दोनों का ही शासक था अर्थात् साम्राज्य पश्चिमी मध्यप्रदेश और बुंदेलखण्ड दोनों

१. पारजिटर P. T. ५१. टिप्पणी २४. मविष्यति मनु(क)शयात्।



ही उसके स्व-राष्ट्र विभाग के अधीन थे । मालवा प्रांत नाम बंश के अधीन था जिसकी राजधानी माहिषमती में थी । पूर्वी और दक्षिणी बघेलखण्ड, सरगुजा, बालाघाट और चाँदा सब मेकला के शासकों के अधीन थे और उड़ोसा का पश्चिमी विभाग तथा कलिंग कोसला के शासकों के अधीन थे । यदि प्रांतीय गवर्नरों के अधीनस्थ प्रदेशों का ऊपर दिया हुआ नकशा हरिषंग की सूची (कुंतल-अवंती-कलिंग-कोसल-त्रिकूट-लाट-आंध्रः) से मिलाया जाय तो यह पता चलेगा कि कुंतल बाद में मिलाया गया था जिस पर स्वामित्व के अधिकार की स्थापना पृथिवीपेण प्रथम के समय से लेकर आगे बराबर कई बार की गई थी । लाट देश माहिषमती के साथ आरंभिक बाकाटक काल में मिलाया गया होगा । सन् ५०० ई० के लगभग तो वह अवश्य ही उन लोगों के अधीन था ।

झेद, पूर्वी पंजाब में सिंहपुर का करद राजबंश था और ये लोग जालंधर के राजा थे । यह सिंहपुर एक प्राचीन नगर था जिसमें किलेबंदी थी और इस नगर का उल्लेख महाभारत में भी है ।

१. ६६ क ।

२. इसका नाम विगर्त और अभिसार आदि के साथ आया है । समाप्त, अ० २६, श्लोक २० ।

इस वंश का एक शिलालेख^१ देहरादून जिले में यमुना नदी के आरंभिक अंश के पास लक्ष्मामंडल नामक स्थान में मिला है, जिससे प्रमाणित होता है कि गुप्तों के समय में उनका राज्याधिकार शिवालिक तक था । सिंहपुर राज्य के करद तथा अधीनस्थ शासकों के इस वंश की स्थापना संभवतः सन् २५० ई० के लगभग हुई होगी, क्योंकि शिलालेख में उनकी बारह पीढ़ियों का उल्लेख है^२ । उनके समय से सूचित होता है कि उनके वंश का आरंभ भार-शिवों के अंतिम समय में और वाकाटकों के आरंभिक समय में हुआ होगा । ये लोग यादव थे और शिलालेख में कहा गया है कि ये लोग देश के उस विभाग में युग (कलियुग) के आरंभ से ही बसे हुए थे । महाभारत सभापर्व, अ० १४, श्लोक २५ और उसके

१. E. I. १, १०. बुहलर ने तो इस शिलालेख का समय इसी सातवीं शताब्दी बतलाया है (E. I. खंड १, पृ० ११); पर राय बहादुर दयाराम साहनी का मत है कि यह शिलालेख ५० छठी शताब्दी का है । (E. I. खंड १८, पृ० १२५) और मैं श्री साहनी के मत का ही समर्थन करता हूँ ।

२. इनकी वंशावली इस प्रकार है— १ सेन वर्मन्, २ आर्च वर्मन्, ३ दत्त वर्मन्, ४ प्रदीप्त वर्मन्, ५ हंशर वर्मन्, ६ इदि वर्मन्, ७ सिंह वर्मन्, ८ जल, ९ यज वर्मन्, १० अचल वर्मन्, समर्घल, ११ दिवाकर वर्मन्, महीघल, १२ भास्कर चूपु घंघल (E. I. १. ११.) इनमें से नं० १ से ११ तक तो वरावर एक के एक पुत्र है और नं० १२ वाले नं० ११ के भाइ हैं ।

आगे इस बात का उल्लेख है कि उस समय यादव लोग मशुरा छोड़कर चले गए थे; और उनके इस देशांतर-गमन से शिलालेख की उक्त बात का समर्थन भी होता है। जिस समय यादव लोग मशुरा, शूरसेन और उसके आस-पास के प्रदेश छोड़कर पंजाब में जा बसे थे, उसी समय शाल्व और कुण्ठिंद लोग भी मशुरा से चलकर पंजाब में जा बसे थे। जान पढ़ता है कि टक्क लोग, जो बाद में शाल्व देश से चलकर मालवा में जा बसे थे, सिंहपुर के यादव और मशुरा के यादव नाग सब एक ही बड़ी यादव जाति की शाखाओं में से थे; और इसी से यह रहस्य भी खुल जाता है कि मशुरा के प्रति इन लोगों का इतना अधिक प्रेम क्यों था। इस प्रकार सिंहपुर का वंश भार-शिवों के वंश से संबद्ध था। बाकाटकों ने भी यह संबंध बनाए रखा था। जान पढ़ता है कि नाग सम्राटों ने कुशनों को पीछे हटाने के लिये ही सिंहपुर राज्य की स्थापना की थी; और इस काम में यह राज्य किले का काम देता था। सिंहपुर के आरंभिक राजाओं के संबंध में शिलालेख में कहा है कि उनमें आर्यव्रतता और वीरता चर्षेट थी। भार-शिवों की तरह वे लोग भी शैव थे। उनका राज्य कम से कम युवानचवंग के समय (सन् ६३१ ई०) तक अवश्य वर्तमान था; क्योंकि उसने इसका उल्लेख किया है। जान पढ़ता है कि गुप्तों ने इस राज्य को इसलिये बना रहने दिया था कि एक तो यहाँ के राजवंश का महत्व अधिक था

और दूसरे भार-शिवों के समय में कुशनों को उत्तरी आर्यवर्त्त से पीछे हटाने में इनसे बहुत सहायता मिली होगी। पुराणों में इनका उल्लेख नहीं है, क्योंकि ये लोग वाकाटकों के आर्यवर्तीय साम्राज्य में थे जो उत्तराधिकार-रूप में उन्होंने भार-शिवों से प्राप्त किया था। सिंहपुर अर्थात् जालंधर के राजाओं ने कभी अपने सिक्के नहीं चलाए थे। मद्रलोग सिंहपुर राज्य के पश्चिम में थे।

६. सन् २८० ई० के लगभग कुशन लोग दो और से भारी विपत्ति में पड़े थे। वरहान द्वितीय ने, जो सन् २७५ से २८२ ई० तक सासानी सिंहासन वाकाटक काल में कुशन पर था, सीस्तान को अपने अधीन कर लिया था। हम यह भी मान सकते हैं कि जिस प्रवरसेन प्रथम ने चार अश्वमेध यज्ञ किए थे और जिसने कम से कम चार बार बड़ी बड़ी चढ़ाइयाँ की होंगी, उसने कुशन शक्ति को दुर्बल और नष्ट करनेवाली भार-शिवों की नीति का अवश्य ही पालन किया होगा। सन् ३०१ और ३०८ ई० के बीच में कुशन लोग हुर्मजद द्वितीय के संरचणा और शरण में चले गए थे, क्योंकि हुर्मजद द्वितीय ने काबुल के राजा अर्थात् कुशन राजा की कन्या के साथ विवाह किया था। यह ठीक वही समय था जब कि प्रवरसेन प्रथम बहुत प्रबल हो रहा था और इसी समय कुशन राजा ने भारत को छोड़ दिया था और यहाँ से उसके साम्राज्य की राजधानी सदा के लिये उठ गई थी।

वह अपनी रक्षा के लिये भारत से पीछे हटकर अफगानिस्तान में चला गया था और उसने अपने आपको पूरी तरह से सासानी राजा के हाथों में सौंप दिया था । पश्चिमी पंजाब में उस समय उसका जो थोड़ा-बहुत राज्य किसी तरह बचा रह गया था, उसका कारण यही था कि उसे सासानी राजा का संरक्षण प्राप्त था । और उसे इस संरक्षण की आवश्यकता के बल हिंदू सम्राट् प्रबरसेन प्रथम के भय से ही थी ।

§ ८०. जब समुद्रगुप्त चेत्र में आया और उसने रुद्रसेन को परास्त किया, तब उसने वाकाटकों का सारा साम्राज्य,

जिसमें उत्तरवाला माद्रकों का राज्य वाकाटक और पूर्वी पंजाब भी सम्मिलित था, एक ही हल्ले में अपने अधिकार में कर लिया । माद्रकों ने भी तब विना युद्ध किए चुपचाप उसकी अधीनता स्वीकृत कर ली थी; और इससे यह बात सूचित होती है कि वे लोग भी वाकाटकों के साम्राज्य के अंतर्गत और अंग ही थे । जालंधर में यादवों के जो नए राजवंश का उदय हुआ था, उसका कारण यही था कि पूर्वी पंजाब में भी वाकाटक साम्राज्य था । इसी बात से यह पता भी चल जाता है कि परवर्ती भार-शिव काल और वाकाटक काल में माद्रक देश और पूर्वी भारत के साथ क्यों घनिष्ठ संबंध था और आदान-प्रदान आदि क्यों होता था । जो गुप्त लोग सन् २५०-२७५ ई० के लगभग विहार में पहुँचे थे वे, जैसा कि हम आगे चलकर (§ ११२) बतलावेंगे, मद्र देश

से ही आए थे । मद्र देश के साथ जो यह संबंध था, उसी के कारण इतनी दूर पाटलिपुत्र में भी चंद्रगुप्त प्रथम के समय कुशन शैक्षी के सिक्के ढलते थे जिससे मुद्राशास्त्र के एक ज्ञाता (मि० एलन) इतने चक्कर में पड़ गए हैं कि वे यह मानने के लिये तैयार ही नहीं हैं कि चंद्रगुप्त प्रथम के सिक्के स्वयं उसके बनवाए हुए ही हैं; बल्कि वे इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि ये सिक्के उसके बाद उसके लड़के ने पंजाब पर विजय प्राप्त करने के उपरांत बनवाए थे । भार-शिव काल

१. एलन-कृत Catalogue of the Coins of the Gupta Dynasties, पृ० ६४ और उसके आगे ।

मि० एलन के इस सिद्धांत के संबंध में यह बात ध्यान में रखने की है कि कोई हिंदू कभी अपने पिता और माता का विवाह करने का विचार भी न करेगा । चंद्रगुप्त प्रथम के इन सिक्कों पर यह अंकित है कि चंद्रगुप्त अपनी पत्नी के साथ प्यार कर रहा है; और इस प्रकार के सिक्के स्वयं चंद्रगुप्त प्रथम के ही बनवाए हुए हो सकते हैं ।

जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, अपने पाटलिपुत्रवाले सिक्कों से पहले चंद्रगुप्त प्रथम ने जो सिक्के बनवाए थे, उनके चिन्ह कनिंघम-कृत *Catalogue of Ancient India* प्लेट ७ के अंक १-२ पर दिए हुए हैं । ये सिक्के उस समय बनवाए गए थे जिस समय वह भार-शिव बाकाटक साम्राज्य के अधीन था । इन सिक्कों पर चिराल अंकित है जो भार-शिवों का चिह्न था । कनिंघम का मत है कि उस पर चंद्रगुप्तस लिखा है (पृ० ८१) । पर इसका पहला अच्छर च है और इसका समर्थन इस बात से होता है कि उस च के ऊपर अनुस्वार है । अंतिम अच्छर स नहीं बल्कि स्य है ।

में जो फिर से सिक्के बनने लगे और कुशनों के इतिहास तथा जालंधर राज्य की स्वापना के संबंध में जो बातें बतलाई गई हैं, उनका ध्यान रखते हुए इस बात में कोई संदेह नहीं रह जाता कि वाकाटक-साम्राज्य में माद्रक देश भी सम्मिलित था ।

₹ ८१. यही बात राजपूताने और गुजरात की रियासतों के संबंध में भी कही जा सकती है । समुद्रगुप्त के शिलालेख राजपूताना और गुज. में पश्चिमी और पूर्वी मालवा के जिन रात; वहाँ कोई द्वयप्रजातंत्री समाजों की सूची दी है, उनमें नहीं या

आभीरों का नाम सबसे पहले आया है और मालव-आर्जुनायन-वौद्धेय-माद्रकवाले वर्ग में मालवों का नाम सबसे पहले आया है । मालव से माद्रक तक का वर्ग दक्षिण से उत्तर की ओर अर्थात् दक्षिणी राजपूताने से एक के बाद एक होता हुआ पंजाब तक पहुँचता है; और आभीरोंवाला वर्ग सुराष्ट्र से आरंभ होकर गुजरात तक पहुँचता है जिसमें मालवों के दक्षिण के पासवाला प्रदेश भी सम्मिलित है; और इस वर्ग के देश पश्चिम से पूर्व की ओर एक सीधी रेखा में हैं (₹ १४५) । जैसा कि हम आगे चलकर इस श्रेणी के दूसरे भाग में बतलावेंगे, यह ठीक वही स्थिति है जो पुराणों में आगे चलकर इसके बादवाले गुप्त साम्राज्य के काल के आरंभ में सुराष्ट्र-अवंती के आभीरों की बतलाई गई है । वाकाटक काल में काठियावाड़ या गुजरात में

शक चत्रप विलकुल रह ही नहीं गए थे । वे लोग वहाँ से निकाल दिए गए थे और पुराणों के अनुसार वे लोग केवल कच्छ और सिंध में ही बच रहे थे (तीसरा भाग § १४८) । प्रजातंत्री भारत ने, जिसने भार-शिव काल में अपने सिक्के फिर से बनवाने आरंभ किए थे, विना किसी युद्ध के समुद्रगुप्त को सम्राट् मान लिया था । बातें तो सब ही ही चुकी थीं; अब तो उनके लिये उन्हें मान लेना भर बाकी रह गया था, और इस प्रकार उन्होंने वे बातें मान भी ली थीं । जब गुप्त सम्राट् ने बाकाटक सम्राट् का स्थान प्रहण किया, तब प्रजातंत्री भारत ने स्वभावतः उसी प्रकार गुप्तों का प्रभुत्व मान लिया, जिस प्रकार उन्होंने बाकाटकों का प्रभुत्व मान लिया था । उन्होंने स्वीकृत कर लिया कि गुप्त सम्राट् ही भारत के सम्राट् हैं ।

§ ८२. उस समय के दक्षिण भारत का इतिहास इस ग्रंथ में अलग (देखो चौथा भाग) दिया गया है; परंतु बाकाटकों

दक्षिण

और गुप्तों का इतिहास तथा दक्षिण के

साथ उनके संबंध का ठोक ठोक स्वरूप

दिखलाने के लिये पहले से ही यहाँ भी कुछ बातें बतला देना आवश्यक जान पड़ता है । अपने साम्राज्य के जिस भाग में बाकाटकों का प्रत्यक्ष रूप से शासन होता था, उसकी सीमा कुंतल की सीमा से मिलती थी । बाद में कुंतल-कर्णाट के प्रबल कदंब राज्य का उत्थान होने पर

उसके साथ वाकाटकों के प्रायः जो भगड़े हुआ करते थे, उन्होंने से यह बात प्रमाणित हो जाती है कि देनों को सीमाएँ मिलती थीं। कुंतल के पढ़ासी होने के लिये यह आवश्यक था कि वाकाटकों का प्रत्यक्ष शासन कोंकण तथा दक्षिणी मराठा रियासतों के चेत्र पर होता; और इसका अभिप्राय यह है कि उनका राज्य अवश्य ही बालाघाट पर्वत-माला के उस पार तक पहुँच गया होगा। पूर्व ओर-बाले प्रदेश में आंध्र लोग थे और वे भी वाकाटकों के अधिकार-चेत्र के अंतर्गत ही थे; और कलिंग तथा कोसलवाले भी वाकाटकों का प्रभुत्व मानते थे और उनके अधीन थे। प्रवरसेन प्रथम के समय से पहले और लगभग विंध्यशक्ति के समय में पल्लवों ने आंध्र देश में अपना एक राज्य स्थापित किया था। विंध्यशक्ति की तरह पल्लव भी भारद्वाज-गोत्रीय ब्राह्मण थे। उन्होंने भी प्रवरसेन की तरह उसी के समय के लगभग अश्वमेध और बाजपेय आदि यज्ञ किए थे और दक्षिणापथ के सातवाहन सम्राटों के साम्राज्य पर अधिकार करने का प्रयत्न किया था। यहाँ भी उसी प्रकार इतिहास की पुनरावृत्ति हो रही थी, जिस प्रकार पुष्यमित्र शुंग और शातकर्णि (प्रथम) शातवाहन के समय में हुई थी। पुराणों में पल्लव लोग आंध्र राजा या आंध्र देश के राजा कहे गए हैं, जो आंध्र सहित मेकला पर राज्य करते थे और विंध्य की (अर्धात् विंध्यशक्ति की) संतति कहे गए हैं (६१७६)। पल्लवों

से पहले वहाँ एक और राजवंश का राज्य था जिसने प्रायः तीन पोड़ियों तक शासन किया था । वे लोग इच्चाकु कहलाते थे; और ज्योंही सातवाहन वंश का अंत हुआ था, त्योंही उन्होंने अश्वमेघ बज करके यह जतलाना चाहा था कि हम सातवाहनों का राज्य लेने के प्रयत्न में हैं । उनकी राजधानी श्रीपर्वत में थी जिसे आज-कल नागार्जुनी कोड कहते हैं और जो गंदूर जिले में है । इनका पता उन शिलालेखों से चलता है जो इनके संबंधियों ने खुदवाए थे और जो नागार्जुनी कोड के उस स्तूप में मिले हैं जिसका पता अभी हाल में चला है; और साथ ही जग्गाइयपेट के शिलालेखों में भी इनका उल्लेख है । विंध्यशक्ति और पल्लवों के उदय के साथ ही साथ इच्चाकुओं का अंत हो गया था । पल्लव लोग ब्राह्मण थे और उनसे पहले से सातवाहन भी ब्राह्मण ही थे । दक्षिण में बहुत पहले से ब्राह्मणों का साम्राज्य चला आता था; और वह साम्राज्य इतना प्रबल था कि ज्योंही समुद्रगुप्त ने पल्लवों को परास्त किया, त्योंही पल्लवों के करद तथा अधीनस्थ राज्य कदंब के मयूर शर्मन और उसके पुत्र कंग ने, जो ब्राह्मण थे, यह मानने से इनकार कर दिया कि दक्षिणी साम्राज्य का नाश हो गया और उन्होंने दक्षिणी साम्राज्य की पुनर्स्वापिना की भी घोषणा कर दी । पर यह ठोक है कि समुद्रगुप्त और पृथिवीपेण बाकाटक ने उन लोगों की कुछ चलनै नहीं दी थी ।

§ ८३. उस समय के उत्तर तथा दक्षिण भारत के इति-
हास में मुख्य अंतर यही था कि उत्तरवाले एक अखिल
अखिल भारतीय सा- भारतीय साम्राज्य स्थापित करना
माल्य की आवश्यकता चाहते थे । सातवाहनोंवाले पिछले
साम्राज्य के समय हिंदुओं को जो अनुभव प्राप्त हुआ था,
उसी के फल-स्वरूप उनमें यह कामना उत्पन्न हुई थी । उस
समय उन्हें यह अनुभव हुआ था कि जो आक्रमणकारी
सदा उत्तर की ओर से आया करते हैं, उनके सामने दक्षिणी
शक्ति ठहर नहीं सकती थी । वे समझते थे कि एक भारत
में दो सम्राटों का होना एक बहुत बड़ी दुर्बलता का कारण
है । प्रबरसेन प्रथम जो सारे भारत का सम्राट् बना था,
जान पढ़ता है कि उसमें उसका मुख्य नैतिक उद्देश्य यही
था; और उसके उपरांत उसके उत्तराधिकारी समुद्रगुप्त ने जो

१. पल्लव शिवस्कंद वर्मन् प्रथम यद्यपि दक्षिण का धर्म-महा-
राजाधिराज कहलाता था, तो भी उसने कभी स्वतंत्र रूप से अपना
सिक्का नहीं ढालवाया था और उसका पुत्र तथा उत्तराधिकारी लोग
भी महाराज अर्थात् वाकाटक सम्भ्राट् के अधीनस्थ महाराज थे । उस
समय 'महाराज' शब्द किसी सम्भ्राट् के अधीनस्थ और करद होने का
सूचक होता था । शिवस्कंद वर्मन् के उत्तराधिकारियों ने अपने
ताम्रलेखों में उसे केवल 'महाराज' ही लिखा है । धर्म महाराजा-
धिराज की उपाधि बहुत ही बोड़े समय तक प्रचलित रही और चौलों
आदि अर्थात् दक्षिणवालों के मुकाबले में रखी गई थी ।

इस बात पर संतोष प्रकट किया था कि मैंने सारे भारत को एक में मिलाकर अपने दोनों हाथों में कर रखा है, उसका कारण भी यही था। एक तो कुशन साम्राज्य का जो पुराना अनुभव था और दूसरे भारत के पड़ोस में ही विद्यशक्ति के समय में जो नवा सासानी साम्राज्य स्थापित हुआ था, उसके प्रबल हो जाने के कारण जो नई आवश्यकता उत्पन्न हो गई थी, उन दोनों के कारण इस बात की आवश्यकता भी स्पष्ट हो थी। यह आवश्यकता उस समय और भी प्रबल हो गई थी जब प्रवरसेन प्रथम के समय में सन् ३०० ई० के लगभग कुशन साम्राज्य पूरी तरह से सासानी साम्राज्य में मिल गया था। वाकाटक राजा ने चार अध्यमेध यज्ञ किए थे। महाभारत का दिग्बिजय जो चार भागों में विभक्त था, उसी की समता का ध्यान रखते हुए हम यह अभिप्राय भी निकाल सकते हैं कि प्रवरसेन प्रथम ने भी अपना दिग्बिजय चार भागों में विभक्त किया था और उनमें से एक दक्षिण की ओर हुआ होगा। यद्यपि सम्राट् प्रवरसेन के समय का लिखा हुआ उसके दिग्बिजय का कोई वर्णन तभी लोगों को अभी तक नहीं मिला है और तामिल साहित्य में आयों और वाहुकों अर्थात् उच्चर से आनेवाले आकमण-कारियों का जो वर्णन दिया है, वह बहुत ही अनिश्चित है, तो भी यह बात निश्चित ही जान पड़ती है कि आरंभिक वाकाटक लोग बालाघाट के उस पार आंध्र प्रदेश में जा

पहुँचे थे और उस पर अधिकार करके तामिल देश की रियासतों के पड़ोसी बन गए थे; और उन पर दिग्विजय करना इसलिये सहज हो गया था कि तामिलगण की सबसे बड़ी रियासत चेल की राजधानी कांची पर अधिकार कर लिया गया था। सारे भगड़े का निपटारा तो सातवाहनों के उत्तराधिकारी इच्चवाकुओं के साथ हो ही गया था, जिन्होंने केवल नष्ट सम्मान और भारत की रक्षा करनेवाले सम्राटों का निंदित नाम ही हस्तांतरित किया था; और तब प्रवरसेन प्रथम उचित रूप से यह घोषणा कर सकता था कि मैं सारे भारत का सम्राट् हूँ।

§ ८४. भार-शिवों ने तो गंगा और यमुना को (इनके आस-पास के प्रदेश को) स्वतंत्र कर दिया था, परंतु कुशनों को भारत से बाहर निकालने का काम बाकाटकों की कृतियाँ प्रबल प्रवरसेन प्रथम के ही हिस्से पड़ा था जो एक बहुत बड़े योद्धा का पुत्र भी था और स्वयं भी एक बहुत बड़ा योद्धा था। उसके समय में कुशन राजा काबुल का राजा हो गया था; परंतु चीनी लेखकों के अनुसार सन् २४० या २५० ई० तक मुरुंड ही भारत का राजा माना जाता था। और इसी मुरुंड ने ईंडो-चाइना के एक हिंदू

१. जायसवाल का The Murunda Dynasty नामक लेख जो The Malaviya Commemoration Volume पृ० १८५ में छपा है। मुरुंड कुशनों की राजकीय उपाधि थी। (J. B. O. R. S. खंड १६, पृ० २०३।)

राजा को युएह-ची बोड़े भेजे थे; और इसका अभिप्राय यह है कि यद्यपि उस समय तक मुरुंड गंगा और यमुना के बीच का अंतर्वेद छोड़कर चला गया था, तो भी वह भारत का सम्राट् और भारत में शासन करनेवाला ही माना जाता था।

§ ८५. वाकाटक सम्राट् ने तीन बहुत बड़े कार्य किए थे। भार-शिव साम्राज्य के प्रायः अंतिम चालीस वर्षों में तीन बड़े कार्य; अखिल उसका पिता विंध्यशक्ति बहुत बड़े बड़े भारतीय साम्राज्य की युद्ध करता रहा था और वही भार-कल्पना, संस्कृत का पुनरुद्धार, सामाजिक पुनरुद्धार शिवों के साम्राज्य का संस्थापक था। प्रबरसेन ने भी उसकी शक्ति और आदर्श

प्राप्त किया था और एक स्पष्ट राजनीतिक सिद्धांत स्थिर किया था। (१) उसने निश्चित किया था कि सारे भारत में एक हिंदू-साम्राज्य होना चाहिए और शास्त्रों की मर्यादा की फिर से स्थापना होनी चाहिए। (२) सन् २५० ई० के लगभग संस्कृत के पच्च में एक बड़ा साहित्यिक आंदोलन आरंभ हुआ था और पचास वर्षों में वह आंदोलन बढ़कर उस सीमा तक पहुँच गया था, जिस सीमा पर गुप्तों ने उसे अपने हाथ में लिया था। सन् ३४० ई० के लगभग कौमुदी-महोत्सव नामक एक नाटक लिखा गया था जिसमें समस्त साहित्यिक आंदोलन का चित्र अंकित किया गया है। यह नाटक वाकाटक सम्राट् के एक करद और अधोनस्थ राजा के दरबार में लिखा गया था और इसकी लिखनेवाली एक लोगी,

जिसने एक आसन से बैठकर एक बार में ही आदि से अंत तक सारा नाटक लिख डाला था और जिसके लिये संस्कृत में काव्य करना उतना ही सुगम था, जितना सुगम भास और कालिदास के लिये था । प्राचीन काव्यों की संस्कृत भाषा माने उसकी बोल-चाल की भाषा हो रही थी । साथ ही उस समय वह राज-भाषा भी हो गई थी । भाव-व्यंजन के प्रकार और रूप आदि निश्चित हो गए थे और सभी राजकीय कर्मचारी संस्कृत में ही बात-चीत करते और पत्र आदि लिखते थे । राजधानी में अथवा उसके आस-पास जितने आरंभिक शिलालेख आदि पाए गए हैं, वे सब संस्कृत में ही हैं । उसी समय शिवसंकंद वर्मन के एक पीढ़ी बाद दक्षिण के राजकीय पत्रों और लेखों आदि में भी संस्कृत का ब्यवहार होने लग गया था । वाकाटक लेखों आदि में वंशावली का जो रूप बराबर पीढ़ी दर पीढ़ी दोहराया गया है, उससे सूचित होता है कि प्रवरसेन प्रथम के समय में ही संस्कृत में लेख आदि लिखने की प्रथा चल गई थी । समुद्र-गुप्त और उसके उत्तराधिकारियों ने भी वाकाटक लेखन-शैली का ही ठोक ठोक अनुकरण किया है । गणपति नाग नामक एक दूसरे करद और अधीनस्थ राजा के दरबार में बहुत दिनों से चली आई हुई देश भाषा को छोड़कर फिर से प्राचीन संस्कृत में काव्य करने की प्रथा चल पड़ी थी; और भावशतक में उस नाग राजा के संबंध में जो इलोक

दिए गए हैं, उन्हें देखकर प्राकृत की गायासमशती का स्मरण हो आता है। (३) कौमुदी-महोत्सव से हमें इस बात का भी पता चलता है कि उस समय सामाजिक पुनरुद्धार या सुधार हुआ था। उसमें वर्णश्रिम धर्म और सनातन हिंदू धर्म के पुनरुद्धार पर बहुत ज्यादा जोर दिया गया है। उस समय चारों तरफ इन्हों बातों की पुकार मची हुई थी। कुशन शासन के समय समाज में जो दोष युस आए थे, वाकाटकों के साम्राज्य काल में उन सबको निकाल बाहर करने का प्रयत्न हो रहा था; और समाज अपने आपको उन सब दोषों से मुक्त करने लगा था। वह हिंदुओं के दोष दूर करके उन्हें शुद्ध करनेवाला आंदोलन था जिसका प्रबरसेन प्रथम ने बहुत अच्छी तरह पृष्ठ-पोषण किया था; और उसके साम्राज्य की स्थापना का अभिप्राय ही मानो यह था कि सब जगह यह आंदोलन खड़ जोर पकड़े^१ ।

१. जो बड़े बड़े और बार बार वैदिक कृत्य या यज्ञ (अग्निष्ठोम, अप्तोर्याम, उक्त्य, पोडशिन्, आतिरात्र, वाजपेय, वृहस्पतिसव, सादस्क और अश्वमेघ) (G. I. पृ० २३६) हुआ करते थे, उनमें अवश्य ही बहुत से लोग एकत्र हुआ करते होंगे और उनके द्वारा अपने उहेश्यों और धर्म का प्रचार भी किया जाता होगा ।

§ ८६. गंगा और यमुना की मूर्तियाँ वास्तु-कला में राज-कीय और राष्ट्रीय चिह्न बन गई थीं। जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, मत्स्यपुराण में साव-कला का पुनरुदार वाहन काल तक की वास्तु-कला का विवेचन है; और उसमें कहाँ इस बात का उल्लेख नहाँ है कि शिव, विष्णु अथवा और किसी देवता के मंदिर में गंगा और यमुना की मूर्तियाँ यों ही अथवा अवश्य रहनी चाहिए। इनका प्रहण अवश्य ही राजनीतिक उद्देश्यों से हुआ था। भार-शिव काल में भार-शिवों के साथ गंगा का जो संयोग हुआ था, उसमें बहुत बड़ा नैतिक बल निहित था। भार-शिवों ने गंगा को मुक्त किया था और वे उसे कला के चेत्र में लाए थे और उन्होंने उसे अपने सिक्कों तक पर स्थान दिया था। वे यमुना को भी कला के चेत्र में ले आए थे, जैसा कि भूमरा के मंदिरों और देवगढ़वाली गंगा और यमुना की उन मूर्तियों से सूचित होता है जिनके ऊपर नागछत्र हैं। पर वाकाटकों ने तो उन्हें अपने साम्राज्य का चिह्न ही बना लिया था; और उन्होंने चालुक्यों ने उन्हें प्रहण किया था और अपना साम्राज्य-चिह्न बनाया था।

१. देखो S. I. I. खंड १, पृ० ५४ जिसमें गंगा और यमुना, मकर-तोरण, कनकदंड इत्यादि को चालुक्यों के साम्राज्य का चिह्न (साम्राज्य-चिह्नानि) कहा गया है। साथ ही देखो इंडियन एंटीक्वरी, खंड ८, पृ० २६।

(₹१०१ क)। पल्लव भी, जो वाकाटकों की एक शास्त्रा ही थे, उनका व्यवहार करते थे? और सब लोग इस चिह्न का राजनीतिक अर्थ बहुत अच्छी तरह समझते थे। वे जानते थे कि इसका अर्थ साम्राज्य—आर्यवर्त का साम्राज्य—है^२। नाग-वाकाटकों ने गंगा-यमुना की जो मूर्तियाँ बनाई थीं, वे इन नदियों की मूर्तियाँ तो थीं ही, पर साथ ही गंगा और यमुना के मध्य के प्रदेश की भी सूचक थीं जहाँ इन लोगों ने फिर से सनातन धर्म की स्थापना की थी। भूमरा

१. देखो S. I. I. खंड २, पृ० ५२१ में वेलूरपलैयमबाले प्लेटो की गोहर जिसमें दूसरी पंक्ति में यमुना की उभारदार मूर्ति है, जिसके नीचे एक कच्छुप बना है और बोन में गंगा की मूर्ति है जिसके चरणों के पास दो घड़े हैं और तिर के ऊपर नाग के फन का छुत्र है।

२. इंडियन एंटीक्वरी, खंड १२, पृ० १५६ और १६३। वाणी (बड़ीदा) के राष्ट्रकूट ताम्रपत्र में गोविंदराज द्वितीय की विजय का वर्णन है और उसमें गंगा तथा यमुना की मूर्तियोंवाली व्यजाओं का छीन लेने का इस प्रकार वर्णन है—“गोविंदराज ने, जो कीर्ति की मूर्ति था, शव्याओं से गंगा और यमुना की पताकाएँ, जो बहुत ही मनोहर रूप से लहरा रही थीं, छीन लीं और साथ ही वह महाप्रभुत्व का पद भी (प्राप्त कर लिया) जो (इन नदियों से) प्रत्यक्ष चिह्न के रूप में सन्चित होता था।” मिलाओ इंडियन एंटीक्वरी, खंड २०, पृ० २७५ में फ्लीट का लेख जिसमें कहा गया है कि ये चिह्न किसी न किसी रूप में आरंभिक गुप्तों से लिए गए थे। (फ्लीट के समय तक नाग-वाकाटक चिह्नों का पता नहीं चला था।)

और नचना में गंगा और यमुना की जो सुंदर और शानदार मूर्तियाँ हैं, वे मानों नाग-बाकाटक संस्कृति का दर्पण हैं। स्वयं बाकाटक लोग भी शारीरिक दृष्टि में लिखा है कि प्रवीर के चारों पुत्र साँचे में ढली हुई मूर्तियों के समान सुंदर (सुमूर्त्यः) थे। अजंतावाले शिलालेख में देवसेन और हरिषेण की सुंदरता का विशेष रूप से वर्णन है। बाकाटकों के समय में अजंता की तत्त्वज्ञ कला और चित्र-कला में मानों प्राणों का संचार किया गया था और अजंता उन लोगों के प्रत्यक्ष शासन में था। परवर्ती बाकाटक काल में भी यह परंपरा बराबर बनी रही। आज-कल के सभी लेखक यही कहा करते हैं कि संस्कृत के पुनरुद्धार के अध्य की तरह हिंदू-कला के पुनरुद्धार का भी सारा अध्य गुप्तों का है; पर वास्तव में इसका सारा अध्य बाकाटकों का ही है। वास्तु-कला की जिन जिन बातों का पूरा विकास हमें एरन, उद्यगिरि, देवगढ़ और अजंता में तथा उसके बाद भी मिलता है, उन सबका बीज नचना के बाकाटक मंदिरों में मौजूद है; यथा कटावदार जाली की स्थिङ्की, गवाचबाला छब्जा, शिखर, लिपटे हुए साँप, मूर्तियों और बेल-बूटों से युक्त दरवाजों के चौखटे, उभारदार शिखर, रहने के घरों के ढंग के चौकोर मंदिर आदि। (नचनावाले मंदिरों के संबंध में देखो अंत में परिशिष्ट क) ।

§ ८७. यह ठीक है कि वाकाटकों के सिक्के चंद्रगुप्त प्रथम के सिक्कों की तरह देखने में भड़कीले नहीं होते थे; सिक्के पर इसका कारण यह नहीं था कि उन लोगों में कला का यथेष्ट ज्ञान या बल नहीं था^१। बल्कि इसका कारण यह था कि वे लोग पुराने ढर्रे के थे। वे उन कुशनों के सिक्कों का अनुकरण नहीं कर सकते थे जिन्हें वे देश के शत्रु और म्लेच्छ समझते थे। चंद्रगुप्त प्रथम ने जो कुशनों के सिक्कों का अनुकरण किया था, उसे उन लोगों ने राष्ट्रीय दृष्टि से पतन का सूचक समझा होगा। समुद्रगुप्त जिस समय अधीनस्थ और करद राजा था, उस समय वाकाटकों के प्रभाव के कारण स्वयं उसे भी उसी पुराने ढर्रे पर चलना पड़ा था और राष्ट्रीय शैली के सिक्के चलाने पड़े थे^२।

§ ८८. वाकाटकों ने अपनी शासन-प्रणाली भार-शिवों से ग्रहण की थी और वाकाटकों से समुद्रगुप्त ने ग्रहण की थी। पर हाँ, दोनों ने ही अपनी अपनी वाकाटक शासन-प्रणाली और से उसमें कुछ सुधार भी किए थे। वाकाटकों की शासन-प्रणाली यह थी कि स्वयं उनके प्रत्यक्ष

१. देखा ऊपर § ८१, पृथिवीपेण प्रथम के सिक्के पर का साँहि।

C. I. M. प्लेट २०, आकृति नं० ४।

२. व्याप्र शैलीवाला सोने का सिक्का, जिस पर वाकाटकों का साम्राज्य-चिह्न गंगा है।

शासन के अधीन एक बड़ा केंद्रीय राज्य होता था जिसमें दो राजधानियाँ होती थीं। कई उपराज वा उप-शासक होते थे जिनका पद वंशानुक्रमिक होता था, और कई स्वतंत्र राज्यों का एक साम्राज्य-संघ होता था। भार-शिव प्रणाली में साम्राज्य का चाभीवाला पत्थर राज्य की मेहराब में बाकी ईटों के समान ही रहता था, पर बाकाटक-प्रणाली में वह एक महत्वपूर्ण ढंग हुआ करता था।

६४ दृष्टि बाकाटकों ने अपने संबंधियों के अलग पर अधीन-स्थ राजवंश भी स्थापित किए थे। पुराणों के अनुसार

अधीनस्थ राज्य और प्रवरसेन प्रथम के चार पुत्र शासक थे। साम्राज्य

महाराज श्री भीमसेन का एक चित्रित शिलालेख गिंजा पहाड़ी के एक गुहा-मंदिर में है। यह पहाड़ी इलाहाबाद से दक्षिण-पश्चिम ४० मील की दूरी पर है। उस शिलालेख पर ५२वाँ वर्ष अंकित है। जान पड़ता है कि यह भीमसेन कौशांबी का शासक था और संभवतः प्रवरसेन का पुत्र था^१। महत्व के अधीनस्थ वंशों (यथा गण-पति नाग, सुप्रतीकर) और साम्राज्य के सदस्यों (प्रजातंत्रों) को स्वयं अपने सिक्के चलाने का अधिकार दे दिया जाता था। गुप्त-प्रणाली में आर्यावर्त में एक मात्र शासक संबंधी बाका-

१. A. S. R. खंड, २१, पृ० ११६, प्लेट ३०. एपिग्राफिया इंडिका खंड ३, पृ० ३०६. देखो श्रावे ₹ १०३।

टक ही थे जो पूरी तरह से स्वतंत्र थे । गुप्त लोग अपने नौकरों को ही शासक बनाकर रखना पसंद करते थे और उन्होंने अपने अधीनस्थों को सिक्के बनाने का अधिकार विलकुल नहीं दिया था । दोनों ही अपने अधीनस्थ शासकों को “महाराज” उपाधि का प्रयोग करने देते थे और यह बात पुरानी महाचत्रपतवाली प्रणाली के अनुरूप होती थी; पर ही इस नाम या शब्द का परित्याग कर दिया गया था । गुप्तों ने तो शाहानुशाही का अनुवाद महाराजाभिराज कर लिया था, पर वाकाटक सम्ब्राट् ने ऐसा नहीं किया था, बल्कि उसने सम्ब्राट् वाली प्राचीन वैदिक उपाधि ही धारणा की थी ।

§ ८०. वाकाटक लोग कहर शैव थे^१ । उनका यह मत केवल एक पीढ़ी में रुद्रसेन द्वितीय के समय बदला था; धार्मिक मत और इसका कारण उसकी पल्ली प्रभापवित्र अवशिष्ट वती और श्वसुर चंद्रगुप्त द्वितीय का प्रभाव था जो दोनों कहर वैष्णव थे । पर जब चंद्रगुप्त का प्रभाव नष्ट हो गया, तब इस वंश ने फिर अपना पुराना शैव मत ब्रह्मण कर लिया था । वाकाटक काल के जो मंदिर

१. वाकाटक शिलालेखों में इसका उल्लेख है और उनके सिक्कों पर नंदी की मूर्त्ति रहनी थी । रुद्रसेन प्रथम के समय तक महामैरव राज-देवता थे । पृथिवीपेण ने उनका स्थान महेश्वर के दिया था जो मानो विष्णु और शिव के मध्य का रूप है । G. I. पृ० २३६, नचना में महामैरव है (देखो परिशिष्ट क) ।

और अवशेष आदि मिलते हैं, वे मुख्यतः योद्धा शिव के ही हैं; यथा नचना के मंदिर और जासो के भैरव लिंग^१ जो भूमरा और नकटी के (भार-शिव) एकमुख लिंगों से भिन्न हैं, (जिनके चित्र श्री बनर्जी ने Arch. Memoirs नं० १६, प्लेट १५ A. S. W. C. सन् १८१८-२०, प्लेट २८ में दिए हैं^२)। कला की दृष्टि से ये सभी लिंग एक ही प्रकार या वर्ग के हैं, चाहे देवता के ध्यान अलग ही क्यों न हों। चाहे इन कलाओं और गुप्त कला में सिद्धांत संबंधी कोई बहुत बड़ा अंतर न हो, पर उद्देश्य और भाव की दृष्टि से ये बिलकुल अलग और स्वतंत्र वर्ग के ही हैं। यद्यपि कनिंघम ने लोगों को सचेत करने के लिये कह दिया है—‘यद्यपि यह संभव है कि इस प्रकार के मंदिरों के आरंभिक नमूने गुप्त शासन के कुछ दिन पहले के हों।’ (A. S. R. खंड ८, पृ० ४२)। तो भी वाकाटकों और गुप्तों के जितने अवशिष्ट मंदिर आदि हैं, वे सभी गुप्तों के समय के ही कहे जाते हैं। परंतु वाकाटकों और गुप्तों के मंदिरों आदि में अंतर संप्रदाय संबंधी है। नाग-वाकाटकों के सब मंदिर शिव-संबंधी या शैव-संप्रदाय

१. देखो अंत में परिशिष्ट क।

२. खोह के पास नकटी नामक स्थान में एकमुख लिंग। इसका चेहरा यौवन-काल का है, जैसा मत्स्यपुराण २५८, ४ के अनुसार होना चाहिए।

के हैं और गुप्तों के मंदिर वैष्णव-संप्रदाय के हैं। एरन और देवगढ़ के वैष्णव मंदिरों के जो भग्नावशेष हैं, वे सब गुप्तों के माने जा सकते हैं; और नचना तथा जासो के सब मंदिर और तिगोवा के सब नहीं तो अधिकांश भग्नावशेष निःसंदेह रूप से वाकाटकों के हैं।

१०. परवर्ती वाकाटक काल संबंधी परिशिष्ट

(सन् ३४८-५५० ई०)

और वाकाटक संवत् (सन् २४८-४९ ई०)

§ ४१. पृथिवीपेण प्रथम के काल (सन् ३४८-३७५ ई०) और उसकी कुंतल-विजय (लगभग सन् ३६० ई०^१) का आरंभ प्रवर्त्तन द्वितीय और भिक काल से ही अधिक संबंध है। नरेन्द्रसेन

परवर्ती वाकाटक का काल रुद्रसेन द्वितीय (लगभग ३७५-३८५ ई०) के समय से आरंभ होता है; और रुद्रसेन द्वितीय के समय में इसके सिवा और कोई विशेष घटना नहीं हुई थी कि उसने अपने श्वसुर चंद्रगुप्त द्वितीय के प्रभाव में पड़कर अपना शैव-मत छोड़कर वैष्णव-मत प्रहण कर लिया था। इसके उपरांत उसकी विधवा खो प्रभावती गुप्ता ने अपने अल्प-वयस्क पुत्रों की अभिभाविका के रूप में

१. पृथिवीपेण प्रथम ने कंगवर्मन् कदंब को सन् ३६० ई० के लगभग परास्त किया था। देखो आगे तीसरा भाग।

लगभग बीस वर्षों तक शासन किया था; और यह काल चंद्र-
गुप्त द्वितीय के काल के लगभग एक वर्ष बाद तक
भी पहुँच सकता है। उसका पुत्र प्रबरसेन द्वितीय कुमार-
गुप्त का सम-कालीन था; और जान पड़ता है कि मृत्यु के
समय उसकी अवस्था कुछ अधिक नहीं थी, क्योंकि प्रबरसेन
द्वितीय का पुत्र आठ वर्ष की अवस्था में सिंहासन पर बैठा
था। अजंतावाले शिलालेख के अनुसार प्रबरसेन द्वितीय
के पुत्र ने “अच्छी तरह शासन किया” था। यही बात
बालाघाटवाले दानपत्रों में इस प्रकार लिखी है—“उसने
पहले की शिक्षा के द्वारा जो विशिष्ट गुण प्राप्त किए थे, उनके
कारण उसने अपने बंश की कीर्ति की रचा का उत्तरदायित्व

१. बालाघाटवाले प्लेट वस्तुतः दानपत्र नहीं हैं, बल्कि दानपत्र का
मसौदा है। जब कभी किसी को कोई भूमि दान में दी जाती थी, तब
उसी मसौदे के अनुसार सादे ताम्रपटों पर वह मसौदा अंकित कर
दिया जाता था। इसी लिये उसमें न तो किसी दान का, न दाता का,
न समय का, न रजिस्टरी का (दृष्टम् की तरह) उल्लेख है और न मोहर
का कोई चिह्न है। बाकाटक दानपत्रों में जिस देवगुप्त का उल्लेख है,
उसका काल समझने में कीलहान ने भूल की थी और प्लीट का कथन
मानकर उसने देवगुप्त के परवर्ती गुप्त काल का समझ लिया था; और
इसी लिये उसने उन दानपत्रों को और प्रबरसेन द्वितीय के दूदियावाले
दानपत्रों को भूल से आठवीं शताब्दी का मान लिया था। (E. I.
६, २६६; E. I. ३, २६०)। बुहलर ने उसका जो समय निश्चित
किया था, वही अंत में ठीक सिद्ध हुआ।

अपने ऊपर लिया था (पूर्वाधिगतगुणविशेषाद्^१ अपहृत-वंशश्रियः) । वह आठ वर्ष की अवस्था में सिंहासन पर बैठा था और अपने यौवराज्य काल में उसने आवश्यक गुण प्राप्त (अधिगत) किए थे और तब शासन का भार अपने ऊपर (अपनी अभिभाविका से लेकर) प्रहण किया था ।” गुप्त साहित्य में अपहृत शब्द का इस अर्थ में बहुत प्रयोग हुआ है । यथा—पश्चात्पुत्रैपहृतभारः (विक्रमोर्वशी, तीसरा अंक) और यहाँ “अपहृत” का यह अर्थ नहीं है कि उसने बलपूर्वक छीन लिया था^२ । अजंतावाले शिलालेख में लिखा है कि प्रवरसेन द्वितीय का पुत्र और उत्तराधिकारी आठ वर्ष की

१. कीलहार्न ने इसे विश्वासात् पढ़ा था, पर इस पाठ की शुद्धता में उसे संदेह था । मैं समझता हूँ कि लेखक का अभिप्राय विशेषात् से था । सस्तृत में गुणविश्वासात् का कोई अर्थ^३ नहीं हो सकता । गुण तो पहले से वर्चमान रहना चाहिए, जो यहाँ पूर्व शिक्षा के कारण प्राप्त हो चुका था । यहाँ विश्वास का कोई प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता । यह अधिगत गुण विश् (शेष) भी वैसा ही है, जैसा हाथीगुम्फावाले शिलालेख को १७वीं पंक्ति का—‘गुणविशेषकुशलो’ है । (एपिग्राफिया इंडिका २०, ८०) ।

२. कीलहार्न ने जो ‘अपहृत’ का यह अर्थ^४ किया था कि—‘वह अपने वंश की श्री या संपत्ति ले गया’ वह ठीक नहीं है । उसने यही समझा था कि उस समय राज्य के उत्तराधिकार के संबंध में कोई झगड़ा हुआ था ।

अवस्था में सिंहासन पर बैठा था; और उस छोटे से बालक के लिये यह संभव ही नहीं था कि वह अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह करता और उसका राज्य बलपूर्वक छीन लेता। अजंतावाले शिलालेख में तो उसका नाम नहीं दिया है, पर बालाघाटवाले दानपत्रों में उसका नाम नरेंद्रसेन आया है। बालाघाटवाले शिलालेख से भी इस बात का समर्थन होता है कि उसने भली भाँति शासन किया था; क्योंकि उसमें कहा गया है कि उसने कोसला, मेकला और मालव के अपने करद और अधीनस्थ शासकों को अपनी आज्ञा में रखा था। कुंतल के राजा की कन्या अजिभक्ता के साथ नरेंद्रसेन का जो विवाह हुआ था, उससे हम यह समझ सकते हैं कि या तो कुंतल पर उसका पूरा प्रभुत्व था और या उसके साथ उसकी गहरी राजनीतिक मित्रता थी। ऊपर जो काल-क्रम बतलाया गया है, उसके अनुसार नरेंद्रसेन सन् ४३५-४७० ई० के लगभग हुआ था। कुंतल के जिस राजा की कन्या अजिभक्ता के साथ विवाह करके उसने राजनीतिक मित्रता स्थापित की थी, वह कदंब ककुस्थ था जिसने तलगुंड स्तंभवाले कदंब-शिलालेख के अनुसार (E. I. ८, पृ० ३३, मिलाओ मोरेस (Moraes) कृत Kadama Kula पृ० २६-२७) कई बड़े बड़े राजवंशों के साथ, जिनमें गुप्तों का बंश भी था, विवाह-संबंध स्थापित किया था। यह राजा कदंब शक्ति की चरम सीमा तक

पहुँच गया था (लगभग ४३० ई०)। कक्षुस्थ ने अपने युवराज रहने की दशा में और अपने भाई के शासन-काल में गुप्त संवत् का व्यवहार किया था (§ १२८ पाद-टिप्पणी)। इस विवाह-संबंध के कारण उसकी मर्यादा बढ़ गई थी। गुप्तों के साथ विवाह-संबंध हो जाने के कारण कदंब और वाकाटक लोग बहुत कुछ स्वतंत्र हो गए थे। या तो कुमारगुप्त प्रथम के शासन के कारण और या उसके शासन-काल में नरेंद्रसेन की स्थिति अपने करद और अधीनस्थ राजाओं और पड़ोसियों के मुकाबले में अवश्य ही बहुत दृढ़ हो गई होगी, क्योंकि कदंबों के साथ उसका जो वंशानुगत भगवान् चला आता था, उसका उसने इस प्रकार अंत कर दिया था।

§ ४२. सन् ४५५ ई० के लगभग नरेंद्रसेन का समय बहुत ही अधिक विपत्ति में बीता था। वह समय स्वयं उसके लिये भी कष्टप्रद था और उसके नरेंद्रसेन के कष्ट के दिन मामा गुप्त सन्नाट् कुमारगुप्त के लिये भी। शक्तिशाली पुष्यमित्र प्रजातंत्रों ने, जिनके साथ पद्मित्रों और पद्ममित्रों के प्रजातंत्र भी सम्मिलित थे, गुप्त साम्राज्य पर आक्रमण किया था। पहले उक्त तीनों प्रजातंत्र वाकाटकों के अधीन थे और माधाता के पास कहीं परिचमी मालवा में थे। ठीक उसी समय एक और नई विपत्ति उठ खड़ी हुई थी; और जान पड़ता है कि इस नई विपत्ति का संबंध भी उसी विद्रोहवाले आदेलन और स्वतंत्रता प्राप्त

करने के प्रयत्न के साथ था । यह प्रयत्न त्रैकूटकों की ओर से हुआ था; और यह एक नया वंश था जो इस नाम से दहसेन ने स्थापित किया था^१ । यह दहसेन त्रैकूटक अपराह्न का रहनेवाला था जो पश्चिमी खादेश की तासों नदी और बंबई से ऊपरवाले समुद्र के बीच में था । अपने पुराने स्वामी या सग्राट् बाकाटकों की तरह दहसेन ने भी अपने वंश का नाम अपने निवास-स्थान के नाम पर 'त्रैकूटक' रखा था; और यद्यपि उसका पिता एक सामान्य व्यक्ति था और उसका नाम इंद्रदत्त था, तो भी दहसेन ने अपने नाम के साथ 'सेन' शब्द जोड़ा था और उसके वंशजों ने भी उसी का अनुकरण किया था । विना कोई विजय प्राप्त किए और पहले से ही उसने अश्वमेध यज्ञ भी कर डाला और अपने नाम के सिक्के भी बनवाने आरंभ कर दिए । पर वह जल्दी ही फिर नरेंद्रसेन की अधीनता में आ गया था, क्योंकि सन् ४५६ ई० में वह बाकाटक संवत् का प्रयोग करता हुआ पाया जाता है (§§ १०२, १०६) । पुष्यमित्र लोग सन् ४५६

१. एपिग्राफिया इंडिका, खंड १०, पृ० ५१ ।

२. रघुवंश ४. ५८, ५९ रैप्सन कृत C. A. D. पृ० १५६ । साथ ही देखो दहसेन के पुत्र व्याघ्रसेन का सन् ४६० ई० वाला शिलालेख; एपिग्राफिया इंडिका, खंड ११, पृ० २१६, जहाँ ये लोग अपराह्न के शासक बतलाए गए हैं ।

ई० से पहले साम्राज्य-शक्ति के द्वारा परास्त हुए थे। नरेंद्र-
सेन को अपने श्रसुर के राज्य की सहायता भी मिलती थी
जो कोंकण अपरांत के बगल में ही था; और उस समय या
तो ककुस्थ के अधीन था और या उसके पुत्र शांतिवर्मन के
अधीन था और शांतिवर्मन भी बहुत शक्तिशाली राजा था।

§ ६३. जान पड़ता है कि नरेंद्रसेन के दो पुत्र थे।
बड़ा लड़का पृथिवीयेण द्वितीय था जो उसका उत्तराधिकारी
पृथिवीयेण द्वितीय हुआ था और उसके उपरांत देवसेन
और देवसेन सिंहासन पर बैठा था; और जब देव-
सेन ने सिंहासन का परित्याग कर दिया, तब उसका लड़का
हरिषेण राज्याधिकारी हुआ था। देवसेन अपने राज्य संवंधी
कर्त्तव्यों का पालन करने की अपेक्षा सुख और आनंद-
मंगल में ही अपना समय व्यतीत करना अधिक पसंद करता
था। जब गुप्त साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया, तब पृथिवीयेण
द्वितीय ने अपने बंश को गिरी हुई दशा से क्षेत्र उठाने का
प्रयत्न करना आवश्यक समझा; और इस प्रयत्न में उसे
सफलता भी हुई, क्योंकि हम देखते हैं कि उसके बादवाले
राजा के अधिकार में सारा बाकाटक साम्राज्य आ गया
था जिसमें कुंतल, त्रिकूट और लाट देश भी सम्मिलित थे।
पृथिवीयेण द्वितीय (सन् ४७०-५८५ ई०) के शासन-काल में

ऊपर बतलाए हुए काल-कम के अनुसार कठिन विपत्ति का समय वही था, जब कि सन् ४७० ई० के लगभग हृषों का दूसरा आक्रमण हुआ था। गुप्तों के वंश के साथ साथ उसके वंश का भी पतन हुआ ही होगा। अतः अपने वंश का फिर से उद्धार करने के लिये पृथिवीयेण द्वितीय का बहुत अधिक श्रेय मिलना चाहिए। प्रायः वीस वर्ष के अंदर ही, जब कि हृषों की शक्ति बनी ही हुई थी, वाकाटकों ने अपने राज्य की सीमा उनके राज्य के साथ जा मिलाई थी और पहले की अपेक्षा और भी अधिक शक्तिशाली हो गए थे; और कुंतल, अवंती, कलिंग, कोसला, त्रिकूट,^१ लाट और ओंघ देश, जो दक्षिण भारत के वाकाटक साम्राज्य में थे, तथा मध्य प्रदेश और कोंकण तथा गुजरात तक पश्चिमी भारत का अंश उनके अधीन हो गया था। उसी समय बल्लभी में एक मैत्रक सेनापति ने एक नए राजवंश की स्थापना की थी और सुराष्ट्र के पासवाले प्रदेश पर उसका अधिकार था। जान पड़ता है कि मैत्रक लोग गुप्तों के सेनापति थे, क्योंकि वे गुप्त संवत् का व्यवहार करते थे और संभवतः उनका उत्थान पुष्यमित्र आदि मित्र प्रजातंत्रों में

१. उस समय अपरांत (त्रिकूट) का राजा व्याघ्रसेन था (एपि-आफिया इंडिका, खंड १६, पृ० २१६) जिसे इम वाकाटक संवत् का प्रयोग करते हुए पाते हैं। (देखो आगे § १०२ की पाद-टिप्पणी) ।

से हुआ था । वे पड़ोसी बाकाटक साम्राज्य के अधीनस्थ और करद रहे होंगे । इस प्रकार सन् ४७०-५३०ई० में बाकाटक लोग मध्य प्रदेश और पश्चिमी भारत के हृणों के आक्रमण से पूरी तरह से बचाते रहते थे ।

§ ६४. गुप्त साम्राज्य का अंत होने पर बाकाटक वंश के भाग्य ने पलटा खाया । जिस समय गुप्त साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो रहा था, उस समय पृथिवी-हरिषण द्वितीय ने अपने वंश का विस्तरा हुआ वैभव फिर से एकत्र किया । देवसेन के पुत्र हरिषण ने समस्त बाकाटक साम्राज्य पाया, जिसमें स्वयं उसके निजी प्रदेश भी थे और अधीनस्थ तथा करद राजाओं के राज्य भी । उसने बहुत अधिक वीरता और कार्य-कुशलता दिखलाई और बाकाटक साम्राज्य की फिर से स्थापना की । स्कंद-गुप्त की मृत्यु के बाद से ही बाकाटक लोग पूर्ण रूप से स्वतंत्र हो गए । जान पड़ता है कि उस समय उन लोगों ने फिर से अपना साम्राज्य स्थापित करने की अच्छी योग्यता का परिचय दिया था; और जिस समय भारतीय साम्राज्य में विद्रोह मचा हुआ था और अनेक राजनीतिक परिवर्तन हो रहे थे, उस समय वे लोग उड़तापूर्वक जमे रहे और बर-बर अपना बल बढ़ाते गए । नरेंद्रसेन, पृथिवीषण द्वितीय और हरिषण ये तीनों ही राजा बहुत ही योग्य और सफल शासक थे । हरिषण के शासन का अंत सन् ५२०ई० के

लगभग हुआ था । इसके बाद का वाकाटकों का इतिहास जट हो गया है ।

§ ८५. सन् ५०० ई० के लगभग हरिषेण को अपने वंश के कुछ पुराने करद और अधीनस्थ राज्यों को फिर से अपने वश में दूसरे वाकाटक सा- करना पड़ा था जिनमें त्रैकृष्ण भी सम्मिग्राज्य का विस्तार लित थे । यह बात अजंतावाले शिलालेख से और त्रैकृष्टकों के शिलालेखों से प्रकट होती है । सन् ४५५ ई० में—अर्थात् जब कि पुष्यमित्रों का स्कंदगुप्त के साथ युद्ध हुआ था—त्रैकृष्टक दहसेन ने एक बार अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर दी थी, परंतु नरेंद्रसेन ने उसे फिर से अपने अधीन कर लिया था (देखो ६२) । पर हमें पता चलता है कि उसके पुत्र व्याघ्रसेन ने सन् ४८० ई० के लगभग फिर से अपने सिक्के चलाने आरंभ कर दिए थे; और इसी के उपरांत उस वंश का लोप हो गया; और यह बात हरिषेण के शासन-काल में हुई थी । सन् ४८४ ई० के बाद उनके वंश का कोई चिह्न नहीं पाया जाता^१ । यहाँ यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि त्रैकृष्टक लोग, जैसा कि हम अभी आगे चलकर बतलावेंगे, वाकाटक संवत् का व्यवहार

१. व्याघ्रसेन के परदीवाले दानपत्र २४१वें वर्ष (सन् ४८६-४८० ई०) के हैं और कन्हेरीवाले दानपत्र २४५वें वर्ष के हैं । (एपिग्राफिया इंडिका, खंड ११, पृ० २१६) Cave Temples of. W. I. पृ० ५८ ।

करते थे। जान पड़ता है कि यह करद राजवंश हरिपेण के शासन-काल में ही अथवा उसके कुछ बाद सदा के लिये मिटा दिया गया था।

§ ८६. कोंकण पर, जिसके अंतर्गत त्रिकूट था, वाकाटकों का कितना प्रबल प्रभुत्व था, इसका पता एक शिलालेख से चलता है जो रायल एशियाटिक सोसाइटी के जरनल, खंड ४, पृ० २८२ में प्रकाशित हुआ है, और जिसमें एक गढ़ का उल्लेख है। इस गढ़ का नाम वाकाटकों के राजनीतिक निवास-स्थान किलकिला के अनुकरण पर किलगिला बतलाया गया है जो उस शिलालेख के खोदे जाने के समय (सन् १०५८ई०) कोंकण की राजधानी था। बरार और खांदेश के वाकाटक प्रांत के पश्चिमी सिरे पर त्रिकूट अवस्थित था। हरिपेण ने कुंतल और अबन्ती सहित लाट देश को अपने अधीन किया था और ये दोनों प्रदेश अपरांत के दोनों सिरों पर थे। कलिंग, कोसल और आंध्र के हाथ में आ जाने से वाकाटक साम्राज्य त्रिकूट और पश्चिमी समुद्र से लेकर पूर्वी समुद्र तक हो गया था। ये सब प्रदेश पहले भी वाकाटक साम्राज्य के अंतर्गत रह चुके थे। लाट देश वाकाटक राज्य के पड़ोस में भी था और आभीरों का पुराना निवास-स्थान था। अबन्ती पुष्यभित्र-वर्ग के अधीन रह चुकी थी। नरेंद्रसेन के समय वह मालव के अंतर्गत मानी जाती थी। प्रबरसेन द्वितीय या प्रभावती गुप्ता के

समय कदाचित् गुप्तों ने इसे वाकाटकों को फिर लौटा दिया था। स्कंदगुप्त ने पुष्यमित्र-युद्ध के उपरांत ही सुराष्ट्र में अपनी ओर से एक शासक नियुक्त कर दिया था; और यदि उस समय तक आभीरों और पुष्यमित्रों का पूर्ण रूप से लोप नहीं हो गया था, तो उस समय उनका लोप अवश्य ही हो गया होगा जब हरिषण ने लाट देश को अपने अधीन किया था। वाकाटक साम्राज्य में जो लाट देश आ मिला था, उसका कारण यही था कि गुप्त साम्राज्य का पतन हो गया था।

₹ ४७. दूसरा वाकाटक साम्राज्य इतना अधिक धन-संपन्न था कि हरिषण के एक मंत्री ने भी अजंता में एक परवर्ती वाकाटकों बहुत सुंदर चैत्य बनवाया था, जो बहुत की संपन्नता और कला सुंदर चित्रों से सजा था। यह अजंता की गुफा नं० १६ है और बहुत ही सुसज्जित है। इसके संबंध में इसके बनवानेवाले ने उचित गर्वपूर्वक कहा है—

“इसमें खिड़कियाँ, घुमावदार सीढ़ियाँ, सुंदर बालाखाने, मंजिलें और इंद्र की अप्सराओं की मूर्तियाँ, सुंदर खंभे और सीढ़ियाँ आदि हैं। यह एक सुंदर चैत्य है।”

इसी राजमंत्री के वंश के एक और व्यक्ति ने गुफा नं० १३ बनवाई थी, जो घटोत्कच गुफा कहलाती है और जिसमें एक स्थान पर बनवानेवाले ने अपने वंश का इतिहास भी अंकित करा दिया है। यह वंश मलावार के ब्राह्मणों

का था और इस वंश के लोग ब्राह्मण तथा चत्रिय देनां
वर्गों की स्त्रियों के साथ विवाह करते थे। जिस समय
वाकाटक देवसेन शासन करता था (वाकाटके राजति देव-
सेने) उस समय उसका मंत्री हस्तिभोज था। परवर्ती वाका-
टक साम्राज्य की संपत्ति का और अधिक पता उस शिला-
लेख से चलता है जो गुहा-मंदिर नं० १७ में है। इसे राजा
हरिषेण के शासन-काल में उसके एक वाकाटक अधीनस्थ
राजा ने विहार के रूप में बनवाया था। उसका वंश नीं
पीढ़ियों से चला आ रहा था और जान पढ़ता है कि उसका
उदय प्रवरसेन प्रथम के शासन-काल में हुआ था। जैसा कि
इस वंश के लोगों के नाम से सूचित होता है, वह वंश गुजरात
का था। उन लोगों ने इस विहार को अभिमान-पूर्वक
“भिज्ञुओं के राजा का चैत्य” कहा है और इसे “एक ही पत्थर
में से काटकर बनाए हुए मंडपों में रत्न” कहा है। इसमें बन-
वानेवाले ने एक नयनाभिराम भंडार भी रखा था। ये सब लोग
सौंदर्य-विज्ञान के बहुत अच्छे ज्ञाता थे और इनकी कला बहुत
ही उच्च कोटि की थी। इसमें कहाँ एक ही तरह के दो खंभे
नहीं हैं। हर एक खंभा विलकृल अलग और नए ढंग से
बनाया गया है। गुहा नं० १३ में दीवारों पर अशोक-बाली

१. डा० निसेंट स्मिथ ने इसी पालिश के कारण गुफा नं० १३
को इसा से पहले की गुफा माना था। (History of Fine
Art in India & Ceylon, पृ० २७५)। पर बास्तव में

पालिश का व्यवहार किया गया है; परंतु जान पड़ता है कि कला की अभिज्ञता के कारण ही अजंता की गुहाओं में किसी और कला संबंधी वस्तु पर उसका प्रयोग नहीं किया गया है।

इस्ट, अजंता के चित्रों में सबसे अधिक प्रसिद्ध ये हैं—बुद्ध का अपने पिता के राजमहल में लौटकर आना, यशोधरा, राहुल

मौयों की पालिश करने की कला तब तक लोग भूले नहीं थे। शुंगों और सातवाहनों के समय में उसका परित्याग या तिरस्कार कर दिया गया था और बाकाटक-गुप्त-काल में उसका फिर से उद्धार हुआ था। उदयगिरि की चंद्रगुप्त गुहा की मूर्तियों पर और खजुराहो की भी कई मूर्तियों पर मैंने स्वयं वह पालिश देखी है। इस प्रकार की पालिश करने की किया लोग म्यारहीं शताब्दी तक जानते थे; क्योंकि खजुराहो की मूर्तियों के कुछ दृटे हुए अंशों को उस समय इसी किया से मरम्मत की गई थी। इस प्रकार की पालिश करने की किया किसी कला संबंधी कारण से ही बीच में कुछ समय के लिये बंद कर दी गई थी। खजुराहो की बाहरवाली मूर्तियों पर कभी पालिश नहीं की गई। मुझे ऐसा जान पड़ता है कि पालिश से आकार और रूप-रेखा आदि के ढीक तरह से व्यक्त होने में बाधा पड़ती थी। संग-तराश लोग अपनी जो कारीगरी दिखलाते थे, वह पालिश के कारण दब जाती थी। जिसे आज-कल लोग मैर्यां-पालिश कहते हैं, वह मौयों के समय से बहुत पहले से चली आती है। छोटा नागपुर में प्रार्गतिहासिक काल के और हड्डों के बज्रों की नकल के बने हुए जो बज्र मिले हैं और जो पटना मूर्जियम में रखे हैं, उन पर भी इसी तरह की पालिश है। उन पर की यह पालिश किसी विशेष किया से की गई है; केवल व्यवहार करने और हाथ में रखने से उन पर वह चमक नहीं आई है।

और बुद्धदेव का दृश्य और लंका का युद्ध। और ये सभी चित्र दो वाकाटक गुहाओं में १६ और १७ में हैं। ये गुहाएँ बहुत ही स्पष्ट रूप से आर्यवर्त्त नागर प्रकार की हैं।

§ ८८. वाकाटक प्रदेश मानों उत्तर और दक्षिण का मिलन-स्थान था। वाकाटक राजमंत्रो हस्तिभोज और उसके परिवार के लोग दक्षिणी भारत के रहनेवाले थे। और स्वयं पल्लव लोग भी वाकाटकों की एक शाखा ही थे, इसलिये इन दोनों राज्यों में स्वभावतः परस्पर आदान-प्रदान और गमनागमन होता रहा होगा। वाकाटक गुहा-मंदिरों में जो बीच बीच में पल्लव ढंग की मूर्तियाँ आदि देखने में आती हैं, उसका कारण यही है। इसके अतिरिक्त कुछ मूर्तियों में जो द्रविड़ शैली की अनेक बातें पाई जाती हैं, उसका कारण भी यही है।

§ १००. यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि हमें केवल तीन गुफाओं का लिखित इतिहास मिलता है। पर हम बिना किसी प्रकार की आपत्ति के कह सकते हैं कि जो गुफाएँ गुप्तों की कही और समझो जाती हैं, वे सब वाकाटकों की मानी जानी चाहिएँ; क्योंकि गुप्तों का प्रत्यक्ष शासन कभी अजंता तक नहीं पहुँचा था और अजंता का स्थान बराबर वाकाटकों के अधिकार में ही था।

§ १०० क, परवर्ती वाकाटक लोग यद्यपि स्वयं बौद्ध नहीं थे, पर फिर भी धर्म संबंधी बातों में उन्होंने अपनी प्रजा

का पूरी स्वतंत्रता दे रखी थी; और उनकी प्रजा में से जो लोग बैद्ध धर्म का पालन करना चाहते थे, वे सहर्ष ऐसा कर सकते थे ।

§ १०१. जान पढ़ता है कि वाकाटकों के पास घुड़-सवार सेना बहुत प्रबल थी; और अजंतावाले शिलालेख में वाकाटक घुड़सवार

जहाँ विंध्यशक्ति के सैनिक बल का बललेख है, वहाँ इस बात की भी चर्चा है । जान पढ़ता है कि वाकाटकों की सैनिक शक्ति इन घुड़-सवारों के कारण ही इतनी बड़ी-चड़ी थी । और फिर विंध्य पर्वतों में वही शक्ति अच्छी तरह लड़-भिड़ और ठहर सकती है जिसके पास यथेष्ट और अच्छे घुड़-सवार हों । बुंदेले घुड़-सवार तो परवर्ती इतिहास में प्रसिद्ध हुए थे । बुंदेलखंड के घुड़-सवारों की प्रसिद्धि संभवतः बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है ।

§ १०१ क. चालुक्यों ने ही वाकाटकों का अंत किया होगा । पुलकेशिन् प्रथम ने वातापी (बीजापुर जिला^१) में वाकाटकों का अंत, सन् ५५० ई० के लगभग अश्वमेघ यज्ञ लगभग सन् ५५० ई० किया था । और यह मान लेना चाहिए कि उसी समय से वाकाटकों का अंत हुआ था । गंगा और यमुना के राजकीय चिह्न इसी समय वाकाटकों

से चालुक्यों ने लिए होंगे (६८६); और आगे चलकर चालुक्यों में इनका इतना अधिक प्रचार हो गया कि वे उन्हें स्वभावतः अपने पैतृक राजचिह्न समझने लग गए और यह मानने लग गए कि हमारे ये चिह्न हमारे वंश की स्थापना के समय से ही चले आ रहे हैं। हरिषेणु की अधीनता में या तो जयसिंह और या रणराग (पुलकेशिन् प्रथम का या तो दादा और या पिता) था। इस बात का उल्लेख मिलता है कि हरिषेणु ने उन शासकों को अपने अधीन या अपनी आङ्गा में (...स्वनिर्देश) किया था जो पहले वाकाटकों के अधीनस्थ और करद थे; और यह बात उस समय की है जब हरिषेणु ने आंध्र को अपने राज्य में मिलाया था। यथा—

हरि-राम-हरस्मरेंद्रकांति-

हरिषेणु हरिविकमप्राप्तः (१७)

स-कुंतलावंतीकलिंगकोसल.....

त्रिकृटलाट = आंध्र.....

.....पि स्वनिर्देश.....(१८)

A. S. W. I. ४. १२५.

जान पड़ता है कि चालुक्यों के नए वंश का उत्थान बरार के बहुत समीप आंध्र देश में हुआ था। पुलकेशिन्

१. एपिग्राफिया इंडिका, खंड ६, पृ० ३५२-५३। S. I. I.

२. ५४, (चेल्लूर का दानपत्र)।

के पुत्र कीर्तिवर्मन् ने कदंबों पर विजय प्राप्त की थी और अपराह्न के छोटे छोटे शासकों पर विजय प्राप्त की थी और मंगलेश ने काठच्छुरियों को जीता था; और जान पड़ता है कि इससे पहले ही वाकाटकों का लोप हो गया था। इसलिये हम कह सकते हैं कि पुलकेशिन् प्रथम के अश्वमेघ के साथ ही साथ वाकाटकों का भी अंत हो गया होगा। ऐहोलवाले शिलालेख में जो राजा जयसिंह वल्लभ चालुक्यवंश का संस्थापक कहा गया है (एपिग्राफिया इंडिका, खंड ६, पृ० १४) न तो उसी की किसी विजय का उल्लेख मिलता है और न उसके पुत्र रणराग की किसी विजय का ही वर्णन पाया जाता है। पहले जिन प्रदेशों पर वाकाटकों का साम्राज्य था (लाट, मालव, गुर्जर, महाराष्ट्र, कलिंग आदि) उन्हों पर पुलकेशिन् प्रथम के उपराह्न उसके पुत्रों और पौत्रों ने अपना साम्राज्य स्थापित किया था; और इसका मतलब यही है कि वे लोग वाकाटकों के राजनीतिक उत्तराधिकारी थे और इसी हैसियत से अपना दावा भी करते थे। पल्लवों के साथ उनका जो संघर्ष और स्थायी शत्रुता हुई थी, उसका कारण भी यही था; क्योंकि पल्लवों का वाकाटकों के साथ रक्त-संबंध था—वे वाकाटकों की एक छोटी शाखा हो थे। राजा जयसिंह वल्लभ के वर्णन (एपिग्राफिया इंडिका, खंड ६, पृ० ४, श्लोक ५) से सूचित होता है कि जयसिंह पहले की सरकार अर्थात् वाकाटकों के शासन-काल का एक बहुम

या माल के महकमे का कर्मचारी था । जान पड़ता है कि हरियेण के उपरांत उसके किसी उत्तराधिकारी के शासन-काल में और संभवतः उसके किसी पैत्र के शासन-काल में पुलकेशिन् प्रथम वाकाटकों के चेत्र में आ पहुँचा था और उनके साम्राज्य का वैभव तथा पद पाने का दावा करने लगा था । उनके शिलालेखों में वाकाटकों का कोई उल्लेख नहीं है ।

सन् २४८ ई० वाला संवत्

§ १०२. हमें तीन तिथियों का उल्लेख मिलता है जिनमें से दो तो अवश्य ही वाकाटकों की हैं और तीसरी भी वाकाटक सिक्कों पर टकों की ही जान पड़ती है । प्रबरसेन के संवत् प्रथम के सिक्के पर ७६वाँ वर्ष अंकित है (§३०) । रुद्रसेन के सिक्के पर १००वाँ वर्ष अंकित है (§६१) । ये दोनों संवत् निस्संदेह रूप से वाकाटकों के होते हैं । इसके सिवा महराज भीमसेन का शिलालेख है जिस पर ५२वाँ वर्ष अंकित है (§८८) । प्रबरसेन प्रथम ने न्ययं साठ वर्षों तक राज्य किया था । अतः उसके तथा उसके उत्तराधिकारियों के सिक्कों पर जो संवत् मिलते हैं, उनकी गणना का आरंभ पहले वाले शासक के समय से अर्धांत् प्रबरसेन प्रथम के पिता के राज्याभियेक के समय से हुआ होगा; और गुप्तों का जो काल-क्रम हमें ज्ञात है और उसके साथ वाकाटकों के काल-क्रम

का जो मेल मिलता है, उसके अनुसार हम कह सकते हैं कि प्रवरसेन प्रथम के पिता का राज्याभिषेक तीसरी शताब्दी के मध्य में हुआ होगा। ऊपर हमने जो काल-क्रम बतलाया है, उससे पता चलता है कि वाकाटकों का उदय सन् २४८-२४८ ई० में हुआ था। प्रवरसेन प्रथम ने तो अवश्य ही इस संवत् का व्यवहार किया था; और अब यदि हमें बाद की शताब्दियों में भी वाकाटक साम्राज्य के किसी भाग में इस संवत् का उपयोग होता हुआ मिल जाय तो हम कह सकते हैं कि यह वही चेदि संवत् था जिसे कुछ लेखकों ने भूल से त्रैकृष्ण संवत् कहा है।

§ १०३. महाराज श्री भीमसेन के गिंजावाले शिलालेख का पता जनरल कनिंघम ने लगाया था; और उसके संबंध में उन्होंने यह भी लिखा था कि इस गिंजावाला शिलालेख शिलालेख की लिपि आरंभिक गुप्त ढंग की है, पर इसका आरंभ उसी प्रसिद्ध शैली से हुआ है जो इंडो-सीदियन या भारतीय-शक शिलालेखों में पाई जाती है। जनरल कनिंघम ने इस शिलालेख को गुप्तों से पहले का बतलाया था। इसमें संदेह नहीं कि इसकी शैली भी वही है जो मथुरा में मिले हुए कुशन शिलालेखों की है। उसमें लिखा है—

१. A. S. R. खंड २१, पृ० ११६, प्लेट ३०. और एपिग्राफिया इंडिका, खंड ३, पृ० ३०२; और पृ० ३०८ के सामनेवाला प्लेट।

महाराजस्य श्री भीमसेनस्य संवत्सरे

५०. २ श्रीप्रपञ्चे ४ दिवसे १०. २ (आदि)^१ ।

इसमें के नाम भीमसेन, संवत् लिखने के हंग और अचरों के आरंभिक रूप से हमें यही कहना पड़ता है कि भीमसेन का शिलालेख उसी संवत् का है जो संवत् बाकाटक सिक्कों पर व्यवहृत हुआ है । इसी संवत् के साथ उसका मिलान इस प्रकार होगा—

संवत् ५२ = सन् ३०० ई०

, ७६ = सन् ३२४ ई०

, १०० = सन् ३४८ ई०

इनमें से अंतिम संवत् या वर्ष को छोड़कर बाकी दोनों संवत् या वर्ष प्रबरसेन प्रथम के ही शासन-काल में पड़ते हैं ।

₹ १०४, इस प्रश्न से संबंध रखनेवाली प्रबरसेन प्रथम के बाद के समय की एक मुख्य और निश्चित बात यह है कि, जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका गुप्त संवत् और बाकाटक है, बाकाटकों ने कभी गुप्त संवत् का व्यवहार नहीं किया । यहाँ तक कि जिस समय प्रभावती गुप्त अभिभाविका के रूप में शासन करती थी, उस समय भी उसने गुप्त संवत् का व्यवहार नहीं किया था ।

१. इस चित्रित शिलालेख का पाठ मैंने एपिग्राफिया इंडिका से लेकर दिया है जो कनिधम की लीया में छपी हुई प्रतिलिपि से अन्वया है । मैंने केवल आवश्यक अंश उद्धृत किया है ।

§ १०५. डा० फ्लीट ने यह बात मान ली है कि बुंदेल-खंड के पास ही एक ऐसे संवत् का प्रचार था जिसका सन् २४८ ई० वाले आरंभ सन् २४८-२५० में हुआ था^१। संवत् का न्यैत्र गुप्त-काल के दो राजाओं ने अपने समय का उल्लेख किया है। उनमें से एक ने तो उसके साथ गुप्त संवत् का नाम भी लिखा है, पर दूसरे ने जो संवत् दिया है, उसका नाम नहीं दिया है। परिव्राजक महाराज हस्तिन् ने अपने लेखों में गुप्त संवत् १५६, १६३ और १८१ का उल्लेख किया है; परंतु उसके सम-कालीन उच्चकल्प के महाराज शर्वनाथ ने, जिसके साथ महाराज हस्तिन् ने नौगढ़ रियासत के भूमरा नामक स्थान में सीमा निरिचत करने का एक स्तंभ स्थापित किया था, अपने लेखों में एक ऐसे संवत् के १८३, १८७ और २१४वें वर्ष का उल्लेख किया है जिसका नाम उसने नहीं दिया है। सीमावाले स्तंभों पर इन दोनों शासकों ने इनमें से किसी संवत् का उल्लेख नहीं किया है, बल्कि महामाघ नाम का एक अलग ही संवत्सर दिया है। डा० फ्लीट का कथन है कि यदि शर्वनाथ के दिए हुए वर्षों को हम उसी संवत् का मान लें जिसका आरंभ सन् २४८-२४९ ई० में हुआ था, तो हमें शर्वनाथ के लिये सन् ४६२-६३ ई० और हस्तिन् के लिये

१. इंडियन एंटीक्वरी, खंड १६, पृ० २२७।

सन् ४७५ ई० मिलता है। डा० फ्लीट ने सन् १९०५ में (रायल एशियाटिक सोसायटी का जरनल, पृ० ५८६) अपने इस मत का परित्याग कर दिया था और कहा था कि ये दोनों ही वर्ष गुप्त संवत् के हैं; और इसका कारण उन्होंने यह बतलाया था कि सन् २४८ वाले संवत् का बुंदेलखंड या बुधेलखंड में अथवा उसके आस-पास प्रचार नहीं था और सन् ४५६ या ४५७ ई० में पश्चिमी भारत में उसका प्रचार था और ब्रैकूटक राजा दहसेन ने उसका प्रयोग किया था। पर साथ ही डा० फ्लीट ने यह बात भी मान ली थी कि इस संवत् का आरंभ ब्रैकूटकों से नहीं हो सकता। इस संबंध में उन्होंने लिखा था—

“पर इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि यह संवत् ब्रैकूट संवत् था; और इस बात का तो और भी कोई प्रमाण नहीं है कि यह संवत् स्थापित किया गया था।”

प्रो० रैप्सन का भी यही मत है। किसी किसी ने बारहवीं शताब्दी में कलचुरियों के साथ भी इस संवत् का संबंध स्थापित किया है, पर इस मत को कोई विशेष महत्व नहीं दिया जाता, और इसका एक सीधा-सादा कारण यही है कि इतिहास में कहों इस बात की कोई गुंजाइश ही नहीं है कि कलचुरियों ने सन् २४८ ई० में चेदि देश में अथवा

और कहाँ कोई संवत् चलाया होगा । फ्लीट ने संकोच-पूर्वक कहा था कि इस संवत् का प्रचार करनेवाला आभोर राजा ईश्वरसेन हो सकता है जिसने सातवाहन शक्ति पर प्रबल आघात किया था । फ्लीट ने यह भी बतलाया था कि इस संवत् का किसी न किसी प्रकार सातवाहनों के पतन के साथ संबंध है जो सन् २४८ ई० में हुआ था । इस पर प्रो० रैप्सन ने कहा था—

“परंतु नवीन संवत् का प्रचार किसी नवीन शक्ति की सफल स्थापना का सूचक समझा जाना चाहिए, न कि आंद्रों के प्राश्मिक प्रारंभ अथवा पतन का सूचक होना चाहिए ।”

और प्रो० रैप्सन ने इस बात पर भी जोर दिया था कि आभीरों और बैकूटों का संबंध स्थापित करना और उन्हें एक ही राजवंश का सिद्ध करना असंभव है; बल्कि यह भी नहाँ कहा जा सकता कि वे लोग एक ही जाति के थे, क्योंकि इस बात का कहाँ कोई प्रमाण ही नहाँ मिलता । इसके सिवा आभीर लोग जो पश्चिमी शकों के विरुद्ध उठे थे, उनका समय सन् २४८ ई० से बहुत पहले अर्थात् सन् १८८-१८० ई० के लगभग था^१ ।

१. विसेट स्मिथ कृत Early History of India. पृ० २२६, पाद-टिप्पणी, जिसमें डा० डॉ० डार० भांडारकर का मत उद्धृत है ।

§ १०६. त्रिकूटक लोग वाकाटकों के करद और अधीनस्थ थे और उन्होंने भी उसी संबत् का प्रयोग किया था, जिस संबत् का प्रयोग प्रवरसेन प्रथम ने किया था; और इससे यही सूचित होता है कि वे वाकाटकों के अधीनस्थ थे। त्रिकूटक राजा अपने नाम के साथ महाराज की पदवी लगाते थे जो करद और अधीनस्थ राजाओं की उपाधि थी। वाकाटक साम्राज्य के परिचमी भाग में इस संबत् का जो प्रचार मिलता है, उससे यही सूचित होता है कि इसका प्रचार वाकाटकों के करद और अधीनस्थ राजाओं में था। प्रभावती गुप्ता के समय से लेकर प्रवरसेन द्वितीय के समय तक के अलग अलग राजाओं ने अपने शासन-काल के वर्षों का जो प्रयोग किया है, वह एक ऐसे समय में किया था, जब कि वाकाटकों के राजन्दरबार में गुप्तों का प्रभाव अपनी चरम सीमा तक पहुँचा हुआ था।

§ १०७. डा० फ्लीट को इस संबंध में केवल यही आपत्ति थी कि त्रिकूट का, जहाँ इसकी पांचवीं शताब्दी में इस संबत् का प्रचार पाया जाता है, चेदि (बुंदेलखण्ड और बघेलखण्ड) के साथ, जिससे सन् २४८ ई० बाला संबद्ध है, कोई संबंध देखने में नहीं आता। पर वाकाटकों के जिस इतिहास का अब पता चला है, उसे देखते हुए यह आपत्ति भी दूर हो जाती है। हम देखते हैं कि प्रवरसेन प्रथम के समय में चेदि देश में यह संबत् प्रचलित था। पहले फ्लीट

का मत था कि शर्वनाथ के वर्ष सन् २४८ ई० वाले संवत् के हैं; और यही मत ठीक जान पड़ता है। इस बात में जरा भी संदेह नहीं है कि महाराज हस्तिन् गुप्तों का अधीनस्थ था; और इसी लिये इस बात की आवश्यकता हुई थी कि वाकाटक साम्राज्य के अंतर्गत महाराज शर्वनाथ के राज्य और गुप्त साम्राज्य के अंतर्गत हस्तिन् के राज्य के बीच में सीमा निश्चित करनेवाला स्तंभ स्थापित किया जाय। शर्वनाथ और हस्तिन् दोनों ही अधीनस्थ तथा करद राजा थे और हस्तिन् निश्चित रूप से गुप्तों का अधीनस्थ और करद था। इसलिये शर्वनाथ वाकाटकों का ही करद और अधीनस्थ हो सकता था, जिसकी राजधानी अथवा नचना नगर उच्चकल्प या उचहरा (नौगढ़ रियासत) से कुछ ही मीलों की दूरी पर था।

§ १०८. दो बातें ऐसी हैं जिनसे सिद्ध होता है कि सन् २४८ ई० वाला संवत् वाकाटक संवत् था। पुराणों में सातवाहनों के पतन के बर्णन के उपरांत कहा गया है कि सातवाहनों के उपरांत उनके साम्राज्य पर अधिकार करनेवाला विंध्यशक्ति था। अतः जब एक नई शक्ति का उत्थान होगा, तब तुरंत ही अथवा उसके कुछ बाद अवश्य ही एक नए संवत् का प्रचार होगा; और गुप्त संवत् समुद्रगुप्त के शासन-काल के अंतिम दिनों में अथवा चंद्रगुप्त द्वितीय के शासन-काल में प्रचलित हुआ था। समुद्रगुप्त के जो नक्ली चान्द्रलेख हैं और जो गया तथा नालंद के

ताम्रलेख कहलाते हैं और जो असली ताम्रलेखों की नकल हैं और उन्हें देखकर बनाए गए हैं, उन पर शासन-काल या राज्यारोहण के वर्ष दिए गए हैं। इस संबंध में ध्यान रखने की दूसरी बात यह है कि प्रवरसेन प्रथम ही सम्राट् हुआ था और उससे पहले के सम्राटों अर्थात् कुशन सम्राटों का एक स्वतंत्र संवत् था। उन दिनों एक नए साम्राज्य की स्थापना का एक मुख्य लक्षण यह भी हो गया था कि एक नया संवत् चलाया जाय। समुद्रगुप्त ने भी ऐसा ही किया था और उसने भी प्रवरसेन की तरह अपने पिता के राज्याभिषेक के समय से संवत् चलाया था। यह स्पष्ट है कि उसने भी वाकाटकों का ही अनुकरण किया था और उसका उदाहरण हमें एक प्रतिकारी कार्य की भाँति सहायता देता है।

इसलिये सन् २४८-४८ वाले संवत् को, जिसका आरंभ ५ सितंबर सन् २४८ ई० को हुआ था^१, हम चेदि का वाकाटक संवत् कहेंगे^२।

१. कौलहान, एपिग्राफिया इंडिका, खंड ६, पृ० १२६।

२. उच्चकल्प के महाराज जयनाथ के वर्ष यदि सन् २४८ ई० वाले संवत् के मान लिए जायें तो उसके कारी-तलाईवाले ताम्रलेख, जिन पर संवत् १७४ दिया है, सन् ४२२ ई० के छहरते हैं, और यदि हम बीच में ४५४ वर्ष या इसके लगभग का अंतर मान लें

तो जयनाथ का पिता व्याघ्र पुर्खींवेण प्रथम के समय में नवयुवक रहा होगा और उसने अपने राजा की राजधानी में आवश्य कुछ दान-पुण्य किया होगा; और उस दशा में यह वही व्याघ्रदेव हो सकता है जिसके तीन शिलालेख गंज और नचना में मिले हैं। पर हाँ, इस समय जो आमगी उपलब्ध है, केवल उसी के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि ये दोनों व्यक्ति एक ही थे। पर यदि वे दोनों एक ही हों तो फिर जयनाथ के दिए हुए वर्ष सन् २४८ ई० वाले संवत् के ही होने चाहिए।

तीसरा भाग

मगध (३१ ई० पू० से सन् ३४० ई० तक) और
गुप्त भारत (सन् ३५० ई०)

राजाधिराज पृथिवोमवित्व-
दिवं-जयत्य-अप्रतिवार्यवीर्यः ।

अर्थात् अप्रतिवार्य (जिसका निवारण या सामना न किया जा सके) शक्ति रखनेवाले महाराजाधिराज देश की रक्षा करके स्वर्ग का बीतते हैं । — समुद्रगुप्त का अश्वमेघवाला सिक्षा ।

आसमुद्रक्षितीशानाम् आ-नाकरथ-वर्त्मनाम् ।

—कालिदास ।

११. सन् ३१ ई० पू० से सन् २५० ई० तक का मगध का इतिहास और गुप्तों का उदय (सन् २७५ से ३७५ ई० तक)

₹ १०८. पुराणों में कहा गया है कि जब कछवों का पतन हो गया, तब मगध पर आंध्रों (सातवाहनों) का पाटलिपुत्र में आघ्र राज्य हो गया । इलाहाबाद जिले के और लिन्धुवी भीटा नामक स्थान में खुदाई होने पर सातवाहनों के जो सिक्के मिले हैं, उनसे पुराणों के इस कथन का समर्थन होता है । पटने के पास कुन्हराड़ नामक

स्थान में मेरे सामने डाक्टर स्पूनर ने जो एक सातवाहन सिक्का खोदकर निकाला था, उसे मैंने पढ़ा है। जब मगध में कण्ठों का पतन हो गया (ई० प० ३१) तब उसके बाद पाटलिपुत्र और मगध में सातवाहनों का राज्य पचास वर्षों से अधिक न रहा होगा। लिच्छवी-वंश के जयदेव द्वितीय का जो नेपालवाला शिलालेख है और जिस पर श्रीहर्ष संवत् १५३ (= सन् ७५८ ई०)^१ दिया है, उसमें कहा गया है कि जयदेव प्रथम से २३ पोदियाँ पहले उसका पूर्व पुरुष सुपुष्प लिच्छवी हुआ था जिसका जन्म पुष्पपुर नगर में हुआ था। डॉ. फ्लोट ने हिसाब लगाकर जयदेव प्रथम का समय लगभग सन् ३३० ई० से ३५५ ई० तक निश्चित किया है^२। यदि इन तेईस राजाओं को लंबी सूची के प्रत्येक राजा के लिये हम औसत में लगभग पंद्रह वर्षों का भी समय रख लें तो हम कह सकते हैं कि सुपुष्प ईसवी पहली शताब्दी के आरंभ में हुआ था। पाटलिपुत्र पर अधिकार करने के लिये लिच्छवियों ने सातवाहन सम्राट् से आज्ञा प्राप्त की होगी। अथवा कई शताब्दियों से लिच्छवी लोग मगध की राजधानी पाटलिपुत्र पर अधिकार करना

१. इंडियन एंटिक्वरी, खंड ६, प० १७८; फ्लीट-कृत Gupta Inscriptions की प्रस्तावना, प० १८४-१८५।

२. फ्लोट-कृत Gupta Inscriptions की प्रस्तावना, १० १३५, १८१ और इंडियन एंटिक्वरी, खंड १४, प० ३५०।

बाहते थे; और इसलिये वह भी संभव है कि उन्होंने स्वतंत्र रूप से ही उस पर अधिकार कर लिया हो। उत्तरी भारत में कंडफिसस और वेम कंडफिसस के आ पहुँचने के कारण सातवाहन सम्राट् के कामों में अवश्य ही गढ़वङ्गी पड़ी होगी; और इसी कारण पाटलिपुत्र में जो स्थान रिक्त हुआ था, उसकी पूर्ति करने के लिये लिच्छवियों को यथेष्ट अवसर मिल गया होगा। हम यह भी मान सकते हैं कि उस शताब्दी के अंत में जब कनिष्ठक का बाइसराय या उपराज बनस्पर आगे बढ़ने लगा था, तब पाटलिपुत्र पर से लिच्छवियों का अधिकार उठ गया होगा।^{१.}

§ ११०. जब लिच्छवी लोग लगभग एक सौ वर्षों तक पाटलिपुत्र को अपने अधिकार में रख चुके थे, तब भार-शिवों के द्वारा गंगा की तराई के स्वतंत्र कर कोट का चत्रिय राजवंश दिए जाने पर लिच्छवियों ने अवश्य ही अपने मन में समझा होगा कि हम मगध पर फिर से अपना राज्य स्थापित करने के अधिकारी हैं। परंतु जब भार-शिवों ने फिर से देश का राजनीतिक संघटन किया था, तब हम देखते हैं कि मगध पर आर्य-धर्म को न माननेवाले लिच्छवियों का अधिकार नहों था, बल्कि एक सनातनी चत्रियवंश का अधिकार था। कौमुदी-महोत्सव में इस वंश को

“मगध-कुल” कहा गया है और समुद्रगुप्त ने इसे “कोट-कुल” कहा है। जान पड़ता है कि इस वंश के संस्थापक का नाम कोट था। इस कोट का जो वंशज समुद्रगुप्त का समकालीन था और इलाहाबादवाले शिलालेख के आरंभिक अंश में से जिसका नाम मिट गया है, वह कोट-कुलज कहलाता है। मगध के इन राजाओं के नामों के अंत में ‘‘बर्मन्’’ होता था। अवश्य ही इस वंश की स्थापना सन् २००-२५० ई० के लगभग हुई होगी।

§ १११. गुप्त लोग मगध में किसी स्थान पर सन् २७५ ई० के लगभग प्रकट होते हैं। इनमें का पहला राजा गुप्त एक करद और अधीनस्थ राजा के रूप गुप्त और चंद्र में उदित होता है। आगे चलकर हम देखते हैं कि आरंभिक गुप्तों का संबंध इलाहाबाद (प्रयाग) और अवध (साकेत) से था; क्योंकि ऐसा जान पड़ता है कि महाराज गुप्त की जागीर इलाहाबाद के आसपास कहीं थी। इसी का पुत्र घटोत्कच था और घटोत्कच

१. देखें Bhandarkar Annals १६३०; खंड १२, पृ० ५० में और उसके आगे मेरा लिखा हुआ Historical Data in the drama Kaumudi Mahotsava (कौमुदी-महोत्सव नाटक में ऐतिहासिक तथ्य)।

२. प्रभावती गुप्ता (पूनाबाले प्लेट, एपिग्राफिया इंडिका, १५) ने इसे बहुत ही उपयुक्त रूप से “आदिराज” कहा है।

का पुत्र इस वंश का ऐसा पहला राजा था जिसने अपने वंश के संस्थापक गुप्त का नाम अपने वंश-नाम के रूप में प्रचलित किया था; और तभी से इस वंश के राजा अपने नाम के अंत में ‘‘गुप्त’’ शब्द रखने लगे थे। उसका नाम चंद्र था। कौमुदी-महोत्सव में इस चंद्र का प्राकृत नाम चंडसेन^३ मिलता है। जिस समय इस चंद्र का उदय हुआ था, उस समय पाटलिपुत्र में मगध का राजा सुंदर वर्मन् राज्य करता था। इसके प्रासाद का नाम सु-गांग था और उसी प्रासाद में रहकर यह शासन करता था। खारवेलवाले शिलालेख में इस प्रासाद का नाम “सु-गांगोय” दिया है और मुद्रा-राज्यस में इसे सु-गांग प्रासाद कहा गया है। इस प्रकार राजनगर पाटलिपुत्र अपने प्राचीन ग्रासाद समेत सुंदर वर्मा और चंद्र के समय तक ज्यों का त्यों मौजूद

१. चंद्र का जो प्राकृत में चंड हो जाता है, इसके प्रमाण के लिये सातवाहन राजा चंडसाति का वह अभिलेख देखो जो एसियाफिया इंडिका, खंड १८, पृ० ३१७ में प्रकाशित हुआ है और श्री चंद्रसाति के सिक्के जिनमें ‘‘चंद्र’’ के स्थान पर ‘‘चंड’’ अक्षित है। देखो रैप्सन कृत Coins of Andhras, पृ० ३२। इसी प्रकार नाम के अंत का जो ‘‘सेन’’ शब्द छोड़ दिया गया है, उसको पुछि इस बात से होती है कि इसी राजा ने वसंतसेन को वसंतदेव कहा है (देखो Gupta Inscriptions को प्रस्तावना, पृ० १८६ और उसके आगे)। दहसेन ने अपने सिक्कों पर अपना नाम ‘दह-गण’ दिया है। (C. A. D. पृ० १६४)

था । राजा सुंदर वर्मन् की अवस्था अधिक हो गई थी और वह बृद्ध था; और उसका दो ही तीन बर्षों का एक बचा था जो अभी तक दाई की गोद में रहता था । जान पड़ता है कि इस शिशु राजकुमार के जन्म से पहले ही मगध के राजा ने चंद्र अश्वा चंद्रसेन को दत्तक रूप में ले रखा था । चंद्र यद्यपि राजा का कृतक पुत्र था, परंतु फिर भी अवस्था में बड़ा होने के कारण अपने आपको राज्य का उत्तराधिकारी समझता था । उसने उन्हों लिच्छवियों के साथ विवाह-संबंध स्थापित किया था जो उसी कौमुदी-महोत्सव नाटक में मगध के शत्रु कहे गए हैं^१ । लिच्छवियों ने चंद्र को साथ लेकर एक बहुत बड़ी सेना की सहायता से पाटलिपुत्र पर घेरा डाला था । उसी युद्ध में बृद्ध राजा सुंदर वर्मन् मारा गया था । सुंदर वर्मन् के कुछ स्वामी-निष्ठ मंत्री शिशु राजकुमार कल्याण वर्मन् को किसी प्रकार वहाँ से उठाकर किञ्चिंधा की पहाड़ियों में ले गए थे । चंद्र ने एक नवीन राज-कुल की स्थापना की थी । कौमुदी-महोत्सव की क्रुद्ध रचयित्री ने लिच्छवियों को झोच्छ और चंद्रसेन को कारस्कर कहा है; और कारस्कर का अर्थ होता

१. यह नाटक आंत्र रिसर्च सोसाइटी के जरनल, खंड २ और ३ में प्रकाशित हुआ है ।

है—एक जाति-हीन या क्षोटी जाति का ऐसा आदमी जो राज-पद के उपयुक्त न हो^१ ।

§ ११२. चंद्रगुप्त प्रथम आगे चलकर बहुत अधिक भास्य-शाली और वैभव-संपन्न हुआ था । परंतु उसका परवर्ती

गुप्तों की उत्पत्ति इतिहास बतलाने से पहले हम यहाँ यह देखना चाहते हैं कि क्या गुप्तों की जाति का भी कुछ पता चल सकता है; क्योंकि उनकी जाति का प्रश्न अभी तक रहस्यमय बना हुआ है और उसका कुछ भी पता नहीं चला है । तत्कालीन अभिलेखों आदि से हमें निम्न-लिखित तथ्य मिलते हैं—

(क) गुप्तों ने कहाँ अपनी उत्पत्ति या मूल और जाति आदि का कोई उल्लेख नहीं किया; मानो उन्होंने जान-बूझकर उसे छिपाया हो । और

(ख) वे लोग धारणा नामक उप-जाति के थे ।

गुप्त महारानी प्रभावती गुप्ता के अभिलेख से हमें इस बात का पता चलता है कि वह धारणा गोत्र की थी^२ । जान पढ़ता है कि उस अभिलेख में उसने अपने पिता का गोत्र दिया है; क्योंकि उसके पति का गोत्र भिन्न (विश्वा-वृद्ध)

१. कहिं एरिस वंशस्स से राजसिरो ?—कौमुदी-महोत्सव, अंक ४, पृ० ३० ।

२. एपिग्राफिया इडिका, खंड १५, पृ० ४१ । साथ ही मिलाओ उक्त ग्रंथ के पृ० ४२ की पाद-टिप्पणी ।

था । कौमुदी-महोत्सव से हमें इस संबंध में एक और बात यह मालूम होती है कि वह कारस्कर जाति का था । वैधायन ने कहा है कि कारस्कर एक छोटी जाति है और इस जाति के लोगों के यहाँ ब्राह्मणों को नहीं जाना चाहिए; और यदि वे जायें भी तो उनके यहाँ से लौटकर उन्हें प्रायश्चित्त अथवा अपनी शुद्धि करनी चाहिए^१ । वैधायन में कारस्कर लोग पंजाबी अरटूटों के मेल में रखे गए हैं और अरटूट का शब्दार्थ होता है—“प्रजातंत्री” । उनका ठीक निवास-स्थान हेमचंद्र ने बतलाया है और शाल्वों की व्याख्या करते समय कहा है कि वे कारनामक तराई के रहनेवाले हैं^२ । कारपथ या कारापथ नामक स्थान हिमालय के नीचेवाले प्रदेश में था^३ । शाल्व लोग मद्रों के एक विभाग के थे और स्याल्कोट में रहते थे, जहाँ वे सियाल कहलाते थे; और यह सियाल “शाल्व” से ही निकला है; और यह “शाल्व” भी लिखा जाता है^४ और यह नाम अब तक प्रचलित है । इसलिये कारस्कर लोग पंजाब के रहनेवाले थे और मद्रों का एक उप-विभाग थे ।

१. वैधायन-कृत धर्म-सूत्र १. १. ३२.

२. हेमचंद्र-कृत अभिधान-चिंतामणि ४, पृ० २३. शाल्वस्तु कार-कुच्छीया ।

३. रघुवंश, १५. ६०. विल्सन का विष्णु-पुराण, खंड ३, पृ० ३६०.

४. विल्सन और हाल का विष्णु-पुराण, खंड ५, पृ० ७०.

हमें यह भी ज्ञात है कि मद्र लोग बाहीक और जार्तिक भी कहलाते थे^१ । इस प्रकार मद्रक समाज^२ कई उप-विभागों के योग से बना था जिनमें शालव और यद्वी अथवा जार्तिक लोग भी थे (जिन्हें हम आजकल 'जाट' कहते हैं) और साथ ही कई दूसरे उप-विभाग भी थे । अब हम यहाँ पाठकों को चंद्रगोभिन् के व्याकरण का वह उदाहरण स्मरण कराते हैं जिसमें कहा गया है—“जार्त (राजा) ने हृष्णों को परास्त किया ।” यहाँ जार्त शब्द से मुख्यतः स्कंदगुप्त का अभिप्राय है^३ । इस प्रकार हमें कई भिन्न भिन्न साधनों से इस एक ही बात का पता चलता है कि गुप्त लोग कारस्कर

१. रोज-कृत Glossary of Punjab Tribes and Castes १. ५६. ग्रियर्सन-कृत Linguistic Survey of India, खंड ८, भाग ४, पृ० ४, पार्द० ८. महामारत, कर्ण-पर्य, (श्लोक २०३४.)

२. मद्रक के संबंध में देखो मेरा लिखा हिन्दू राज्य-तत्र, पहला भाग, पृ० १६६-१६७. इसका अर्थ होता है—“मद्र राज्य का निष्ठ नागरिक” ।

३. Gupta Inscriptions, पृ० ५४, (प० १५); पृ० ५८ (प० ४), दो अभिलेखों (भीतरी और जूनागढ़वाले) में एक प्रतिद्द और निर्णायक युद्ध का वर्णन है । परन्तु यशोधर्मन् ने काश्मीर पर केवल चढ़ाई की थी, (Gupta Inscription, पृ० १५७, प० ६) और यशोधर्मन् की अधीनता हृष्णों ने बिना किसी युद्ध के ही स्वीकृत कर ली थी ।

जाट थे, जो पंजाब से चलकर आए थे। मेरी समझ में आज-कल के ककड़ जाट^१ उसी मूल समाज के प्रतिनिधि हैं, जिस समाज के गुप्त लोग थे। कारस्करों में गुप्त लोग जिस विशिष्ट उप-विभाग के थे, उसका नाम धारण था। प्रभावती गुप्ता के अभिलेख (पूना फ्लेट्स) में जो 'गोत्र' शब्द आया है, उसका मतलब जातीय उप-विभाग से ही है। अमृतसर में धारी नाम के एक प्रकार के जाट पाए जाते हैं^२; और इस "धारी" शब्द की तुलना हम प्रभावती गुप्ता के संस्कृत शब्द 'धारण' से कर सकते हैं। इस बात का पूरा पूरा समर्थन कौमुदी-महोत्सव से भी होता है और चंद्र-गोमिन से भी होता है जो निस्संदेह एक गुप्त ग्रंथकार था।

§ ११३. संभवतः मद्रक जाट उन दिनों बहुत हीन जाति के नहीं समझे जाते थे, क्योंकि यदि वे लोग छोटी जाति के होते तो राजा सुंदर वर्मन् कभी चंद्रसेन को अपना दत्तक बनाने का विचार न करता। जान पड़ता है कि पहले वह चंद्र को ही अपना सारा राज्य देना चाहता था। परंतु जब किसी छोटी रानी के गर्भ से कल्याण वर्मन् का जन्म हुआ (कल्याण वर्मन् के संबंध में जो "माताएँ"

१. मिलाओ रोत्र कृत Glossary २. ३६३. पाद-ठि०। इस नाम का उच्चारण 'ककड़' मां होता है।

२. Glossary of Tribes & Castes of the Punjab & N. W. Frontier, खंड २, पृ० २३५.

शब्द का प्रयोग किया गया है, उससे सूचित होता है कि उसकी कई सौंतेली मात्राएँ थीं ।) तब दत्तक पुत्र और उसे दत्तक लेनेवाले पिता में भगड़ा आरंभ हुआ । प्रजा ने जो उस समय चंद्र का बहुत अधिक विरोध किया था, उसका वास्तविक कारण यही था कि उन दिनों लोग कारस्करों को इसलिये बुरा समझते थे कि वे लोग सनातनी चारुवर्णाश्रम के अंतर्गत नहीं थे । महाभारत में मद्रकों को भी इसी लिये निदनीय माना गया है । उन लोगों में केवल एक ही जाति थी और समाज के सब लोग समान तथा स्वतंत्र समझे जाते थे । और गंगा के दोआब में रहनेवाले समाज के निश्चित नियमों से यह बात ठीक नहीं थी । इस संवंध में आपस में उत्तर-प्रत्युत्तर भी हो गया था । कौमुदी-महोदसव ने कारस्करों को इसलिये ताना दिया था कि वे शासक बन रहे थे; और इसके उत्तर में गुप्तों ने कहा था कि—“हम चत्रियों का नाश कर डालेंगे ।”

§ ११४. अब हमें पौराणिक इतिहास से इस बात का पता चलता है कि कनिष्ठक के शासन-काल में और कदाचित् उसके उत्तराधिकारी के शासन-काल में भी वनस्पर ने शासन-कार्यों के लिये कुछ मद्रकों को अपने यहाँ बुलवाया था । परंतु चंद्रगुप्त प्रथम अपने सिक्कों में जो पंजाब की सैनिक बदी पहने हुए दिखाई देता है, उससे जान पढ़ता है कि जब भार-शिवों ने मद्रक देश को स्वतंत्र कर दिया था, तब उसके

कुछ ही दिन बाद चंद्रगुप्त प्रथम के वंश के लोग पंजाब से चलकर इस ओर आए थे। बहुत संभव है कि भार-शिव राजा ने चंद्र को विहार और कौशांखी के बीच की कोई जागीर दी हो; क्योंकि पाटलिपुत्र की नगर परिषद् ने जब चंद्रगुप्त प्रथम को राज्य-च्युत करने की धेषणा की थी, तब वह अपनी सीमा पर शवरों का विद्रोह-दमन करने के लिये गया हुआ था।

₹ ११५. एक तो चंद्रगुप्त प्रथम कुछ छोटी जाति का था, और दूसरे लोग यह भी समझते थे कि उसने मगध पर चंद्रगुप्त प्रथम का अनुचित रूप से अधिकार कर लिया निवासन है और वह नियमानुसारित रूप से मगध का स्वामी नहीं हो सकता। और फिर सबसे बढ़कर बात यह हुई थी कि वह हिंदुओं की परंपरागत शासन-प्रणाली के अनुसार नहीं चलता था; और इसी लिये मगध-वाले उससे बहुत नाराज थे। मगध की प्रजा के साथ वह कुछ शत्रुता भी रखता था और प्रायः उनके दमन का ही प्रयत्न करता रहता था। कौमुदी-महोत्सव में कहा गया है कि चंद्रसेन^१ ने प्रमुख नागरिकों को कारागार में बंद कर

१. जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, इस बात के और भी कई उदाहरण ज्ञात हैं जिनमें नए राजाओं ने सिंहासन पर बैठने के समय अपने नाम का विछुला अंश बदल डाला था। इसी प्रकार चंद्रसेन ने भी अपना नाम बदलकर नया नाम चंद्रगुप्त रखा था।

रखा था । मगधवाले समझते थे कि उसी ने अपने पिता की हत्या की थी । लोग पुकार पुकार कर कहने लगे कि वह चत्रिय नहीं है; जिस बृद्ध राजा ने उसे दत्तक लिया था, उसकी उसने युद्ध-चेत्र में हत्या कर ढाली है; उसने अपनी सहायता के लिये मगध के बंशानुक्रमिक शत्रु लिच्छवियों का बुलाया है; और उसने एक ऐसी स्त्री के साथ विवाह किया है जो न तो मगध की ही है और न सनातनी हिंदू ही है । और इन सब बातों के साथ हम यह भी कह सकते हैं कि उसने ब्राह्मण सम्राट् प्रबरसेन प्रथम का साम्राज्याधिकार मानने से इनकार कर दिया था ।

§ ११६. लिच्छवियों की शक्ति की सहायता से और उनके संरक्षण के बल पर उसने मगध के निवासियों की स्वतंत्रता पैरों तले रैंद ढाली थी और प्रयुख नागरिकों को कारागार में बंद कर दिया था । इस प्रकार अलबेस्तनी ने उस समय एक सत्य और परंपरागत ऐतिहासिक तथ्य का ही उल्लेख किया था, जिस समय उसने यह कहा था कि गुप्त-काल का राजा अथवा राजा लोग निर्दय और दुष्ट

परंतु उसके विरोधी और शत्रु सम-कालीन लोग उसे उसी पुराने और परंतु उसके विरोधी और शत्रु सम-कालीन लोग उसे उसी पुराने और तुच्छ नाम से पुकारते थे; और इसलिये उसके संस्कृत नाम चंद्र का देशज उच्चारण “चंड” का व्यवहार करते थे कि उसमें श्लेष या (चंड का एक और अर्थ होता है—उग्र या भीषण) ।

थे। हिंदुओं की स्मृतियों में राष्ट्रीय संघटन और व्यवस्था के ऐसे नियम पहले से लिखे हुए वर्तमान थे जिनका यह विधान था कि जो राजा अत्याचारी हो अथवा जिसके हाथ अपने माता-पिता के रक्त से रंजित हों, उस राजा का नाश कर डालना चाहिए^१। इसलिये मगधवालों ने एक योजना प्रस्तुत की और वे चंद्रगुप्त प्रथम के विरुद्ध उठकर खड़े हो गए। उन्होंने बाकाटक प्रदेश (पंपासर) से कुमार कल्याण वर्मन को बुलवा लिया था और पाटलिपुत्र के सुगांग प्रासाद में उसका राज्याभिषेक कर डाला था। इस संबंध में कौमुदी-महोत्सव की रचयित्री ने बहुत ही प्रसन्न होकर कहा था—“वर्णाश्रम धर्म की फिर से प्रतिष्ठा हुई है, चंडसेन के राजकुल का उन्मूलन हो गया है”^२। यह घटना उस समय की है, जब कि चंद्रगुप्त विद्रोही शबरों के साथ लड़ने के लिये एक ऐसे स्थान पर गया हुआ था जो रोहतास और अमरकंटक के मध्य में था। यह विदेशी राजा सन् ३४० ई० के लगभग मगध से निकाला गया था, क्योंकि कहा गया है कि उस समय कल्याण वर्मा हिंदुओं के नियमों के अनुसार अपना राज्याभिषेक कराने के लिये पूर्ण रूप से

१. Hindu Polity, दूसरा भाग ५०, १८८.

२. प्रकटितवर्णाश्रमपथमूलितचंडसेनराजकुलम्।—कौमुदी-महोत्सव, अंक ५।

वयस्क हो गया था^१ । जिस वर्ष कल्याण वर्मा का राज्याभियेक हुआ था, उसी वर्ष मथुरा के राजा की कन्या के साथ उसका विवाह भी हो गया था ।

§ ११७. गुप्त लोग जो विहार से निर्वासित हुए थे, वह अधिक समय के लिये नहीं हुए थे; केवल सन् ३४० गुप्तों का विदेश-वास ३० से ३४४ ३० तक ही थे विहार से और उनका नैतिक रूप- बाहर रहे थे । परंतु उनके इस विदेश-परिवर्तन वास का एक बहुत बड़ा परिणाम हुआ था और उसका भविष्य पर बहुत कुछ प्रभाव पड़ा था । उनके इस विदेश-वास के परिणाम-स्वरूप केवल विहार का ही नहीं बल्कि सारे भारत का इतिहास ही चिलकुल बदल गया था । अब गुप्तों का वंश ऐसे विदेशियों का वंश नहीं रह गया था जो राज्य पर अनुचित रूप से अधिकार कर लेने-बाले समझे जाते थे, बल्कि वह परम हिंदू-मार्गधों का एक ऐसा वंश बन गया था जो धर्म, ब्राह्मण, गौ तथा हिंदू-भारत के साहित्य, तज्ज्ञ-कला, भाषा, धर्म-शास्त्र, राष्ट्रीय संस्कृति

१. पाटलिपुत्र पर चंद्रगुप्त प्रथम का अधिकार सन् ३२० ई० में हुआ था और राज्याभियेक २५ वर्ष की अवस्था में होता था । कल्याणवर्मा लगभग २० वर्षों तक विदेश में रहा था और इसलिये पाटलिपुत्र पर उसका फिर से अधिकार लगभग सन् ३५० ई० में हुआ होगा ।

और राष्ट्रीय सभ्यता के संरचक और समर्थक थे। समुद्र-गुप्त के राजकीय जीवन का आरंभ वाकाटकों की अधीनता में एक करद और अधीनस्थ शासक के रूप में हुआ था और उसने वाकाटकों का गंगा देवीवाला साम्राज्य-चिह्न अपने सिक्कों पर अंकित कराया था और केवल राजा की उपाधि ग्रहण की थी। उस समय उसने किसी प्रकार के राजकीय चिह्न नहीं धारण किए थे, जैसा कि व्याघ्र वर्गवाले सिक्कों पर दी हुई उसकी मूर्च्छ से प्रकट होता है। परंतु अंत में उसने गर्वपूर्वक अपने साम्राज्य के सेने के सिक्कों पर गरुड़-ध्वज भी अंकित कराया था; और इतिहास में बहुत ही शोड़े से राजाओं को इस प्रकार अपने सिक्कों पर गरुड़-ध्वज अंकित कराने का सौभाग्य और संतोष प्राप्त हुआ है। अपना साम्राज्य स्थापित करने के उपरांत उसने अपने जो सिक्के चलाए थे, उन पर उसने हिंदू-वीर और हिंदू-आदर्श की इस प्रकार अभिव्यक्ति की थी कि उसने उन पर अंकित करा दिया था कि मैंने सारे देश पर विजय प्राप्त करके उसका शासन इतनी उत्तमता से किया है कि अपने लिये स्वर्ग-पद प्राप्त कर लिया है (देखो ऊपर पृ० २४३)। वाकाटक-सम्राट् के अनुकरण पर उसने संस्कृत को राजकीय भाषा बनाकर उसे अपने दरबार में स्थान दिया था और पाटलिपुत्र के साम्राज्य-सिंहासन पर आसीन होकर अश्वमेध-यज्ञ किए थे ।

§ ११७ क. पाटलिपुत्र से निकाल दिए जाने पर जिस समय चंद्रगुप्त प्रथम या तो बहुत अधिक दुःखी होने के कारण अयोध्या और उसका और या युद्ध में घायल होने के कारण प्रभाव मरने लगा था, उस समय उसने समुद्रगुप्त को, जो उसके छोटे लड़कों में से एक था, अपने पास बुलाकर नेत्रों में आँसू भरकर और अपने मंत्रिमंडल की स्वीकृति तथा सहमति से कहा था—“अब तुम राजा बनो” (राज्य की रक्षा करो)। और इसके बाद ही वह मर गया था^३। उसकी मृत्यु अवश्य ही गंगा के उस पार उसके संबंधी लिच्छवियों के राज्य में हुई होगी। उसका पुत्र समुद्रगुप्त भी लिच्छवियों का अधीनस्थ और संबंधी ही था और उस समय उसे साकेत का अर्थात् आस-पास का अवध का प्रदेश मिला होगा, जहाँ अयोध्या में हम इसके बादवाले शासनों में गुप्त सम्राटों को अपने दूसरे और प्रिय राजनगर में निवास करते हुए पाते हैं। अयोध्या में भी उन दिनों संस्कृति का एक केंद्र था। अयोध्या में ही वह कवि अश्वघोष हुआ था जो इससे ठोक पहले बाले अच्छ-प्रबन्धक काल का कालिदास माना जाता है। वह बहुत बड़ा विद्वान् शिखरस्वामी भी अयोध्या का ही रहनेवाला था जो आगे चलकर रामगुप्त और चंद्रगुप्त द्वितीय का अमात्य

या प्रधान मंत्री हुआ था)। सनातनी परंपरा के अनुसार अयोध्या में ही रामचंद्र की राजधानी थी और इसी लिये समुद्रगुप्त ने अपने सबसे बड़े लड़के का नाम रामगुप्त रखा था;^१ और यह एक ऐसा नाम था जो सारी पुरानी हिंदू-सभ्यता को व्याप्त करनेवाला था। समुद्रगुप्त ने उस परंपरा का पूर्ण रूप से प्रहण कर लिया था। समुद्रगुप्त और उसके उत्तराधिकारियों के राजनीतिक विधान का हिंदू विद्या एक अंग बन गई थी। उनके राष्ट्रोत्तर कार्य तथा राजनीतिक स्वरूप विष्णु की राजस (अर्थात् राजाओं के उपयुक्त) भक्ति के सांचे में ढल गया था। वे भारतवर्ष के राज्य का विष्णु की ही भाँति हृष्टापूर्वक समर्थन और पोषण करने के लिये उठ खड़े हुए थे। उनकी भक्ति बहुत प्रबल और गंभीर है। वे विष्णु का ही स्थान करते हैं और विष्णु में ही स्थान करते हैं। समुद्रगुप्त और चंद्रगुप्त द्वितीय दोनों अपने

१. विहार और उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी का जरनल, खंड १८, पृ० ३७।

२. श्रवण ग्रंथकार अचू सालेह ने लोकप्रिय रम-पाल (रव्वाल) नाम अपने ग्रंथ में दिया है (वि० उ० रि० स० का जरनल, १८ पृ० २१) और इसका मिलान हम गुप्तों की राजावलोंवाले उन नामों से कर सकते हैं जो कनिधम के अयोध्या में मिली थी। उस नामावली के नामों के अंत में “गुप्त” के स्थान पर “पाल” शब्द मिलता है। जैसे समुद्रपाल, चंद्रपाल आदि। A. S. R. खंड ११, पृ० ६६।

देवता के साथ मिलकर एक-रूप हो गए हैं। ऐसन में समुद्रगुप्त द्वारा स्थापित जो विष्णु की मूर्ति है, उसे जिस किसी ने देखा होगा, उसे स्वयं समुद्रगुप्त का भी स्मरण हो आया होगा और उसने उस मूर्ति में स्वयं समुद्रगुप्त की आकृति और परिच्छद देखे होंगे। और उदयगिरि में चंद्रगुप्त-गुहा में जो व्यक्ति विष्णुवराह की मूर्ति देखेगा, उसे यह स्मरण हो आवेगा कि चंद्रगुप्त द्वितीय स्वयं ही ध्रुवदेवी का उद्धार कर रहा है। अपने समय की जो आध्यात्मिक और धार्मिक प्रवृत्तियाँ राजकीय और राष्ट्रीय भावों आदि को फिर से जन्म देती हैं, विना उन्हें अच्छी तरह समझे कोई किसी राजनीतिक सुधार या रूपांतर का स्वरूप ठीक तरह से नहीं जान सकता। और इसी लिये इस अवसर पर गुप्तों की इस प्रकार की सब बातों का ठीक ठीक स्वरूप यहाँ जान लेना आवश्यक है।

§ ११८. भीतरी में भी और मेहरौली में भी गुप्तों ने अपनी जो विजएँ विष्णु को अर्पण की थीं, जिस ठाठ-बाट से उन्होंने अश्वमेघ यज्ञ किए थे, जिस प्रकार उदारतापूर्वक उन यज्ञों में उन्होंने दान दिए थे और जिस ठाठ से अपने गरुडमदंक सिक्के प्रचलित किए थे, उन सबका ठीक ठीक अभिप्राय विना उक्त मूल-मंत्र को जाने कभी समझ में नहीं

आ सकता । हम इन्हें हिंदू-मुगल कह सकते हैं, परंतु इनमें
न तो मुगलोंवाली क्रूरता ही थी और न चरित्र-भ्रष्टता ही, और
विना इस कुंजी के इनके रहस्य का उद्घाटन नहीं हो
सकता । विना इसके आपको इस बात का पता नहीं चल
सकता कि चंद्रगुप्त द्वितीय ने किस प्रकार प्राण-दंड की प्रथा
उठा दी थी^१, किस प्रकार उसने हिंदुत्व के वैभव की कीर्ति
को चरम सीमा पर पहुँचा दिया था और किस प्रकार उसने
उत्तम शासन की ऐसी सीमाएँ निर्धारित की थीं जिनका
और अधिक विस्तार कोई राज-दंड नहीं कर सका था ।

§ ११८. भार-शिवों से लेकर बाकाटकों के समय तक
उसी शिव का राज्य था जो सामाजिक त्याग और सन्यास
प्राचीन और नवीन धर्म^२ का देवता था, जो सर्वशक्तिमान् ईश्वर
का संहारक रूप था और जो परम उदार
तथा दानी होने पर भी अपने पास किसी प्रकार की संपत्ति
नहीं रखता था, जिसके पास कोई भौतिक वैभव नहीं था,
और जो परम उपर तथा धोर था । परंतु इसके विपरीत दूसरे
गुप्त राजा तथा पहले गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त ने ईश्वर के उस
रूप का आवाहन किया था जिसका कार्य राजकीय और
राजस है, जो अपने शरीर पर भभूत नहीं रमाता, बलिक स्वर्ण
के अलंकार धारण करता है, जो रचना और शासन करता

१. फान्हियान, सोलहवाँ प्रकरण ।

है, जो वैभव को रक्षा करता और उसे देखकर सुखी होता है और जो हिंदू-राजत्व का परंपरागत देवता है। विष्णु सब देवताओं का राजा है, खूब अच्छे अच्छे वस्त्र और आभू-पण पहनता है, सीधा तनकर खड़ा रहता है और अपनी प्रजा के राज्य का शासन करता है; जो बीर है और युद्ध का विजय-देवता है (उसका चिह्न चक्र है जो साम्राज्य का लक्षण है) और जो उन समस्त दुष्ट शक्तियों का अप्रतिवार्य रूप से नाश करता है जो विष्णु भगवान् के साम्राज्य पर आकर्मण करती हैं। युद्ध तथा विजय की घोषणा करने के लिये उसके एक हाथ में शंख है। तीसरे हाथ में शासन का दंड या गदा है और चौथे हाथ में कमल है जो उसकी प्रजा के लिये संपन्नता, वृद्धि और आनंद का सूचक चिह्न है। इस राजस देवता के धर्म को ही समुद्रगुप्त ने अपने वंश और देश का धर्म बनाया था। विष्णु के प्रति उसकी भक्ति इतनी अधिक है कि स्वयं उसका व्यक्तित्व विष्णु में ही विलोन हो जाता है। भगवद्गीता के शब्दों में उसका वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है—

“साध्वासाधृदय-प्रलय-हेतु पुरुषस्याचिन्त्यस्य भक्त्यव-
नतिमात्रात्यस्तुहृदयस्य ।”

और उन दिनों की साहित्यिक प्रथा के अनुसार इस वर्णन का दोहरा अर्थ होता है। इसमें भक्त और उसके आराध्य

देवता दोनों का ही एक ही भाषा में वर्णन किया गया है—
जो लच्छ आराध्य देवता के हैं, वही उसके भक्त के भी हैं।
जो लोग हिंदू नहाँ होंगे अथवा जो हिंदुओं की भक्ति का
मर्म न जानते होंगे, वे यह वर्णन पढ़कर यहो समझेंगे कि
यह ईश्वर के गुणों का पाखंड-पूर्ण ध्यान है। परंतु वास्तव
में वात ऐसी नहाँ है। भक्ति-मार्ग में सर्वश्रेष्ठ सिद्धांत यह
है कि भक्त और उसके आराध्य देव में अनन्यता होनी
चाहिए—दोनों में कुछ भी अंतर न रह जाना चाहिए।
भक्त में धीरे धीरे उसके आराध्य देवता के गुण आने लगते
हैं और तब अंत में भक्त का रूप इतना अधिक परिवर्तित हो
जाता है कि वह अपने आराध्य देवता के साथ मिलकर एक
हो जाता है। वह अपने देवता का प्रचारक और प्रतिनिधि
रूप से काम करनेवाला बन जाता है। वह केवल मध्यवर्ती
या निमित्त मात्र बन जाता है और उसके सभी कार्य उसके
आराध्य देवता या प्रभु को अर्पित होते हैं। गुप्त लोग
अपने मन में इस वात का अनुभव करते थे और इस पर
पूरा पूरा विश्वास रखते थे कि हम विष्णु के सेवक और
कार्यकर्ता हैं, हम विष्णु की ओर से एक विशेष कार्य करने
के लिये नियुक्त हुए हैं और विष्णु की ही भाँति हमें भी
अनधिकारी और धर्म-भ्रष्ट राजाओं पर विजय प्राप्त करनी
चाहिए, विष्णु की ही तरह हमें पूर्ण रूप से सबका स्वामी
बनकर उन पर शासन करना चाहिए; और विष्णु के हाथ

का कमल जो यह कहता है कि हम सबको सुखी करेंगे, उसी के अनुसार भारतवर्ष के समस्त निवासियों को सुखी और प्रसन्न करना चाहिए। उन लोगों ने यह कार्य पूर्ण रूप से संपादित किया था और समुद्रगुप्त ने यह बात अच्छी तरह अपने मन में समझ ली थी कि हमने यह काम बहुत अच्छी तरह से पूरा किया और इस प्रकार हम स्वर्ग के अधिकारी बन गए हैं। विष्णु की तरह समुद्रगुप्त और उसके अधिकारियों ने भी भारतवर्ष को धन-धान्य से भली भाँति पूर्ण कर दिया था और यहाँ संपन्नता, वैभव तथा संस्कृति की स्थापना कर दी थी।

१२. सन् ३५० ई० का राजनीतिक भारत

और समुद्रगुप्त का साम्राज्य

३१२०, समुद्रगुप्त के प्रयागवाले स्तंभ पर जो शिलालेख अंकित है, उसमें उसके जीवन के सब कार्यों का उल्लेख है; ३५० ई० के राज्यों और इस बात में कुछ भी संदेह नहीं है के संबंध में पुराणों में कि उसकी यह जीवनी उसी के जीवन-यथेष्ट वर्णन काल में प्रकाशित हुई थी^१। उसमें उन राज्यों और राजाओं के वर्णन हैं जो गुप्त-साम्राज्य की स्थापना के समय वर्तमान थे। परंतु फिर भी हम समझते

१. फ्लोट का यह अनुमान ठीक नहीं था कि उसकी यह जीवनी उसकी मृत्यु के उपरांत प्रकाशित हुई थी। देखें रायल एशियाटिक सोसायटी के जरनल सन् १८६८, पृ० ३८६ में बुहलर का लेख। यह

हैं कि पुराणों में उन दिनों के राजनीतिक भारत का कदाचित् अपेक्षाकृत और भी अधिक विस्तृत वर्णन मिलता है। वास्तव में हमें पुराणों में समुद्रगुप्त के समय के भारत का पूरा पूरा चित्र मिलता है और उसी चित्र से पुराणों के काल-क्रमिक ऐतिहासिक विवरण समाप्त होते हैं। परंतु पुराणों के उन अंशों का अच्छी तरह अध्ययन नहीं किया गया है और पौराणिक इतिहास के इस अंश के महत्त्व पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया गया है; इसलिये उस पौराणिक सामग्री का कुछ विवेचन और विश्लेषण कर लेना आवश्यक जान पड़ता है; और वह सामग्री, जैसा कि हम अभी बतलावेंगे, बहुत अधिक मूल्यवान् है।

§ १२१. मत्स्यपुराण में आंध्रों के पतन-काल तक का इतिहास है; और गणना करके यह निश्चित किया गया है कि आंध्रों का पतन या तो सन् २३८ ई० में और या उसके लगभग हुआ था। (विहार और उड्डीसा रिसर्च सोसाइटी का जरनल, खंड १६, पृ० २८०)^१। और इसके

उनके अश्वमेध या अश्वमेघों में पहले प्रकाशित हुई थी। (फलीट की इस भूल ने बहुतों को और साथ ही मुझे भी भ्रम में डाल दिया था।)

१. उनके तुखार-मुरुङ्ड आदि सम-कालीनों का अंत सन् २४३ या २४७ ई० के लगभग हुआ था। चिं उ० रि० स० का जरनल, खंड १६, पृ० २८१।

आगे के सूत्र वायुपुराण तथा ब्रह्मांड पुराण में चलते हैं। इन दोनों पुराणों में फिर से साम्राज्य का इतिहास आरंभ किया गया है और वह इतिहास विषयक कुल के विषयशक्ति से आरंभ हुआ है। विषयशक्ति के बंश और विशेषतः उसके पुत्र प्रवीर के उदय का विवेचन करते हुए उन पुराणों में आनुषंगिक रूप से विषयशक्ति के अधीन विदिशा-नागों और उनके उत्तराधिकारी नव-नागों^१ अर्थात् भार-शिवों का इतिहास दिया है। इसके उपरांत उनमें वाकाटक (विषयक) साम्राज्य और उसके संयोजक अंगों का पूरा वर्णन दिया है और साथ ही उस साम्राज्य के अधीनस्थ शासकों की संख्या और उनके योग भी दिए हैं। दूसरे शब्दों में यह बात इस प्रकार कही जा सकती है कि उनमें विषयशक्ति के पुत्र प्रवीर के शासन-काल तक का इतिहास है और साथ ही नव-नागों का भी इतिहास है; और इन कालों की बातों का वर्णन उनमें बीते हुए इतिहास के रूप में दिया गया है। और इसके उपरांत वे अपने समय के इतिहास का वर्णन

१. इसका एक और रूप नव-नाक भी मिलता है। ऊपर पृ० २४३ में कालिदास का जो श्लोक उद्धृत किया गया है, क्या उसमें आए हुए “आ-नाक” शब्द का दोहरा अर्थ हो सकता है? यदि “आ-समुद्र” में समुद्र का अभिप्राय गुप्तों से हो सकता है तो फिर “आ-नाक” के “नाक” का अभिप्राय भी नाकों अर्थात् नागों से हो सकता है।

आरंभ करते हैं। गुप्तों के समय से लेकर आगे का जो इतिहास वे देते हैं, उसमें न तो वे शासकों की संख्या ही देते हैं और न उनका शासन-काल ही बतलाते हैं। गुप्तों के समय से आगे की जो बातें दी गई हैं, उनसे पता चलता है कि वे परिवार उस समय तक शासन कर रहे थे और इसी लिये वे परिवार गुप्तों के सम-कालीन थे। जैसा कि हम अभी बतलावेंगे, निःसंदेह रूप से पुराणों का यही आशय है कि वे गुप्त-साम्राज्य के अधीनस्थ और संयोजक अंग थे। इसमें वे कुछ अपवाद भी रखते हैं। उदाहरणार्थ वे गुप्तों के उन सम-कालीनों का भी उल्लेख कर देते हैं जो गुप्त-साम्राज्य के अंतर्भुक्त अंग नहीं थे। उनमें दिए हुए व्योरे विलकुल ठीक हैं और सीमाएँ आदि विशेष रूप से निर्धारित हैं। अतः उस समय का इतिहास जानने के लिये वे अमूल्य साधन हैं। और वहाँ पहुँचकर वे पुराणा रुक जाते हैं, इससे सूचित होता है कि वे उसी समय के लिये हुए इतिहास हैं; अर्थात् ये दोनों पुराणा उसी समय लिखे गए थे जिस समय समुद्र-गुप्त का साम्राज्य वर्तमान था। गुप्त-कुल का शासन विष्वशक्ति के पुत्र प्रबीर के उपरांत आरंभ हुआ था और इसलिये पुराणों ने उसी गुप्त-कुल को साम्राज्य का अधिकारी कुल माना है। वाकाटकों तक, जिनमें स्वयं वाकाटक भी सम्मिलित हैं, पुराणों में केवल साम्राज्य-भोगी कुलों के वर्णन हैं। विष्णुपुराण और भागवत में

कुछ ऐसे ऐतिहासिक तथ्य हैं जो विशिष्ट रूप से इन्हों
साम्राज्य-भोगी वंशों से संबंध रखते हैं। यहाँ ऐसा जान
पड़ता है कि उन्होंने कुछ नितांत स्वतंत्र साम्राज्यों का ही
उपयोग किया है।

§ १२२. वायुपुराण और ब्रह्मांडपुराण में गुप्तों का वर्णन
उन नागों के वर्णन के उपरीत आरंभ किया गया है जो
साम्राज्य-पूर्व काल के विहार में चंपावती या भागलपुर तक
गुप्तों के संबंध में विष्णु- के शासक थे। परंतु विष्णुपुराण में
पुराण उन गुप्तों का आरंभ नागों के समय
से किया गया है जिससे उसका अभिप्राय गुप्त और घटो-
स्तक्च के उदय से है। यथा—

नवनागाः पद्मावत्यां कानितपुर्यां मथुरायामनुगंगा-
प्रयागं मागधा गुप्ताश्च भोज्यन्ति ।

और इसका आशय यह है कि जिस समय नव-नाग पद्मा-
वती, कानितपुरी और मथुरा में राज्य करते थे, उसी समय
मागध गुप्त लोग गंगा-तटवाले प्रयाग में शासन करते थे।
इससे सूचित होता है कि उनकी पहली जागीर इलाहाबाद
जिले में थी और उस समय वे लोग मगध के निवासी माने
जाते थे। इसका स्पष्ट अभिप्राय यही है कि आरंभिक गुप्त
लोग इलाहाबाद में यमुना की तरफ नहीं बल्कि गंगा की
तरफ अर्थात् अवध और बनारस की तरफ राज्य करते थे।
विष्णुपुराण में अनु-गंगा-प्रयाग एक शब्द के रूप में आया

है और पद्मावती, कांतिपुरो और मथुरा की तरह राजधानी का यही अनु-गंगा-प्रयाग नाम दिया है। वह स्वतंत्र अनु-गंगा नहीं है जो किसी अनिश्चित प्रदेश का सूचक हो। इस अवसर पर न तो भागवत में ही और न विष्णुपुराण में ही साकेत का नाम आया है। विष्णुपुराण में गुप्त का बहु-बचन रूप “गुप्ताश्च” आया है और इसका विशेषण मागधा दिया है, जिससे उसका आशय यही है कि यह उस समय की बात है जब कि गुप्त लोग मगध से अधिकार-चयुत कर दिए गए थे; अर्थात् यह समुद्रगुप्त का साम्राज्य स्थापित होने से कुछ वर्ष पहले की बात है।

§ १२३. इसके विपरीत दूसरे पुराणों में गुप्त-कुल के संबंध में कुछ और ही प्रकार के तथ्य मिलते हैं। वायु-पुराण

गुप्त-साम्राज्य के और बहांड पुराण में कहा गया है कि संबंध में पुराणों का मत गुप्त वंशवाले (गुप्तवंशजाः) अर्थात् इस वंश के संस्थापक के उपरांत होनेवाले गुप्त लोग राज्य करेंगे (भोद्यन्ते)

(क) अनु-गंगा-प्रयाग^१, साकेत और मगधों^२ के प्रांतों में।

१. अथवा अनु-गंगा और प्रयाग (अनुगंगं प्रयाग च Puran Text पृ० ५३, पाद-टिप्पणी ५)।

२. अनुगंगं प्रयागं च साकेतं मगधांस्तथा।

एतान् जनपदान् सर्वान् भोद्यन्ते गुप्तवंशजाः ॥

(ख) शासन करेंगे (भोद्यन्ते) अथवा पर शासन करेंगे (भोद्यन्ति) नैषधों, यदुकां, शैशितो और कालतोयकों के मणिधान्य प्रांतीं पर^३ ।

(ग) शासन करेंगे (भोद्यन्ते) या पर शासन करेंगे (भोद्यन्ति) कोशलों, आंघ्रों, (विष्णु-पुराण के अनुसार ओड्रों), पौड्रों, समुद्र-तट के निवासियों सहित ताम्रलिप्तों और देवों द्वारा रक्षित (देव-रक्षिताम्) रमणीय राजधानी चंपारे पर ।

(घ) शासन करेंगे गुह-प्रांतीं (विष्णुपुराण के अनुसार गुहान्) कलिंग, माहिषिक और महेन्द्र^४ के प्रांतीं पर कलिंग, महिष और महेन्द्र^५ का शासक गुह होगा (भोद्यति के स्थान पर पालयिष्यति) ।

विष्णुपुराण से भी यह बात प्रमाणित होती है कि साम्राज्य के उक्त तीनों अंतिम प्रांत क्रमशः मणिधान्यक

१. नैषधान् यदुकांश्चैव शैशितान् कालतोयकान् ।

एतान् जनपदान् सर्वान् भोद्यन्ते (वायु० के अनुसार भोद्यन्ति)
मणिधान्यजान् ॥ (ब्रह्मांड०)

२. कोसलांश्चान्प्रपौङ्रांश्च ताम्रलिप्तान् स-सागरान् ।

चम्पां चैव पुर्णां रम्यां भोद्यन्ते (न्ति) देवरक्षिताम् ॥ (वायु०)

३. कलिंगमाहिषिकमाहेन्द्रभौमान् गुहान् भोद्यन्ति । (विष्णु०)

४. कलिंगा महिषाश्चैव महेन्द्रनिलयाश्च ये ।

एतान् जनपदान् सर्वान् पालयिष्यति वै गुहः ॥ (ब्रह्मांड० और
वायु०)

(विष्णु०) अथवा किसी माणिधान्यज [मणिधान्य का वंशज (ब्रह्मांड०)] देव और गुह के शासनाधिकार में थे, क्योंकि विष्णुपुराण में भी इन प्रांतीय सरकारों के शासक यहाँ तीनों व्यक्ति कहे गए हैं। इस संबंध में वायुपुराण और ब्रह्मांडपुराण दोनों का पाठ एक ही है और उनमें ये नाम कर्म कारक में रखे गए हैं और कर्ता कारक “गुप्तवंशजाः” होता है। इन प्रांतीय शासकों के नामों का इन प्रांतों के नामों के साथ विशेषण रूप में प्रयोग किया गया है; यथा—मणिधान्यजान् (ब्रह्मांड०), देव-रक्षिताम् (चंपा का विशेषण) और गुहान् (जो विष्णुपुराण में भी इसी रूप में मिलता है)।

§ १२४. इसके उपरीत उस समय के नीचे लिखे राजवंशों के नाम दिए गए हैं जो गुप्त-वंश के अधीन नहाँ थे—

(क) कनक जिसका राज्य खो-
स्वतंत्र राज्य
राष्ट्र, भाजक (ब्रह्मांड०), वैराज्य

(विष्णु०), और मुषिका (विष्णु०) पर था।

(ख) सुराष्ट्र और अवंती के आभीर लोग।

(ग) शूर लोग।

(घ) अर्दुद के मालव लोग।

इनमें से ख, ग और घ यथापि हिंदू और द्विज तो थे, परंतु ब्रात्य (ब्रात्यद्विजाः) थे और उनके राष्ट्रीय शासक (जनाधिपाः) बहुत कुछ शूद्रों के समान (शूद्रप्रायाः) थे।

(३) सिंधु (सिंधु नदी के आस-पास का प्रदेश) और चंद्रभागा, कौती (कच्छ) और काश्मीर ऐसे म्लेच्छों के अधिकार में थे जो अनार्य शूद्र थे (अथवा कुछ हस्त-लिपित प्रतियों के अनुसार अंत्याः अथवा सबसे निम्न वर्ग के और अब्रूत थे)। ये लोग म्लेच्छ शूद्र थे, अर्थात् ऐसे म्लेच्छ (शकों से अभिप्राय है) थे जो हिंदू-धर्म-शास्त्रों के अनुसार शूद्रों का पद तो प्राप्त कर चुके थे, परंतु फिर भी म्लेच्छ (अर्थात् विदेशी) हो थे (§ १४६ ख)। इस अवसर पर पुराणों में हिंदू-शूद्रों से ये म्लेच्छ शूद्र अलग रखे गए हैं। विष्णु पुराण में तो इन्हें स्पष्ट रूप से म्लेच्छ शूद्र ही कहा है^१। विष्णु पुराण में सिंधु तट के उपरांत दार्विक देश का भी नाम दिया गया है। और इसका पूर्वी अफगानिस्तान से अभिप्राय है, जिसमें आज-कल दरवेश खेलवाले और दौर लोग निवास करते हैं; और जो खैबर के दरें से लेकर उसके पश्चिम ओर है। महाभारत में हमें दार्विक के स्थान पर “दार्विच” रूप मिलता है^२।

१. Puran Text, § ०५५, पाद-टिप्पणी ३०।

२. हॉल और विलसन द्वारा संपादित विष्णुपुराण, २, १७५, पाद-टिप्पणी।

₹ १२५, इस प्रकार पुराणों से हमें यह पता चलता है कि आर्यवर्त में गुप्तों के अधीन जो प्रांत थे, उनके अविरिक्त उनके तीन और ऐसे प्रांत थे जिन पर गुप्तों के अधीनस्थ प्रांत उनकी और से नियुक्त गवर्नर या शासक शासन करते थे। इनमें से अंतिम दो प्रांत (ग) और (घ) (देखो ऊपर पृ० २७२) दक्षिणी भारत में थे। और दूसरा प्रांत (ऊपर पृ० २७२ का 'ख') भी विंध्यपर्वत के दक्षिण में था। यह प्रांत पश्चिम की ओर दक्षिणी-भारत के प्रवेश-द्वार पर था। हिंदू हष्टि-कोण से यह प्रांत भी दक्षिणापथ में ही अर्थात् विंध्य पर्वत के दक्षिण में था, परंतु आजकल के शब्दों में हम यहाँ इसे (१) डेकन प्रांत कहेंगे। गवर्नरों या शासकों के द्वारा जिन प्रांतों का शासन होता था, उनमें यह प्रांत विष्णुपुराण में तीसरा प्रांत बतलाया गया है, परंतु बायुपुराण और ब्रह्मांडपुराण में इसका नाम तीनों प्रांतों में सबसे पहले आया है। विष्णु-पुराण में सबसे पहले (२) कोसल, उड़ोसा, बंगाल और चंपा के प्रांत का नाम आया है और बाकी दोनों पुराणों में कोसल आदि का प्रांत दूसरे नंबर पर है। और इसके उपरांत सभी पुराणों के अनुसार (३) कलिंग-माहिविक-महेंद्र प्रांत है। भागवत की बात इन सबसे अलग ही है। उसमें तीनों प्रांतों के अलग अलग नाम नहीं हैं; और जान पड़ता है कि उसमें "मेदिनी" शब्द के अंतर्गत ही सारे

साम्राज्य का अंतर्भव कर दिया गया है। उसमें कहा गया है—गोप्ता भोद्यन्ति मेदिनीम्। अर्थात् गुप्त के वंशज (यह गोप्ता: बास्तव में संस्कृत गौप्ता: का प्राकृत रूप है) पृथ्वी का शासन करेंगे। साधारणतः पुराणों का जब किसी साम्राज्य से अभिप्राय होता है, तब वे मेदिनी, महो, पृथ्वी, वसुधरा अथवा पृथ्वी के इसी प्रकार के किसी और पर्याय का प्रयोग करते हैं^१। यदि हम विष्णुपुराण में दिए हुए क्रम को देखते हैं तो हमें पता चलता है कि वह विलक्ष्मि इलाहाचाद-वाले शिलालेख का ही क्रम है। एक और तो कोसल, ओड्र, पौड्र, ताम्रलिपि और समुद्र-तट का मेल शिलालेखवाले कोसल और महाकांतार (पंक्ति १६) से मिलता है^२ और दूसरी और सम-तट (पंक्ति २२) से

१. इस प्रयोग का समर्थन और स्पष्टीकरण इस बात से हो जाता है कि समुद्रगुप्त ने अपने इलाहाचादवाले शिलालेख (पंक्ति २४) में समस्त भारत के लिये पृथ्वी और धरणी शब्दों का प्रयोग किया है। इसका मतलब है—सारा देश। भागवत के वर्तमान याड में (अनु-गंगामाप्रयागं गोप्ता भोद्यन्ति मेदिनीम्) अनुगंगा शब्द इस प्रकार आया है कि मानो वह मेदिनी का विशेष हो। कदाचित् इससे कहाँ यह सूचित करना चाहता था कि जो गुप्त लोग पहले अनु-गंगा-प्रयाग के शासक थे, वे आगे चलकर सारे साम्राज्य का अथवा अनु-गंगा-प्रयाग और साम्राज्य का भोग करने लगे थे।

२. महाभारत में कांतारकों के राज्य का जो स्थान निर्देश किया गया है, उससे पता चलता है कि वह भोजकट-पुर (चरार) से पूर्व

मिलता है। जान पड़ता है कि समुद्रगुप्त ने एक ऐसे प्रांत की सृष्टि की थी जिसकी राजधानी चंपा में थी और जिसका विस्तार मगध के दक्षिण-पूर्व से छोटा नागपुर होते हुए उड़ोसा और लक्ष्मीसगढ़ के करद-राज्यों और ठेठ वस्तर तथा चाँदा जिले तक था। वायुपुराण में भी और ब्रह्माड-पुराण में भी आंघ्र को कोसल के बाद रखा गया है। कोसला और मेकला के पुराने वाकाटक प्रांत में समुद्रगुप्त ने उड़ोसा और बंगाल को भी मिला दिया था और उन सबका शासन चंपा से होता था, जहाँ से बंगाल और कोसल के लिये रास्ते जाते थे और जहाँ से नदी के द्वारा सीधे ताम्रलिपि तक भी जाने का मार्ग था। चंपा का विशेषण देव-रक्षिता दिया गया है, जिसका कदाचिन् यह अर्थ हो सकता है कि वह राजा देव के अधीन था (राज्याभिषेक से पहले चंद्रगुप्त द्वितीय का नाम देव था। देखो वि० ३० रि० सो० का जरनल, खंड १८, पृ० ३७)। महरौलीवाले स्तंभ में कहा गया है कि चंद्रगुप्त द्वितीय ने बंगों पर विजय प्राप्त की थी; और इसका अर्थ यह हो सकता

कोसल तक बेणा (बैन-गंगा) की तराई के उस पार और पूर्वी कोसल (दक्षिणवाले पाठ के अनुसार प्राकोटक) से पहले पड़ता था।— सभापर्व ३१, ६३। यह कांतारक वही था जहाँ आजकल काँकेर और वस्तर है। दूसरा कोसल (अर्थात् दक्षिणी कोसल) वही था जो आजकल का सारा चाँदा जिला है।

है कि जब वह वाइसराय या उपराज के रूप में शासन करता था, तब उसे एक युद्ध करना पड़ा था । जान पड़ता है कि अपने अभियान के कुछ ही दिन बाद समुद्रगुप्त ने समतट को भी अपने राज्य में मिला लिया था ।

§ १२६. पुराणों से पता चलता है कि कलिंग-माहिविक-महेंद्र^१ (अथवा महेंद्रभूमि) को मिलाकर एक ही प्रांत बना लिया गया था । इसका मिलान पंक्ति १८ के शिलालेख-बाले विभागों से भी हो जाता है । महाकातार के उपरांत कौरालृ है जो पुलकेशिन् द्वितीय का कौनालृ जलाशय है; और यह पिठापुरम् के दक्षिण की बही झोल है जो गोदावरी और कृष्णा नदियों के मध्य में पड़ती है^२ । पितृ-पुर, महेंद्रगिरि और कोट्टूर तीनों गंजाम जिले की पहाड़ी गढ़ियाँ हैं^३ । मोटे हिसाब से यह बही प्रांत है जिसे आज-कल हम लोग पूर्वी घाट कहते हैं और जिसका नाम ईस्ट-इंडिया कंपनी के समय में उत्तरी सरकार था; अर्थात् यह

१. विष्णुपुराण को एक प्रति में माहिविक के स्थान पर “माहेय-कच्छ” लिखा हुआ मिलता है जिसका अर्थ होता है—महा(नदी) के तट । यह कदाचित् महानदी की तराई थी ।

२. एपिग्राफिया इंडिका, खंड ६, पृ० ३. तेलगू भाषा में कोलनु का अर्थ झोल होता है ।

३. विं० स्मिथ कृत Early History of India, पृ० ३०० (चैथा सं०) ।

कृष्णा और महानदी के मध्य का प्रदेश है। पिष्टपुर में उस समय कलिंग की राजधानी थी और यह बात पिष्टपुर और सिंहपुर में राज्य करनेवाले मगध कुल के एक ऐसे अभिलेख में लिखी हुई मिलती है जो प्रायः उन्हीं दिनों चत्कीर्ण हुआ था^१ । इस मगध-कुल के आरंभिक शासकों में से एक तो शक्तिवर्मन् था और उसके उपरांत चंद्रवर्मन् और उसका पुत्र विजयनंदिवर्मन् वहाँ शासन करता था। विजयनंदि-वर्मन् ने अपना कुल-नाम मगध-कुल से बदलकर शालंकायन-कुल रखा था। यह बात या तो स्कंदगुप्त के समय में और या उसके बाद हुई होगी। हम देखते हैं कि विजयनंदि-वर्मन् के एक उत्तराधिकारी (विजयदेववर्मन्) ने अश्वमेध यज्ञ भी कर डाला था अर्थात् उसने अपनी पूर्ण स्वतंत्रता की घोषणा भी कर दी थी। यह बात प्रायः निश्चित ही है कि जब परवर्ती वाकाटकों ने कलिंग पर विजय प्राप्त कर ली थी, तब वे गुप्तों के संबंधियों या उत्तराधिकारियों के रूप में भी अपना अधिकार स्थापित करना चाहते थे और देश के इस भाग के स्वामी होने का अपना पुराना अधिकार भी जतलाते थे; और उनका यह अधिकार-स्थापन अवश्य

१. एपिग्राफिया इंडिका, खंड ४, पृ० १४२, खंड १२, पृ० ४, खंड ६, पृ० ५६ और इंडियन एंटिक्वेरी, खंड ५, पृ० १७६ ।

ही शालंकायनों के मुकाबले में होता होगा । जान पड़ता है कि यह मगध-कुल वही था जिसे समुद्रगुप्त या उसके उत्तराधिकारी ने शासक करद था सामंत वंश के रूप में नियुक्त किया था । ये लोग ब्राह्मण थे जो मगध से वहाँ भेजे गए थे । इस कुल के आरंभिक राजा अपने आज्ञापत्र आदि संस्कृत में प्रचलित करते थे । इस कुल के प्रथम शासक का नाम गुह होगा, क्योंकि वायुपुराण और ब्रह्मांडपुराण में यही नाम आया है । इसका गुहान् या गुहम् रूप (जो विष्णुपुराण में मिलता है) गुह शब्द के मौलिक कर्म कारक का ही अवशिष्ट है, जो इस प्रसंग में वायुपुराण और ब्रह्मांडपुराण में नष्ट हो गया है और इसी लिये उनमें नहीं पाया जाता । लंका में दाठा वंशों (History of Tooth Relic) नामक एक ग्रन्थ प्रचलित है जिसमें महात्मा बुद्ध के दाँत के संबंध की अनेक अनुश्रुतियाँ हैं । यह ग्रन्थ ३० चौथी शताब्दी का बना हुआ माना जाता है । इस ग्रन्थ में एक स्थान पर कहा गया है कि कलिंग का एक शासक, जिसका नाम गुह (गुह-शिव) था, समस्त भारत और उसके बाहर (जंबूद्वीप) के उस सम्राट् का करद और सामंत था जो पाटलिपुत्र में बैठकर राज्य करता था और वह ब्राह्मण या आर्य-धर्म का उपासक था । जान

१. दाठा वंशों J. P. T. S. १८८४, पृ० १०६, पद ७२-८४
और उसके आगे । यथा—“गुह शिवाहयो राजा” (७२) “तत्य राजा

पढ़ता है कि असल में बात यह थी कि गुह उन दिनां समुद्रगुप्त की अधीनता में और उसकी ओर से उस प्रदेश का शासन करता था ।

§ १२६ क. गुप्त-साम्राज्य का तीसरा अधीनस्थ अंश विंध्य पर्वत के दक्षिण में था और इसमें नैषध, यदुक, शैशिक गुप्त - साम्राज्य का और कालतोयक प्रांत सम्मिलित थे । दक्षिण प्रांत

माहिष्मती के बिलकुल पड़ोस में ही शैशिक था^१ । नैषध तो बरार था और यदुक देवगिरि (दैलतावाद) था; और इस विचार से हम कह सकते हैं कि साम्राज्य का उक्त प्रांत बालाघाट पर्वत-माला और सतपुड़ा के बीच में अर्थात् ताप्ती नदी की तराई में था । महाभारत से पता चलता है कि कालतोय उन दिनों आभीरों (गुजरात) और अपरीत के बीच में था^२ । यह प्रांत बाकाटक-साम्राज्य में से लेकर बनाया गया था और इसका शासक कोई मणिधान्यक

महातेजो जम्बू-दीपस्थ इसरो” (६१) । “तुह्यं सामन्त भूपालो गुह शिवो पनाधुना निन्दतो तादिसे देवे छुवत्थिम् वन्दते इति” । इसका आशय यह है कि पाटलिपुत्र के सम्माट से इस बात की शिकायत की गई थी कि कलिंग पर शासन करनेवाला आपका सामन्त एक “मृत अस्थि” की पूजा करता है और आर्य-देवताओं की निंदा करता है ।

१. विल्सन द्वारा संपादित विष्णुपुराण, खंड २, पृ० १६६-१६७

२. उक्त ग्रंथ, खंड २, पृ० १६७-१६८ ।

था जो मणिधान्य का पुत्र या बंशज था^१ । कदाचित् आपस का मन-मुटाव मिट जाने पर यह प्रदेश पृथिवीयेणा को दे दिया गया था, क्योंकि पृथिवीयेणा ने कुंतल के राजा पर विजय प्राप्त की थी; और कुंतल के राजा के साथ उसका प्रत्यक्ष संबंध होने के लिये यह आवश्यक था कि पृथिवीयेणा ही इस प्रांत का शासक होता^२ । चंद्रगुम द्वितीय के शासन-काल में हम देखते हैं कि वाकाटक लोग बरार में और वहाँ से शासन करते थे ।

§ १२७. इसके बाद दक्षिणी भारत का वह प्रांत आता है जिसका शासक कनक नामक एक व्यक्ति था । यह दक्षिणी स्वतंत्र राज्य कनक भी किसी कुल का नाम नहीं है, बल्कि गुह की भाँति व्यक्ति का ही नाम है । यथा—

खोराष्ट्रम् भोजकांश्चैव भोद्यते कनकाह्यः । (विष्णु और ब्रह्मांड पु०)

“कनक नाम का शासक खो-राष्ट्र और भोजकों पर राज्य करेगा”^३ । विष्णुपुराण में प्रांतों का और भी पूरी तरह से उल्लेख किया गया है । यथा—

१. महाभारत के अनुसार वाटधान्य और मणिधान्य आपस में पढ़ोसी थे । देवो विल्सन द्वारा संपादित महाभारत, खंड २, पृ० १६७ (वाटधान = पाठहान = पाठान) ।

२. एपि० इ०, खंड ६, पृ० २६६ A.S.W.R. खंड पृ० ५, १२५ ।

३. विष्णुपुराण में इसके लिये “भोद्यति” शब्द आया है जिसका अर्थ होता है—“शासन करेगा” अथवा “दूसरों से शासन करावेगा ।”

खी-राज्य त्रै-राज्य मूर्खिक जानपदान् कनकाह्यः भोव्यति ।

मूर्खिक वह प्रदेश है जो मूसी नदी के आस-पास पड़ता है; और यह मूसी नदी हैदराबाद से होकर दक्षिण की ओर बहती है। जान पड़ता है कि दक्षिणी राजा कनक मराठा प्रदेश का एक अंश ही भोजक था। त्रै-राज्य उन तीनों राज्यों का प्रसिद्ध वर्ग है जो दक्षिण में बहुत दिनों से चले आ रहे थे। पुराणों में खो-राज्य का उल्लेख सदा मूर्खिक देश के बाद हो और बनवास के साथ मिलता है और इसलिये हम समझते हैं कि यह वही कर्णाट या कुंतल प्रदेश है^१ ।

॥ १२८. अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि यह बड़ा शासक कौन था जो तीन तामिल राज्यों पर प्रभुत्व रखता कनक या कान कौन था या कोंकण तक का शासन करता या करता था? कनक नाम का यह व्यक्ति कौन था? यह स्पष्ट ही है कि उस समय इस नए शासक ने पल्लवों को अधिकार-च्युत कर दिया था। पौराणिक वर्णन के अनुसार यह कनक दक्षिण का प्रायः सम्ब्राट्-सा था। इस वर्णन

१. देखो रायल एशियाटिक सोसाइटी के जरनल, सन् १८०५, पृ० २६३ में फ्लीट का लेख। यथा—चोल पांड्य केरल भरणीघर-त्रय

२. खी-राज्य और कुंतल कदाचित् तामिल शब्दों के अनुवाद है।

का संबंध केवल एक ही शासक-कुल के साथ हो सकता है और वह वही कदंब-कुल था, जिसकी उन्हीं दिनों स्थापना हुई थी। पल्लवों के ब्राह्मण सेनापति मयूरशम्भन् ने पल्लव सम्राट् (पल्लवेंद्र) से एक अधीनस्थ और करद-राज्य प्राप्त किया था। उन दिनों दक्षिणी भारत में काँची के पल्लव ही सबसे अधिक शक्तिशाली थे, जिन्हें समुद्रगुप्त ने पराजित किया था। इन पल्लवों के पराजित होने पर कदाचित् मयूरशम्भन् ने अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर दी थी। जान पड़ता है कि उसके पुत्र कंगवर्मन् ने समुद्रगुप्त को उत्तरी भारत का भी और दक्षिणी भारत का भी सम्राट् मानने से इन्कार कर दिया था और उसका विरोध किया था। कंगवर्मन् का समय सन् ३५० ई० के लगभग है^१। ताल-

१. कदंब-कुल नामक ग्रंथ, पृ० १३-१८ में यह मानकर तिथियाँ दी गई हैं कि समुद्रगुप्त ने दक्षिण पर जा विजये प्राप्त की थी, उन्हीं के फल-स्वरूप मयूरशम्भन् ने अपना राज्य आरंभ किया था। परंतु यह बात ठीक नहीं है। तालगुङ्डवाले अभिलेख में कहा गया है कि मयूर पहले एक राजनीतिक लुटेरा था और उसे पल्लव-सम्राट् से एक जागीर मिली थी जिसके बहाँ वह सेनापति के रूप में काम करता था। पल्लव-सम्राट् ने उसे अपना सेनापति अभिपिक्त किया था (पट्टवंध-संपूजाम् ; एपि० ई० ८, ३२. राजनीति-मयूर से कहा गया है कि सेनापतियों का पट्टवंध होता था अर्थात् उनके सिर पर पगड़ी बैधने का रसम होती थी)। उसके प्र-पौत्र ने तालगुङ्डवाला जो अभिलेख उत्कीर्ण कराया था, उसमें इस बात का कोई उल्लेख नहीं है कि मयूर

गुंडवाले शिलालेख (एपि० ई० ८, ३५) में कहा गया है कि—
“उसने भीषण युद्धों में बड़े बड़े विकट कार्य कर दिखलाए

ने कोई अश्वमेध यज्ञ किया था। कदाचित् उसने अपने जीवन के अंतिम काल में ही राजा के रूप में शासन करना आरंभ किया था। मिलाओ A.R. S. M. १६२८, पृ० ५०। सबसे पहले उसके पुत्र कंग ने ही वर्मन् वाली राजकीय उपाधि महण को थी। मयूरशर्मन् का समय सन् ३२५-३४५ ई० के लगभग और उसके पुत्र कंग का समय सन् ३४५—३६० के लगभग समझा जाना चाहिए। इसकी पृष्ठि उस तिथि से भी होती है जो काकुस्थवर्मन् के उस ताम्रलेख में है जो उसने युवराज होने की अवस्था में उत्कीर्ण कराया था। उस पर ८० वाँ वर्ष अकित है। कर्दंवों ने कभी कोई अपना नया संवत् नहीं चलाया था। न तो उसी से पता चलता है कि यह ८० वाँ वर्ष किस संवत् का था और न उसके पहले या उसके बाद ही उस संवत् का कोई उल्लेख मिलता है। पृथिवीपेण ने कुंतल के राजा अर्थात् कर्दंव राजा पर विजय प्राप्त की थी और वह कर्दंव राजा कंग के सिवा और कोई नहीं हो सकता। स्वयं पृथिवीपेण भी उस समय समुद्रगुप्त के अधीन था और काकुस्थ ने अपनी एक कन्या का विवाह गुप्तों के साथ कर दिया था। अतः युवराज काकुस्थ ने जिस संवत् का व्यवहार किया था, वह अवश्य ही गुप्त संवत् होना चाहिए। सन् ४०० ई० (गुप्त संवत् ८०) में काकुस्थ अपने बड़े भाईं रघु का युवराज था। इस प्रकार उसके बृद्ध प्रपिता का समय सन् ३२०-३४० या ३२५-३४५ ई० रहा होगा। और जिस कंग ने सिंहासन का परित्याग किया था, उसका समय सन् ३४०—३५५ या ३४५—३६० ई० होगा। और काकुस्थ का समय सन् ४१०-४३० ई० के

थे और उसके राज-मुकुट पर उसके प्रांतीय सामंत चँवर करते थे”। कंग को बाकाटक राजा पृथिवीयेण प्रथम ने परास्त किया था और इस पर कंग ने अपने राज-सिंहासन का परित्याग कर दिया था^१। जान पड़ता है कि यह “कनक” शब्द तामिल “कंग” का ही संस्कृत रूप है। विष्णुपुराण में इस पैराणिक नाम का एक दूसरा रूप “कान” भी मिलता है^२। जान पड़ता है कि जो पृथिवी-येण उस समय समुद्रगुप्त का सामंत था, वह जब साम्राज्य का अधिकारी हुआ, तब उसने कंग को उपयुक्त दंड दिया था; और कंग को इसी लिये राज-सिंहासन का परित्याग

लगभग होगा। कर्दंब-कुल में मिं मोराएस (Mr Moraes) ने जो तिथियाँ दी हैं, वे लगभग २० वर्ष और पहले होनी चाहिएँ।

अभी हाल में चंद्रबल्ली (चीतलद्रुग) की झील के पास मिला हुआ मयूरशर्मन् का शिलालेख देखना चाहिए, जिस पर उसके संबंध में केवल कदंबानाम् (चिना किसी उपाधि के) लिखा है। Archaeological Survey Report, Mysore १९२६, पृ० ५० और उस शिलालेख का शुद्ध किया हुआ पाठ देखो आगे परिशिष्ट “ख” में। उस शिलालेख में कोई मोकरि, पारियात्रिक या शक नहीं है।

१. कर्दंब-कुल, पृ० १७।

२. विलसन द्वारा संपादित विष्णुपुराण, खंड ४, पृ० २२१ में हॉल (Hall) की लिखी टिप्पणी।

करना पड़ा था कि वह अपना साम्राज्य स्थापित करना चाहता था और अपने प्रयत्न में विफल हुआ था

§ १२८. कान अथवा कनक अर्थात् कंग के उदय का समय निश्चित करने में हमें पुराणों से सहायता मिलती पैराणिक उल्लेख का है। पहले हमें यह देखना चाहिए समय और कान अथवा कि वह कौन सा समय था, जब कि कनक का उदय पुराण इस अवसर पर गुप्तों और उनके सम-कालीनों का उल्लेख कर रहे थे। यह उनके काल-क्रमिक इतिहास का अंतिम विभाग है। उस समय तक मालव, आभीर, आवंत्य और शूर (यौधेय)^१ लोग साम्राज्य में अंतर्भुक्त नहीं हुए थे और उन्होंने साम्राज्य की अधीनता नहीं स्वीकृत की थी। भागवत में इनका उल्लेख स्वतंत्र राज्यों के रूप में हुआ है। वायुपुराण और ब्रह्मांडपुराण में इनका नाम समुद्रगुप्त के प्राची की सूची में नहीं है; और न इन पुराणों ने पंजाब को ही समुद्रगुप्त के साम्राज्य के अंतर्गत रखा है। उन्होंने आर्यावर्त में केवल गंगा की तराई, अब्ध और विहार को ही गुप्तों के अधिकार में बतलाया है। गुप्तों के संबंध में तो यह निश्चित ही है कि वे विंध्यशक्ति के सौ वर्ष बाद हुए थे, इसलिये पुराणों का काल-क्रमिक इतिहास सन् ३४८-३४८ पर पहुँचकर समाप्त होता है, और यह ठीक वही समय है जब कि रुद्रदेव अथवा

१. देखो आगे § १४६।

रुद्रसेन वाकाटक की मृत्यु हुई थी । जिस दंग से पुराणों में नागों का पूरा पूरा इतिहास दिया गया है और वाकाटक-साम्राज्य तथा उसके उत्तराधिकारी समुद्रगुप्त के साम्राज्य (जिसका विस्तार वाकाटक-साम्राज्य के ही विस्तार की तरह कोसला, मेकला, आंध्र, नैषध आदि तक था) का पूरा पूरा उल्लेख किया गया है, उससे सूचित होता है कि उन्होंने अपने काल-कभिक इतिहास का यह अंश, जो राजा रुद्रसेन की मृत्यु के साथ समाप्त होता है, वाकाटक राज्य में ही और वाकाटक राजकीय कागज-पत्रों की सहायता से ही प्रस्तुत किया था । रुद्रसेन की मृत्यु सन् ३४८—३४९ ई० में हुई थी और गुप्त-कालीन भारत के पौराणिक इतिहास का यही समय है; और इसी लिये स्वभावतः पुराणों में समुद्रगुप्त के साम्राज्य का पूरा पूरा चित्र नहीं दिया गया है और उनमें कहा गया है कि शक या यैन लोग उस समय तक सिंध, पश्चिमी पंजाब और अफगानिस्तान में राज्य कर रहे थे । इसलिये कंग के उदय का काल भी सन् ३४८—३४९ ई० के लगभग ही निश्चित होता है ।

§ १३०. आर्यवर्त्त में पहला युद्ध करने के उपरांत समुद्रगुप्त वस्तुतः वाकाटक-साम्राज्य पर ही अधिकार करने लगा समुद्रगुप्त और था । उसने अपना अभियान इस वाकाटक साम्राज्य प्रकार आरंभ किया था कि पहले तो वह विहार से चलकर छोटा नागपुर होता हुआ कोसल

की ओर गया था और तब वाकाटक-साम्राज्य के दक्षिण-पूर्वी भागों से होता हुआ वह फिर लौटकर आर्यावर्त में आ गया था । इस अवसर पर हम सुभीते से इस बात का पता लगा सकते हैं कि समुद्रगुप्त जब विजय करने निकला था, तब वह किन किन मार्गों से होकर आगे बढ़ा था । इसलिये इस अवसर पर हम प्रजातंत्रों और सिंध, काश्मीर तथा अफगानिस्तान के न्यौच्छ्र राज्यों का वर्णन क्षोड़ देते हैं और अगले प्रकरण में समुद्रगुप्त के युद्धों की मुख्य मुख्य बातें बतला देना चाहते हैं ।

१३. आर्यावर्त और दक्षिण में समुद्रगुप्त के युद्ध

§ १३१. इलाहाबादबाले शिलालेख के अनुसार आर्यावर्त में समुद्रगुप्त के युद्ध दो भागों में विभक्त थे । पहले भाग में तो वे युद्ध आते हैं जो दक्षिणी समुद्रगुप्त के तीन युद्ध भारत-बाले अभियान के पहले हुए थे और दूसरे भाग में वे युद्ध हैं जो उक्त अभियान के बाद हुए थे । इन्हों युद्धों के परिणाम-स्वरूप उस गुप्त-साम्राज्य की स्थापना हुई थी जिसका चित्र पुराणों में अंकित है । यह चित्र बहुत कुछ ठोक और चिलकुल पूरा पूरा है और इसमें साम्राज्य के तीनों प्रांतों का उल्लेख है (देखो § १२५); और साथ ही साम्राज्य के उस मुख्य भाग का भी उल्लेख है जिसमें अनु-गंगा-प्रयाग और मगध का प्रांत था ।

§ १३२. समुद्रगुप्त ने सबसे पहला काम तो यह किया था कि एक स्थान पर उसने जमकर युद्ध किया था जिसमें

कौशांबी का युद्ध द्वा अथवा कदाचित् तीन राजाओं
(अच्युत, नागसेन और गणपति नाग)

को परास्त किया था; और इसी युद्ध से उसके राजनीतिक सैभाग्य ने पलटा खाया था और उसके साम्राज्य की नींव पड़ी थी। इस युद्ध का तात्कालिक परिणाम यह हुआ था कि कोट-बंश के राजा को (जिसका नाम श्लोक में नहीं दिया गया है) उसके सैनिकों ने पकड़ लिया था और उसने फिर से पुष्पपुर में प्रवेश किया था। इलाहाबादवाले स्तंभ के अभिलेख की १३ वीं और १४ वीं पंक्तियों में उन श्लोक में इस घटना का इस प्रकार वर्णन किया गया है—

उद्वेलोदित-बाहु-वीर्य-रभसाद् एकेन येन क्षणाद् उन्मूल्य आच्युत नागसेन ग.....

दंडैरग्राहयत् एव कोट-कुलजम् पुष्प-आहुये कीडता सूर्यन.....तत.....।

ग के बाद के अन्तर मिट गए हैं, परंतु कदाचित् वह नाम गणपतिहोगा। क्योंकि अंत में जो “ग” बचा रह गया है, उसके विचार से भी और छंद के विचार से भी यही जान पड़ता है कि वह शब्द गणपति होगा। आगे चलकर २१ वीं पंक्ति में जो वर्गीकरण हुआ है और जो गद्य में है, उससे भी यही बात ठीक जान पड़ती है। उसमें

नागसेन-अच्युत-बाले वर्ग का गणपति नाग से आरंभ हुआ है । यथा—

गणपति-नाग-नागसेन-अच्युत-नंदी-बलवद्धी ।

इस वर्ग का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति गणपति नाग है । युद्ध का सबसे बड़ा परिणाम यह हुआ था कि पाटलिपुत्र पर समुद्रगुप्त का सहज में अधिकार हो गया था और कोट-वंश का राजा भी युद्ध में पकड़ा गया था । यह युद्ध मुख्यतः मगध पर फिर से अधिकार करने के लिये ही हुआ होगा । स्वयं समुद्रगुप्त ने कोट के वंशज को नहीं पकड़ा था, जो उस समय पाटलिपुत्र का शासक था । इसलिये हम यह मान सकते हैं कि एक सेना ने तो पाटलिपुत्र पर आक्रमण किया होगा अथवा ऐरा डाला होगा; और पाटलिपुत्र के अतिरिक्त किसी दूसरे स्थान पर अथवा पाटलिपुत्र से कुछ दूरी पर समुद्रगुप्त ने नागसेन और अच्युत के साथ और कदाचित् गणपति के साथ भी युद्ध किया होगा । अब हमें सिक्कों से भी और भाव-शतक से भी, जो गणपति नाग के शासन-काल में लिखा गया था (देखो ६३१) यह पता चलता है कि गणपति नाग मालवा का शासक (धारा-धीश) था और उसकी राजधानी पद्मावती में थी और कदाचित् एक दूसरी राजधानी धारा में भी थी । शिलालेख की २१वीं पंक्ति में अच्युत-नंदी का पूरा पूरा नाम आया है और अहिच्छव में अच्युत का सिक्का भी मिला है; और उस

सिक्के पर वही सब चिह्न हैं जो पद्मावती के नाग सिक्कों पर पाए जाते हैं और उसकी बनावट भी उन्होंने सिक्कों की सी है; और इससे यह जान पड़ता है कि वह नागों की ही एक शाखा में से था। नागसेन संभवतः मथुरा के कीर्तिषेण का पुत्र था^१ और मगध तथा पाटलिपुत्र के राजा कल्याणवर्मन् का श्वसुर था^२। इसी कल्याणवर्मन् ने पाटलिपुत्र के चंडसेन को अधिकार-न्युत करके उस पर अपना अधिकार स्थापित किया था और मथुरा के राजा के साथ इसका संबंध था; और इस प्रकार यह नाग-वाकाटकों के संघ में सम्मिलित था। और भाव-शतक से पता चलता है कि गणपति एक बहुत अच्छा योद्धा और नागों का नेता था; और इसलिये हमें बहुत कुछ संभावना इस बात की जान पड़ती है कि इसी गणपति को अधोनता या नेतृत्व में नागसेन और अन्युतनंदी ने समुद्रगुप्त के साथ जमकर युद्ध किया था। ये लोग पाटलिपुत्र-वालों की सहायता करने के लिये अपने अपने स्थान से चले होंगे।

१. इस नागसेन को पद्मावती के उस नागसेन से अलग समझना चाहिए जो नागवंश का था और विसका उल्लेख वाणि ने अपने हृष्ण-चरित में किया है; क्योंकि पद्मावतीवाले इस नागसेन की मृत्यु किसी युद्धेत्र में नहीं हुई थी, बल्कि एक राजनीतिक पड़यंत्र के कारण पद्मावती में ही इसकी मृत्यु हुई थी। इसका केवल सिक्का नहीं मिला है। जान पड़ता है कि यह गुप्तों का कोई अधीनस्थ सरदार था।

२. कौमुदी-महात्सव, अंक ४।

जिस स्थान पर अहिच्छवत्र, मथुरा और पद्मावती के राजा या शासक लोग सुभीते से एकत्र होकर समुद्रगुप्त के साथ युद्ध कर सकते थे, वह स्थान कौशांबी या इलाहाबाद हो सकता है; और बहुत कुछ संभावना इसी बात की जान पड़ती है कि यह युद्ध कौशांबी में हुआ होगा, क्योंकि पाटलिपुत्र के लिये पुराना राजमार्ग कौशांबी से ही होकर जाता था। कौशांबीवाले स्तंभ में इस विजय की जो खोबणा की गई है, उससे यही अभिप्राय प्रकट होता हुआ जान पड़ता है। प्रशस्ति इसी स्तंभ पर उत्कीर्ण होने का था, जैसा कि ३०वीं पंक्ति में स्पष्ट रूप से कहा गया है—

बाहुरयम् उच्छ्रुतः स्तम्भः ।

उक्त तीनों शासक या उप-राज युद्ध-चेत्र में एक ही दिन (चण्णात्) मारे गए थे ।

₹ १३३. यह युद्ध सन् ३५४-४५ ई० में या उसके

लगभग और बाकाटक सन्नाट् प्रबरसेन प्रथम की मृत्यु के दूसरा काम उपरांत तुरंत ही हुआ होगा । इस

युद्ध के कारण गंगा की तराई का बहुत बड़ा प्रदेश समुद्रगुप्त के अधिकार में आ गया था । अब तो पहले से ही उसके अधिकार में था और वहीं उसका केंद्र था । अब उसके राज्य का विस्तार पश्चिम में हरद्वार और शिवालिक तक और पूर्व में यदि बंगाल तक नहीं तो कम से कम इलाहाबाद से भागलपुर तक का प्रदेश अवश्य ही उसके

अधीन हो गया था; और पुराणों में जो यह कहा गया है कि पौँड्र पर भी उसका अधिकार हो गया था, उससे सूचित होता है कि संभवतः बंगाल भी उसके साम्राज्य में मिल गया था। कदाचित् यमुना की तराई को तो उसने उस समय के लिये छोड़ दिया था और मगध में उसने अपनी शक्ति का बहुत अच्छी तरह संघटन किया था; और तब वाकाटक साम्राज्य के दक्षिण-पूर्वी भाग पर आक्रमण करना निश्चित किया था। उस समय तक वाकाटकों का केंद्र किलकिला प्रदेश में ही था और उनके साम्राज्य का दक्षिण-पूर्वी भाग उस केंद्र से बहुत दूर पड़ता था। परंतु समुद्रगुप्त के लिये वह छोटा नागपुर से बहुत पास पड़ता था। जान पड़ता है कि वाकाटक लोग अपने को सल्ला-मेकला प्रांतों का शासन मध्य-प्रदेश में ही रहकर करते थे। यदि हम और सैनिक बातों तथा सुभीतों का ध्यान छोड़ भी दें, तो भी हम कह सकते हैं कि समुद्रगुप्त वाकाटक साम्राज्य के उक्त भाग में केवल गड़बड़ी ही नहीं पैदा कर सकता था, बल्कि कोसला, मेकला और आंध्र में वाकाटकों पर आक्रमण करके वाकाटक सम्राट् को बिलकुल लाचार भी कर सकता था। उन दिनों पल्लवों के हाथ में बहुत कुछ सुरक्षित और महस्त्वपूर्ण प्रदेश था और वे वाकाटकों की एक शाखा में से ही थे; और इस-लिये वे वाकाटक सम्राट् के अधीन भी थे और उससे मेल भी रखते थे। उससे पहले वाले वाकाटक सम्राट् ने जो

चार अश्वमेध यज्ञ किए थे, उनके कारण वाकाटकों का भारत की चारों दिशाओं में अधिकार हो गया था। परंतु समुद्र-गुप्त दक्षिणवालों को दबाने का उतना प्रयत्न नहीं करता था, जितना उन्हें शांत और संतुष्ट रखने का प्रयत्न करता था। वह वहाँ के शासकों को पकड़कर छोड़ दिया करता था; और केवल कोसला और मेकला को छोड़कर, जो वाकाटक साम्राज्य के अंतर्भुक्त अंग तथा प्रदेश थे, उसने दक्षिण के और किसी प्रदेश को अपने राज्य में नहीं मिलाया था। कलिंग में उसने अपना एक नया करद और सामंत राज्य स्थापित किया था और इसी लिये यह जान पड़ता है कि दक्षिण में उसका अधिकार बहुत जलदी जलदी बढ़ा होगा। साथ ही दक्षिणी भारत उसके लिये बहुत अधिक लाभदायक भी था। सारा उत्तरी भारत सोने से भर गया था और संभवतः यह सारा सोना दक्षिणी भारत से ही यहाँ आया था। समुद्रगुप्त सिर्फ सोने के ही सिक्के तैयार कराता था; और कुछ दिनों बाद अपने एक अश्वमेध यज्ञ के समय उसने सोने के इतने अधिक सिक्के तैयार कराए थे, जो खूब उदारतापूर्वक बांटे गए थे और इतने अधिक बांटे गए थे, जितने पहले कभी नहीं बांटे गए थे।

₹ १३४, यह बात नहीं मानी जा सकती कि इलाहाबाद-वाले शिलालेख में दक्षिणी भारत के राजाओं और सरदारों के जो नाम मिलते हैं, वे योही और विना किसी उद्देश्य के

सिर्फ मनमाने तैर पर गिना दिए गए थे। उसका लेखक हरियेणा था जो समुद्रगुप्त के सेनापतियों में से एक था,

जिसका सम्राट् के साथ बहुत ही दक्षिणी भारत की विजय घनिष्ठ संबंध था और जो शांति तथा युद्ध-विभाग का मंत्री था। उसके संबंध में यहो आशा की जाती है कि उसने अपने स्वामी की विजयों का विलकुल ठीक ठीक और पूरा पूरा लेखा हो रखा होगा। वह एक ऐसा इतिहास प्रस्तुत कर रहा था जो अशोक-स्तंभ पर सदा के लिये प्रकाशित किया जाने को था। उसने सारे भारत की विजयों आदि को दक्षिणी, उत्तरी, पश्चिमी और उत्तर-पश्चिमी इन चार भागों में विभक्त किया था और वह एक भौगोलिक योजना का विलकुल ठीक ठीक अनुसरण कर रहा था। उसमें जो अनेक नाम आए हैं, वे मनमाने तैर पर और बिना किसी कारण के नहीं रखे जा सकते थे। इसके सिवा हम यह भी समझ सकते हैं कि उसने जो लेख प्रस्तुत किया था, वह अवश्य ही सम्राट् को दिखलाकर उससे स्वीकृत भी करा लिया गया होगा; क्योंकि जिस समय वह लेख प्रकाशित हुआ था, उस समय सम्राट् जीवित था^१। कांचों, अवमुक्त, वंगी और पलकक एक विभाग में हैं। “पलककड़”

१. देखो ऊपर पृ० २६५ की पाद-टिप्पणी २, साथ ही देखो रा० ए० सो० के जरनल, सन् १८८८, पृ० ३८६ में बुह्लर की सम्मति जिससे मैं पूरी तरह से सहमत हूँ।

के रूप में पलकक का उल्लेख पश्चव अभिलेखों में कई स्थानों में मिलता है^१ जिनका संबंध गंटूर जिले के दानों से है; और साथ ही उन अभिलेखों में वेंग राष्ट्र का भी उल्लेख आया है जो समुद्रगुप्त का वेंगी हो है और जो गोदावरी तथा कृष्णा के बीच में था।

§ १३५, साधारणतः यही समझा जाता है कि समुद्रगुप्त ने दक्षिण की ओर जो अभियान किया था, वह दिग्बिजय करने के लिये किया था। पर वास्तव में यह बात नहीं है। वह तो बाकाटक शक्ति को दबाने के लिये एक सैनिक उद्योग था; और इसकी आवश्यकता इसलिये पड़ी थी कि समुद्रगुप्त ने आर्यावर्त में जो पहला युद्ध किया था, उसमें गणपति नाग, अच्युतनंदी और नागसेन मारे गए थे। बाकाटक शक्ति का दूसरा केंद्र आंध्र-देश में था और वहाँ की राजधानी दशनपुर^२ से बाकाटकों की छोटी शास्त्रा दक्षिण पर पलतव सम्राटों (पल्लवेंद्र)^३ के रूप में शासन करती थी। और

१. इ० ए०, खंड ५, पृ०, ५१-५२, १५५; साथ ही देखो एपि० इ०, खंड ८, पृ० १५८, (कठ का अर्थ होता है—स्थान। —पृ० १६१)

२. देखो एपि० इ०, १,२६७ जहाँ इसे अधिष्ठान या राजधानी कहा गया है। साथ ही देखो इ० ए० ५, १५४ में फलीट का लेख। परवर्ती शिलालेख में इसे फिर राजधानी (विजयदशनपुर) कहा गया है।

३. इनके लिये इनके गंग और कदंब दोनों ही वर्गों के सामंतों ने इसी उपाधि का प्रयोग किया है। एपि० इ० १४, ३३१ और ८, ३२।

यह शाखा तामिल प्रदेश के सबसे अधिक महत्वपूर्ण राज्य चोल की राजधानी कांची तक पहुँच गई थी जो सुदूर दक्षिण में था । दक्षिण पर आक्रमण करने का समुद्रगुप्त का एक-मात्र उद्देश्य यही था कि पल्लवों की सेना का पराभव किया जाय । वह सोचता था कि वाकाटकों के सैनिक नेताओं (गणपति नाग आदि) को जो मैंने उत्तरी भारत में युद्ध में मार डाला है, यदि उसका बदला चुकाने के लिये पल्लव लोग अपने सेनापतियों और सामंतों को लेकर दक्षिण की ओर से चढ़ाई करेंगे और इधर बुंदेलखण्ड से रुद्रसेन आकर विहार पर आक्रमण करेगा, तो मैं बीच में दोनों ओर से भारी विपक्षियों में फँस जाऊँगा । इसी बात को बचाने के लिये समुद्रगुप्त ने यह सोचा होगा कि पहले पल्लवों और उनके सहायकों आदि से ही एक एक करके निपट लेना चाहिए । वह बहुत तेज़ी से छोटा नागपुर, संभलपुर और बस्तर होता हुआ सीधा बैंगी जा पहुँचा जो पल्लवों का मूल केंद्र था और कोलायर झोल के किनारवाले युद्ध-चेत्र में जा डटा । यह बहुत पुराना रास्ता है जो सीधा आंध्र देश को जाता है । समुद्रगुप्त पूर्वी समुद्र-तटवाले मार्ग से नहीं गया था, क्योंकि उसके मंत्री हरिषेण ने दक्षिणी बंगाल और उड़ीसा के किसी नगर या कस्बे का उल्लेख नहीं किया है । इसी कोलायर झोल के किनारे फिर सातवीं शताब्दी में राजा पुलकेशिन् द्वितीय के समय में एक भीषण युद्ध हुआ

था^१ । समुद्रगुप्त के मंत्री और सेनापति हरिषेण ने अपनी सूची में जिन शासकों के नाम लिया था हैं, यदि उन पर हम विचार करें तो हमें तुरंत पता चल जाता है कि ये सब शासक और राजा लोग आधि तथा कलिंग प्रदेश के ही थे जो कुरालू वा कोलायर भील के आस-पास पड़ते थे । जान पड़ता है कि वे एक साथ मिलकर ही समुद्रगुप्त का सामना करने के लिये आए थे (देखो ६ १३५ क) और वहाँ वह अंतिम निपटारा करनेवाला युद्ध हुआ था^२ । उस समय समुद्रगुप्त ने कोई बहुत अच्छी सामरिक चाल चली होगी, क्योंकि पल्लवों के सभी नेता चारों ओर से समुद्रगुप्त की सेनाओं से घिर गए थे । उनका सारा संघटन छिन्न-भिन्न हो गया और उन सब लोगों ने आत्म-समर्पण कर दिया । समुद्रगुप्त ने उनके साथ कुछ शर्तें तैयार करके फिर उनको स्वतंत्र कर दिया । अब समुद्रगुप्त उस स्थान से, जो बेजबादा और राजमहेंद्री के बीच में था, लौट पड़ा । उसे कांची तक जाने की कोई आवश्यकता

१. एपिग्राफिया इंडिका, ६, पृ० ३ और ६ ।

२. यह सूची (पंक्ति १६) इस प्रकार है—(१) कौसलक माहेन्द्र; (२) महाकांतारक व्याघ्रराज; (३) कौरालक मण्डराज; (४) पिष्ठपुरक महेन्द्रगिरिक-कौदूरक स्वामिदत्त; (५) एरंड-पल्लक दमन; (६) कांचेयक विष्णुगोप; (७) आवमक्क क नीलराज; (८) वैगेयक हस्तिवर्मन; (९) पालक्क क उग्रसेन; (१०) दैवराष्ट्रक कुंवर; (११) कौस्थलपुरक धनंजय; प्रभृति सर्व-दलित्यापथ-राज; आदि आदि ।

नहीं थी और न उस समय उसे पूर्वी समुद्र-तट अथवा पश्चिमी समुद्र-तट के किसी दूसरे दक्षिणी राज्य से कोई मतलब था। पल्लव वर्ग के सब राजाओं को परास्त करके और उदारता तथा नीतिपूर्वक उन पर विजय प्राप्त करके और उन्हें वाकाटकों की अधीनता से निकालकर और उनसे अलग करके तुरंत ही जल्दी जल्दी चलकर विहार लौट आया। वहाँ से लौटने पर उसने रुद्रदेव पर चढ़ाई की। यह रुद्रदेव भी उसी प्रकार वीरतापूर्वक लड़ा था, जिस प्रकार वीरतापूर्वक उसके उत्तरी अधीनस्थों में से प्रत्येक राजा लड़ा था और अपने उन सहायकों के साथ वह युद्ध-चेत्र में मारा गया था। कदाचित् उसकी मृत्यु एरन के युद्ध-चेत्र में हुई थी (देखो ६ १३७) ।

६ १३५ क. अपने संभलपुरवाले मार्ग में समुद्रगुप्त को सल से होकर गया था और तब वह वहाँ से महाकांतार गया था; और महाभारत के आधार के लायर भौलवाला युद्ध पर हम पहले यह बतला चुके हैं कि यह वही प्रदेश था जो आजकल का काँकेर और बस्तर है। इसके उपरांत वह कुरालू पहुँचा था। वह अवश्य ही वेंगी से होता हुआ गया होगा;^१ परंतु वेंगी के शासक का नाम

१. गोदावरी जिले के एल्लौर नामक नगर के पास जो इसका स्थान-निर्देश हुआ है, उसके लिये देखो एपिग्राफिया इंडिका, संंद ६, पृ० ५६ ।

कलिंग की राजधानी पिष्ठपुर के शासक के बाद दिया गया है, और यह कलिंग गोदावरी जिले में था। पिष्ठपुर के इस शासक (स्वामिदत्त) के अधिकार में महेंद्र-गिरि और कोट्टर की पहाड़ी गढ़ियों के आस-पास दो और छोटे प्रदेश या जिले थे जो आज-कल के गंजाम जिले में थे। गंजाम जिले में ही कलिंगनगर (मुखलिंगम्) के पास ही कलिंग देश का एरंडपल्ली नामक कस्बा था जिसका उल्लेख देवेंद्रवर्मन-वाले उस ताम्रलेख में भी है जो चिकाकोल के निकट सिद्धांतम् नामक स्थान में पाया गया है (देखो एपि० ३०, खंड १३, पृ० २१२)। यह प्रदेश अबश्य ही पिष्ठपुर के स्वामिदत्त के अधीन रहा होगा और एरंडपल्ली का दमन एक "राजा" या उसी प्रकार का शासक रहा होगा, जिस प्रकार आजकल किसी जिले के अफसर या प्रधान अधिकारी हुआ करते हैं। इसी के बाद काँची के शासक विष्णुगोप का नाम आया है जो उस समय अपने बड़े भाई सिंहवर्मन प्रथम का युवराज था अथवा उसके पुत्र काँचीवाले सिंहवर्मन द्वितीय का अभिभावक था। एरंडपल्ली से काँची बहुत दूर पड़ती है। यदि हम यह मान लें कि काँची और एरंडपल्ली दोनों मिलकर एक ही थों और एक ही स्थान पर थों, तभी यह कथन संगत हो सकता है। इसके उपरांत आवमुक्त या अवमुक्त के शासक का नाम आया है। आव देश अथवा आव लोगों की राजधानी गोदावरी के पास पिठुंड

में थी। आब और पिठुँड का नाम हार्थीगुम्फावाले शिला-लेख में आया है। इसके उपरांत बेंगी के शासक का नाम आया है और इस बेंगी प्रदेश को समुद्रगुम्फ ने पहले ही महाकांतार से कुरालू की ओर जाते समय पार किया था। यदि यह मान लिया जाय कि समुद्रगुम्फ कांची गया था, तो वह रास्ते में बिना बेंगी के शासक का मुकाबला किए किसी तरह कांची पहुँच ही नहीं सकता था। और यह इस बात का एक और प्रमाण है कि ये सभी लड़नेवाले एक ही स्थान पर एकत्र हुए थे। जैसा कि अभी ऊपर बतलाया जा चुका है, पलकक वही स्थान है जहाँ से आरंभिक पल्लवों ने गंटूर जिले में और बेनवादा के आस-पास कई जमीनें दान की थीं। दानपत्रों में जो “पलककड़” शब्द आया है, वह इसी पलकक का दूसरा रूप है। यह नगर कृष्णा नदी के कहाँ पास ही आंध्रदेश में था। इसके बादवाले शासक के स्थान का नाम देवराष्ट्र आया है और इससे भी यही सिद्ध होता है कि वे सब राजा लोग एक ही स्थान पर एकत्र हुए थे। चालुक्य भीम प्रथम^१ के एक

१. एपि० ई०, २०, ७६, पंक्ति ११ और वि० उ० रि० सो० का जरनल, खंड १४, पृ० १५२।

२. Madras Report on Epigraphy, १८०६, १००-१०६।

ताम्रलेख के अनुसार यह देवराष्ट्र एतमंची कलिंग देश (आधुनिक येलतमंतिलती) का एक जिला (विषय) था; और इस चालुत्य भीम प्रवम का एक दूसरा ताम्रलेख बेजबादा में पाया गया था। इसी प्रकार कुत्थलपुर भी उसी प्रदेश का कोई जिला या विषय रहा होगा, यद्यपि इसका नाम अभी तक और किसी लेख आदि में नहाँ मिला है। कदाचित् कोसल और महाकांतार के शासकों को छोड़कर ये सभी सैनिक सरदार—स्वामिदत्त और विष्णुगोप सरोखे राजाओं से लेकर जिले के अधिकारियों तक जिन पर चढ़ दैड़ने का कष्ट कोई विजेता न उठावेगा—सब एक साथ ही लड़ने के लिये इकट्ठे हुए थे और सबने एक ही युद्धचेत्र में खड़े होकर युद्ध किया था। उक्त सूची में नामों का जो क्रम दिया गया है, वह या तो इस बात का सूचक है कि ये सब राजा और जिलों के अधिकारी युद्ध-चेत्र में किस क्रम से खड़े हुए थे और या इस बात का सूचक है कि उन्होंने किस क्रम से आत्म-समर्पण किया था। यहाँ उनका महत्व शासकों के रूप में नहाँ है, बल्कि योद्धाओं और सैनिक नेताओं के रूप में है। जान पड़ता है कि ये लोग दो मुख्य नेताओं की अधीनता में बैटे हुए थे। इनके नामों के आगे जो अंक दिए गए हैं, वे इलाहाबादबाजे शिलालेख में दिए हुए उनके क्रम के सूचक हैं। (देखो § १३५ पृ० २८८ में पाद-टिप्पणी २।)

१

२

- | | |
|-------------------------|--|
| (३) कुरालू का मण्टराज | और (६) कांची का विष्णुगोप
नेतृत्व करता था |
| (४) स्वामिदत्त | (७) अवमुक्त के नीलराज, |
| | (८) वैगी के हस्तिवर्भमन्, |
| (५) एरंडपल्ली के दमन का | (९) पलकक के उप्रसेन, |
| | (१०) देवराष्ट्र के कुबेर
और |
| | (११) कुम्थलपुर के धनंजय
का । |

मुख्य सेना विष्णुगोप के अधीन थी जिसके पाइवों में कलिंग सेनाएँ थीं। इस युद्ध को हम कुरालू का युद्ध कह सकते हैं। इस युद्ध के द्वारा समुद्रगुप्त ने बाकाटकों के कोसला, मेकला और आंध्र प्रांतों पर विजय प्राप्त की थी। समुद्रगुप्त लौटते समय भी उसी कोसलवाले मार्ग से ही आया था, क्योंकि हरिषंग ने और देशों का उल्लेख नहीं किया है। यह युद्ध कौशीवाले युद्ध (सन् ३४४ ई०) के कुछ ही दिन बाद हुआ होगा। यह युद्ध सन् ३४५-३४६ ई० के लगभग हुआ होगा। हम कह सकते हैं कि खारवेल की तरह समुद्रगुप्त ने भी औसत हर दूसरे वर्ष (सन् ३४४ से ३४८ ई० तक) युद्ध किए होंगे। वह वर्षां मृतु के उपरांत

पटने से चलता होगा और उसी वर्ष फिर लौटकर पटने आ जाता होगा ।

इ १३६, दक्षिणी भारत से लौटने पर समुद्रगुप्त ने बाकाटकों के असली केंद्र या उनके निवास के प्रांत पर आक्रमण किया था जो यमुना और विदिशा के दूसरा आर्यावर्त्त युद्ध था और जिसे आज-कल बुंदेलखंड कहते हैं । इस आर्यावर्त्त-युद्ध के कारण समुद्रगुप्त का (आर्यावर्त्त के) आटवी शासकों पर प्रभुत्व स्थापित हो गया था; अर्थात् बघेलखंड के विंध्य प्रांतों और पूर्वी बुंदेलखंड पर उसका राज्य हो गया था । इसलिये हम कह सकते हैं कि यह युद्ध आर्यावर्त्त के विंध्य प्रांतों अर्थात् बुंदेलखंड में उसके आस-पास हुआ था । पन्ना की पहाड़ियों में युद्ध करना एक मुश्किल काम है और सैनिक नेता साधारणतः ऐसे युद्धों से बचते हैं । बुंदेलखंड की दक्षिण-पश्चिमी सीमा पर भिलसा (विदिशा) (पूर्वी मालवा)

१. कौटिल्य (अ० १३०) ने कहा है कि साधारण सेना एक दिन में एक योजन (सात मील) सहज में और सुखपूर्वक चल सकती है; अच्छी सेना एक दिन में डेढ़ योजन और सबसे अच्छी सेना दो योजन तक चल सकती है । कनिष्ठम ने अच्छी तरह इस बात का पता लगा लिया है कि एक योजन सात मील का होता था । परंतु समुद्रगुप्त का अभियान अवश्य ही और भी अधिक द्रुत गति से हुआ होगा ।

प्रदेश पड़ता है । और पूर्वी मालवा की ओर से बुंदेलखण्ड में सहज में प्रवेश किया जा सकता है, क्योंकि गंगा की तराई से चलकर बेतबा या चंबल को पार करते हुए बुंदेलखण्ड में जाने के लिये पहले भी अच्छी और साफ सड़क थी और अब भी है । किलकिला-विदिशा के प्रांत पर समुद्रगुप्त ने उसी सम-तल प्रदेश से होकर आकर्मण किया होगा जो आज-कल अधिकांश में ग्वालियर राज्य में है और जिस रास्ते से मराठे हिंदुस्तान में आया करते थे । जान पड़ता है कि यह युद्ध एरन में हुआ था । हम जिन कारणों से इस परिणाम पर पहुँचे हैं, वे नीचे दिए जाते हैं ।

₹ १३७. समुद्रगुप्त ने अपने सृति-चिह्न उसी एरन नामक स्थान पर बनवाए थे, जो बाकाटकों के रहने के प्रदेश के

मध्य में पड़ता है; और इसी से हम एरन का युद्ध

यह बात निश्चयपूर्वक कह सकते हैं

कि वह विजय करता हुआ बाकाटक प्रदेश में पहुँचा था । इसके बादवाले बाकाटक राजा पृथिवीषेण प्रथम के शासन-काल में हम देखते हैं कि बुंदेलखण्ड उस समय तक बाकाटकों के अधिकार में था । एरन के ठीक दक्षिण में भी और पूर्व में भी कई प्रजातंत्र राज्य थे (देखो ₹ १४५) । एरन पर समुद्रगुप्त प्रत्यक्ष रूप से तो शासन करता ही नहों था, लेकिन फिर भी वहाँ उसने विष्णु का जो मंदिर बनवाया था, उससे कई बातों का पता चलता है । एरनवाले शिलालेख से पता

चलता है कि उस समय तक समुद्रगुप्त ने “महाराजाधिराज” की उपाधि नहीं प्रदण की थी और उसमें उसकी निश्चित वंशावली भी नहीं दी है। परंतु उसकी २१वीं से २६वीं पंक्ति में जो छठा और सातवाँ इत्तोक दिया गया है, उससे पता चलता है कि वहाँ पर समुद्रगुप्त ने एक सैनिक विजय के उपरांत युद्ध का वैसा ही स्मृति-चिह्न बनवाया था, जैसा आगे चलकर उसके पोते ने भीतरी नामक स्थान में बनवाया था। यह अभिलेख इलाहाबादवाले स्तंभ के अभिलेख से पहले का है। इस शिलालेख में “अंतक” शब्द पर खास जोर दिया गया है और कहा गया है कि सभी राजा (पार्थिवगणस् सकलः) पराजित हुए थे और राज्याधिकार से वंचित हो गए थे; और यह भी कहा गया है कि वहाँ राजा समुद्रगुप्त का “अभिषेक” हुआ था। उसमें समुद्रगुप्त का इस प्रकार वर्णन किया गया है कि उसकी शक्ति का कोई सामना नहीं कर सकता था—वह “अप्रतिबार्यवीर्यः” हो गया था; और उसकी यही उपाधि आगे चलकर उसके सिक्कों पर अंकित होने लगी थी। २१वीं पंक्ति में उसकी सैनिक योग्यता का विशेष रूप से वर्णन किया गया है और कहा गया है कि उसके शत्रु निद्रित रहने की अवस्था में भी मारे भय के चौंक उठते थे। अपनी कीर्ति के चिह्न-स्वरूप उसने एक शिलान्यास किया था (पंक्ति २६); और जान पड़ता है कि यह उसी विष्णु के मंदिर का शिलान्यास होगा, जो

अभी तक वर्तमान है। उस मंदिर में स्तंभों और कारनिस के मध्यवाले स्थान में अंत्येष्टि किया का एक चित्र अंकित है; और मंदिरों में साधारणतः ऐसे चित्र नहीं अंकित हुआ करते। जान पड़ता है कि यह उस समय का हश्य है, जब कि बाकाटक राजा पराजित होकर युद्ध-चेत्र में निहत हुआ था और उसका शब-दाह हुआ था। उसी दिन से वह नगर प्रत्यक्ष रूप से गुप्त सम्राट् के अधिकार में आ गया था और उसकी व्यक्तिगत संपत्ति बन गया था, क्योंकि उसे “स्वभोग-नगर” कहा गया है और इसका यही अभिप्राय होता है।

§ १३८. एरन एक ओर तो बुंदेलखण्ड के प्रवेश-द्वार पर और दूसरी ओर मालवा के प्रवेश-द्वार पर स्थित है।

एरन एक प्राकृतिक पूर्वी मालवा भी और परिचमी मालवा युद्ध-चेत्र था भी, तात्पर्य यह कि सारा मालवा, प्रजातंत्रों के अधिकार में था, जिन्होंने बिना लड़े-भिड़े ही समुद्रगुप्त के हाथ आत्म-समर्पण कर दिया था। यह स्थान पहले से ही सैनिक कार्यों के लिये बहुत महत्व का था; और यहाँ एक प्राचीन गढ़ भी था और इसके आगे एक बहुत बड़ा मैदान था। मानों प्रकृति ने पहले से ही यहाँ एक बहुत अच्छा युद्ध-चेत्र बना रखा था। जान पड़ता है कि

१. आरक्षियालोनिकल सर्वे रिपोर्ट, खंड १०, पृ० ८५।

इसी स्थान पर समुद्रगुप्त ने बाकाटक राजा के साथ युद्ध किया था । परवर्ती गुप्त काल में भी यहाँ एक और युद्ध हुआ था; क्योंकि यहाँ एक गुप्त सेनापति (गोपराज) का एक और स्मृति-चिह्न मिलता है, जिसने हण्डों के समय यहाँ लड़कर अपने प्राण दिए थे और यहाँ उसकी पतित्रता पत्ती ने पूर्ण रूप से सहगमन करके उसकी चिता पर आरोहण किया था ।

§ १३८. रुद्रदेव युद्धचेत्र में समुद्रगुप्त से परास्त हुआ था और मारा गया था । समुद्रगुप्त के शिलालेख में जितने राजाओं के नाम आए हैं, उनमें एक रुद्रदेव यह रुद्र ही ऐसा राजा है जिसके नाम के अंत में “देव” शब्द मिलता है; और हम यह मान सकते हैं कि रुद्र के नाम के साथ यह “देव” शब्द जान-बूझकर जोड़ा गया था । उस समय रुद्रसेन भारत में सबसे बड़ा राजा था और वह अपने उस प्र-पिता का उत्तराधिकारी हुआ था जो सारे भारतवर्ष का एक वास्तविक सम्राट् रह चुका था । रुद्रसेन के नाम के अंत में जो ‘सेन’ शब्द है, वह वास्तव में नाम का कोई अंश नहीं है । जैसा कि हम ऊपर बतला चुके हैं, वह “सेन” शब्द कभी तो नाम के अंत में जोड़ दिया जाता था और कभी छोड़ दिया जाता था ।

उदाहरण के लिये हम नेपाल के शिलालेख ले सकते हैं जिनमें लिच्छवी राजा वसंतसेन का नाम कहो तो वसंतसेन दिया है और कहो वसंतदेव दिया है। “देव” शब्द अधिक महत्त्वसूचक है और इससे पूर्ण राजकीय पद का ओघ होता है। ऊपर हमने जो बंशावली दी है, उसमें कहा गया है कि रुद्रदेव ने मन् ३४४ ई० में राज्यारोहण किया था; और समुद्रगुप्त की विजयों के संबंध में सभी लोगों का यह एक मत है कि वे सन् ३४५ ई० से ३५० ई० तक हुई थीं। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि शिलालेखवाला रुद्रदेव वही रुद्रसेन प्रथम ही है (देखो ६४) ।

॥ १४०. आर्यावर्त के जो राजा
आर्यावर्त के राजा समुद्रगुप्त से परास्त हुए थे, उनकी
नामावली इस प्रकार है—

रुद्रदेव, मतिल, नागदत्त, चंद्रवर्मन्, गणपति-नाग, नाग-
सेन, अच्युतनंदी और बलवर्मन् ।

यह सूची दो भागों में विभक्त हो सकती है। (१) इनमें से पहले भाग में गणपति नाग से बलवर्मन् तक उन राजाओं के नाम हैं जो पहले आर्यावर्त युद्ध में परास्त हुए थे। इनमें से पहले तीन राजा तो कौशांबी में मारे गए थे और अंतिम राजा बलवर्मन् उस समय पाटलिपुत्र का शासक रहा

होगा, जिस समय समुद्रगुप्त की सेना ने उस पर अधिकार किया था और जिसका उल्लेख सातवें श्लोक में बिना नाम के ही हुआ है। यदि यही बात हो तो हम कह सकते हैं कि कल्याण-वर्मन का ही दूसरा या अभियेक-नाम बलवर्मन रहा होगा। और इसी लिये हम यह भी कह सकते हैं कि दूसरे वर्ग या विभाग में उन राजाओं और शासकों के नाम हैं, जो दूसरे युद्ध में परास्त हुए थे अथवा दूसरे युद्ध के बाद भी कुछ दिनों तक जो और छोटे-मोटे युद्ध होते रहे होंगे, उन्होंने में वे परास्त हुए होंगे। इनमें से नागदत्त वही हो सकता है जो महाराज महेश्वर नाग का पिता था। यह महेश्वर एक नाग उप-राज था जिसकी एक मोहर लाहौर में पाई गई थी। उस मोहर पर एक नाग या सर्प का लांचन अथवा चिह्न अंकित है और फ्लीट ने अपने Gupta Inscriptions में इनका संपादन किया है। इस पर की लिपि से पता चलता है कि यह मोहर ईसवी चौथी शताब्दी की है (Gupta Inscriptions, पृ० २८३)। मतिल तुलन्दशहर जिले में शासन करता था जहाँ एक

१. इस बात की बहुत कुछ संभावना जान पड़ती है कि इसके कुछ ही दिन बाद समुद्रगुप्त का मधुरा के पश्चिम शुभ्र देश में और वहाँ से जालंधर तक एक दूसरा अभियान भी हुआ था।

दूसरे नाम लांक्षन से युक्त उसकी मोहर मिली है। हम यह नहीं जानते कि समुद्रगुप्त के शिलालेख में जिस चंद्रवर्मन् का उल्लेख है, वह कौन है? परंतु हम इतना अवश्य जानते हैं कि सन् २५० ई० के लगभग जालंधर द्वाराबाद के सिंहपुर नामक स्थान में सामंतों का एक यादव-वंश अवश्य स्थापित हुआ था (देखो ६६ ७८ और ८०)। यह वंश अवश्य ही वाकाटकों का सामंत रहा होगा। उनके नामों के अंत में “वर्मन्” शब्द रहता था। यद्यपि सिंहपुर के शासकों की सूची में हमें “चंद्रवर्मन्” नाम नहीं मिलता, परंतु किर भी यह संभव है कि वह कोई नवयुवक वीर रहा होगा और रुद्रसेन की ओर से लड़ने के लिये युद्धचेत्र में आया होगा। अथवा यह चंद्रवर्मन् उसी वंश के राजा का दूसरा

१. इंडियन एंटीक्वरी, लंड १८, पृ० २८८। यह नाम शंखपाल का चिह्न है। इसमें एक शंख और एक सर्प है। सर्प की आकृति गोल है और उसके शरीर से आमा निकल रही है। दुर्गादेवी के एक ध्यान में शंखपाल का इस प्रकार वर्णन मिलता है—दाहोत्तीर्णसुवर्णामा। यह शंखपाल देवी के हाथों में कंकण के रूप में रहता है।

२. विसेंट स्मिथ ने एक बार कहा था कि समुद्रगुप्त के शिलालेख-वाला चंद्रवर्मन् सुसनियावाले शिलालेख (रा० ए० से० का जरनल, १८८७, पृ० ८३६) वाला चंद्रवर्मन् ही है। परंतु सुसनियावाले शिलालेख की लिपि (एपि० ई०, लंड १३, पृ० १३३) बहुत परवर्ती काल की है।

नाम भी हो सकता है। छठा राजा जो समुद्रगुप्त का सम-
कालीन रहा होगा और जिसका नाम चंद्रवर्मन् दिया
गया है, उसका उल्लेख लक्खा-मंडलवाले शिलालेख (एपि.
ई०, खंड १, पृ० १३ के सातवें इलाक) में “चंद्र” के नाम
से मिलता है। चंद्रवर्मन् इलाहाबादवाले शिलालेख के
अनुसार नागदत्त का पड़ोसी था और यह मशुरा से और
आगे के प्रदेश का शासक रहा होगा, जिसके उत्तराधिकारी
की मोहर लाहौर में पाई गई है। अहिच्छव और मशुरा
के बीच में नागदत्त के लिये कोई स्थान नहीं हो सकता।
जो वर्गीकरण—रुद्रदेव-मतिल-नागदत्त-चंद्रवर्मन्—किया गया
है वह भौगोलिक कम से है। रुद्रदेव के राज्य के ठीक बाद
मतिल का राज्य पड़ता था और नागदत्त का राज्य उससे
और आगे पश्चिम में था। और चंद्रवर्मन् का राज्य तो
उससे भी आगे पूर्वी पंजाब में था।

§ १४० क. अब प्रश्न यह है कि क्या ये तीनों शासक
एक ही युद्ध में रुद्रदेव की ओर से लड़े थे या अलग अलग
लड़े थे। नागदत्त और चंद्रवर्मन् कभी रुद्रसेन के पड़ोस
में तो थे ही नहीं, ही भारतीय इतिहास से हमें इस बात
का पता अवश्य लगता है कि राजा और उनके साथी लोग
बहुत दूर दूर से चलकर युद्ध करने के लिये जाते थे। अतः,
जैसी कि हम आशा कर सकते हैं, यदि हम यह समझें कि
ये तीनों सामंत एक ही युद्ध में रुद्रदेव के साथ मिलकर

और उसकी ओर से लड़े थे, तो यह कोई बहुत बड़ी या असंभव बात नहीं है । यह अवश्य ही समुद्रगुप्त का सबसे बड़ा युद्ध रहा होगा, क्योंकि उसने लिखा है कि इन राजाओं के साथ होनेवाले इस युद्ध के उपरांत समस्त आटविक राजा मेरे सेवक हो गए थे । और इसका अर्थ यही होता है कि बुद्धेलखंड और वधेलखंड के सभी शासक इस युद्ध में सम्मिलित हुए थे; और जब गुप्त सम्राट् का पतन हो गया, तब उन लोगों ने समुद्रगुप्त की अधीनता स्वीकृत कर ली । परंतु दोनों पश्चिमी राजाओं या शासकों के संबंध में अधिक संभावना इसी बात की जान पड़ती है कि उनके साथ बाद में मशुरा के पश्चिम में एक दूसरा ही युद्ध हुआ था । पुराणों (वायु पुराण और ऋष्टांड पुराण) में रुद्रसेन की मृत्यु के समय के समुद्रगुप्त के साम्राज्य का जो वर्णन दिया गया है (देखो § १२८), उसमें पंजाब का नाम नहीं आया है; और इससे भी यही सूचित होता है कि पश्चिमी भारत में एक दूसरा युद्ध हुआ था । और इस प्रकार बहुत कुछ संभावना इसी बात की जान पड़ती है कि साल दो साल बाद आर्यावर्च में एक तीसरा युद्ध भी हुआ था ।

§ १४१. वाकाटक साम्राज्य पर समुद्रगुप्त ने जो दूसरा बड़ाई की थी, वह वास्तव में प्रथम आर्यावर्च-युद्ध का क्रमागत अंश ही था । ये तीनों बड़े युद्ध वास्तव में एक ऐसे बड़े युद्ध के अंश थे जो कुछ दिनों तक चलता रहा था । इसलिये

यह सारा सैनिक कार्य बहुत जलदी जलदी किया गया होगा ! इसमें समुद्रगुप्त की ओर से जो सैन्य-संचालन हुआ आर्यावर्च्च-युद्धों का समय था, वह इतना पूर्ण था कि उसमें समुद्र-गुप्त को कभी कहाँ पराजित नहों होना पड़ा था और न कहाँ रुकना ही पड़ा था; इसलिये ये सारी लड़ाइयाँ तीन ही वर्षों के सैन्य-संचालन-काल [उन दिनों युद्ध अक्तूबर (विजया दशमी) से आरंभ होकर अप्रैल तक ही होते थे] में समाप्त हो गई होंगी । ऊपर हमने जो काल-क्रम निश्चित किया है, उसे देखते हुए यह कहा जा सकता है कि पहला आर्यावर्च्च-युद्ध सन् ३४४-३४५ ई० में हुआ होगा, दूसरा सन् ३४८ ई० में या उसके लगभग और तीसरा सन् ३४८ या ३५० ई० में हुआ होगा ।

१४. सीमा प्रांत के शासकों और हिंदू प्रजातंत्रों का अधीनता स्वीकृत करना, उनका पौरा-णिक वर्णन और द्वीपस्थ भारत का अधीनता स्वीकृत करना

₹ १४२. जब तीसरा आर्यावर्च्च-युद्ध समाप्त हो गया और नागदत्त तथा चंद्रवर्मन् का पतन हो गया, तब समुद्र-सीमा प्रांत के राज्य गुप्त का युद्ध-काल भी समाप्त हो गया । यह बात इलाहाबादवाले शिलालेख (पं० २२) में साफ तौर पर लिखी हुई है । सीमा प्रांत में केवल पाँच मुख्य राज्य थे और वे सभी उसके साम्राज्य के

धन्तर्गत आ गए थे । (१) समतट, (२) डवाक, (३) कामरूप, (४) नेपाल और (५) कर्तुंपुर ने साम्राज्य के सभी कर चुका दिए थे और इन सब राज्यों के राजा स्वयं आकर समुद्रगुप्त की सेवा में उपस्थित हुए थे । सीमा प्रांत के इन राजाओं के राज्य गंगा नदी के मुहाने से आरंभ होते हैं और लुशाई-मणिपुर-आसाम^१ से होते हुए बराबर हिमालय पर्वत तक पहुँचते हैं; और इस बीच में वे सभी प्रदेश आजाते हैं जिन्हें हम लोग आजकल भूटान, सिकम और नेपाल कहते हैं, और तब वहाँ से होते हुए शिमले की पहाड़ियों और काँगड़े (कर्तुंपुर) तक अर्थात् बंगाल के उत्तर में पड़नेवाली पहाड़ियों (पौड़), संयुक्त प्रांत और पूर्वी पंजाब (माद्रक देश) तक इनका विस्तार जा पहुँचता है । समुद्रगुप्त के साम्राज्य में जो कर्तुंपुर भी सम्मिलित हो गया था, उसका अर्थ यही है कि तीसरे आर्यावर्त-युद्ध के परिणामस्वरूप पूर्वी पंजाब भी उसके साम्राज्य में सम्मिलित हो गया था । कदाचित् भागवत पुराण से भी यही आशय निकाला जा सकता है; क्योंकि उसमें स्वतंत्र प्रजातंत्री राज्यों की जो

१. इलाहाबादवाले स्तंभ का शिलालेख, पंक्ति २२, Gupta Inscriptions, पृ० ८ ।

२. कर्नल गेरिनी द्वारा संपादित Ptolemy (१० ५५-६१) में कहा गया है कि उन दिनों उत्तरी बरमा को डवाक कहते थे ।

सूची दी है, उसमें मद्रक राज्य का नाम नहों है (देखो § १४६) । इसके बादवाले शासन-काल में हम देखते हैं कि गुप्त संवत् ८३ (सन् ४०३ ई०) में गुप्त संवत् का प्रचार शोरकोट (पुराना शिवपुर) तक हो गया था, जो चनाब नदी के पूर्वी तट के पास था^१ । नेपाल का नया लिच्छवी राजा जयदेव प्रथम समुद्रगुप्त का रिश्तेदार होता था; और उसके अधीनता स्वीकृत करने का यह अर्थ होता है कि भारतवर्ष की ओर हिमालय में जितने राज्य थे, उन सबने अधीनता स्वीकृत कर ली थी । नेपाल में जयदेव प्रथम के शासन-काल में गुप्त संवत् का प्रचार हुआ था^२ । जान पड़ता है कि जयदेव प्रथम के साथ संबंध होने के कारण ही उसके पार्वत्य प्रदेश पर चढ़ाई नहों की गई थी । यह भी जान पड़ता है कि आगे चलकर समुद्रगुप्त ने समतट को भी अपने चंपावाले प्रांत में मिला लिया था, क्योंकि इससे उसके साम्राज्य की प्राकृतिक सीमा समुद्र तक जा पहुँचती थी, और उड़ोसा तथा कलिंग का शासन करने के लिये और द्वीपस्थ भारत के साथ समुद्री व्यापार की व्यवस्था करने के लिये (देखो § १५०) यह आवश्यक था कि समुद्र तक सहज में पहुँच हो सके ।

१. एपिग्राफिया इंडिका, खंड १६, पृ० १५ ।

२. फ्लीट कृत Gupta Inscriptions को प्रस्तावना, पृ० १३५ । इंडियन एंटीक्वरी, लंड १४, पृ० ३४५ (३५०) ।

§ १४३. हमें यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि समुद्रगुप्त का साम्राज्य काँगड़े तक ही था और उसमें काश्मीर तथा दैव- काश्मीर तथा उसके नीचे का समतल पुनर्वर्ग और उनका मैदान सम्मिलित नहीं था। यह बात अधीनता स्वीकृत करना भागवत से स्पष्ट हो जाती है, जिसका मूल पाठ उस समय से पहले हो पूरा तैयार हो चुका था, जब कि दैवपुत्र वर्ग ने अधीनता स्वीकृत की थी। भागवत में इस वर्ग के संबंध में कहा गया है कि यह दमन किए जाने के योग्य है। इलाहाबादवाले शिलालेख की २३वीं पंक्ति में कहा गया है कि समुद्रगुप्त की प्रशांत कीर्ति सारे देश में फैल गई थी; और यह भी कहा गया है कि उसने ऐसे अनेक राजवंशों को फिर से राज्य प्रदान किया था, जिनका पतन हो चुका था और जो राज्याधिकार से वंचित हो चुके थे। और इस शांतिवाली नीति का तुरंत ही यह परिणाम भी बतलाया गया है कि दैवपुत्र शाही-शाहानुशाही शक-मुरुंडों ने भी अधीनता स्वीकृत कर ली थी; और इस प्रकार उत्तर-पश्चिमी प्रदेश और काश्मीर भी साम्राज्य के अंतर्गत आ गया था। यह वही राज्य था जिसे भागवत और विष्णुपुराण में म्लेच्छ-राज्य कहा गया है। शाहानुशाही ने स्वयं समुद्रगुप्त की सेवा में उपस्थित होकर अधीनता स्वीकृत की थी; क्योंकि इलाहाबादवाले शिलालेख में यह बतलाया गया है कि दैवपुत्र वर्ग ने और दूसरे राजाओं

ने किस रूप में अधीनता स्वीकृत की थी; और जिस क्रम से अधीनता स्वीकृत करनेवालों के नाम गिनाए गए हैं, उससे सिद्ध होता है कि शाहानुशाही ने स्वयं ही समुद्रगुप्त की सेवा में उपस्थित होकर अधीनता स्वीकृत की थी। इस वर्ग में सबसे पहला नाम दैवपुत्र शाही-शाहानुशाही का ही है। इनमें से दैवपुत्र और शाही ये दोनों ही शब्द शाहानुशाही के विशेषण हैं और इन विशेषणों की आवश्यकता कदाचित् यह दिखलाने के लिये हुई होगी कि यह शाहानुशाही कुशन समाट् है और वह सासानी सम्राट् नहीं है जो उस समय गुप्त साम्राज्य का बिलकुल पड़ोसी था। अधीनता स्वीकृत करने का पहला प्रकार तो स्वयं सेवा में उपस्थित होना था जिसे “आत्म-निवेदन” कहते थे; और दूसरे प्रकार में दो बातें होती थीं। या तो अविवाहिता स्त्रियाँ सेवा में भेट-स्वरूप भेजी जाती थीं जिसे “उपायन” कहते थे और या अपनी कन्याओं का विवाह उस राजा या सम्राट् के साथ कर दिया जाता था जिसकी अधीनता स्वीकृत की जाती थी और इसे “कन्या-दान” कहते थे। अधीनता स्वीकृत करने का तीसरा प्रकार “याचना” कहलाता था और इसमें दो बातें होती थीं। इस याचना में यह कहा जाता था कि हमें अपने राज्य में गरुड़ध्वजवाले सिक्के प्रचलित करने की आज्ञा दी जाय; अथवा हमें अपने देश में शासन करने का अधिकार दिया जाय। इसे “गरु-

त्मदंक-स्व-विषय-भुक्ति-शासन-याचना” कहते थे । इसी के द्वा विभाग थे । एक में तो गरुड़ध्वजवाले सिक्कों (गरुदम-दंक-भुक्ति) का व्यवहार करने की प्रार्थना (शासन-याचना) की जाती थी; और दूसरा रूप यह था कि अपने राज्य के शासन (स्व-विषय-भुक्ति) के अधिकार की याचना की जाती थी । पश्चिमी पंजाब के कुशन अधीनस्थ राजाओं के पालद अथवा शालद और शाक सिक्कों से हमें पता चलता है कि उन राजाओं ने अपने यहाँ गुप्त सिक्के प्रचलित कर दिए थे^१ । वे अपने सिक्कों पर समुद्रगुप्त की मूर्त्ति और नाम अंकित करते थे; और यह प्रथा चंद्रगुप्त द्वितीय के शासन-काल तक प्रचलित थी; क्योंकि हम देखते हैं कि उस समय तक कुशन राजाओं के सिक्कों पर उसकी मूर्त्ति और नाम अंकित होता था । इन गुप्त राजाओं की पहचान के संबंध में कोई संदेह नहीं हो सकता; क्योंकि उन सिक्कों पर राजाओं की जो मूर्त्तियाँ दी गई हैं, उनमें वे कुण्डल पहने हुए हैं; और कुशन राजा लोग कभी कुण्डलों का व्यवहार नहीं करते थे । मुद्राशास्त्र के ज्ञाता पहले ही कह चुके हैं कि ये सिक्के गुप्त-सिक्कों से मिलते-जुलते हैं^२ । कन्यादान (दान और उपायन में बहुत बड़ा अंतर है) शब्द का

१. वि० उ० रि० सो० का जरनल, खंड १८, पृ० २०८-२०९ ।

२. उक्त जरनल, खंड १८, पृ० २०८-२०९ ।

प्रयोग कुशन सम्राट् के लिये हो किया गया है, क्योंकि उन दिनों यह प्रथा थी, बल्कि यों कहना चाहिए कि नियम ही था कि जब कोई बहुत बड़ा प्रतिद्वंद्वी शासक अपने विजेता के सामने सिर झुकाता था, तब वह उसके साथ अपनी कन्या का विवाह कर देता था ।

§ १४४. उस समय सासानी सम्राट् शापुर द्वितीय (सन् ३१०-३७८ई०) था जो कुशन राजा का स्वामी सासानी सम्राट् और था । उस समय कुशन लोग अफगान्कुशनों का अधीनता निस्तान से “कुशनी-सासानी” सिक्के स्वीकृत करना ढालकर प्रचलित किया करते थे, जो “शशीननो शशो” कहलाते थे^१ । कुशन राजा को सासानी सम्राट् का जो संरक्षण प्राप्त था और उसके साथ उसका जो विनिष्ठ संबंध था, उसके कारण कुशनों के भारतीय प्रदेशों का (जो सिंधु-नद के पूर्व में पड़ते थे) गुप्त सम्राट् द्वारा अपने साम्राज्य में मिला लिए जाने में किसी प्रकार की वाधा नहीं हो सकती थी । काश्मीर, रावलपिंडी और पेशावर तक कुशन अधीनस्थ राजा लोग गुप्त साम्राज्य के सिक्के अपने यहाँ प्रचलित करके भारतीय साम्राज्य में आ मिले थे । कुशन शाहानुशाही ने जो आत्म-निवेदन किया

१. विसेट स्मिथ इत Catalogue of Coins in the Indian Museum. पृ० ६१ ।

था, उसके कारण समुद्रगुप्त को उस पर आकरण करने का विचार छोड़ देना पड़ा था । परंतु शत्रु ऐसी अवस्था में छोड़ दिया गया था कि वह भारी उत्पात खड़ा कर सकता था; क्योंकि आगे चलकर हम देखते हैं कि समुद्रगुप्त की मृत्यु के थोड़े ही दिन बाद शकाधिपति ने विद्रोह खड़ा कर दिया था; और यह विद्रोह संभवतः सासानी सम्राट् शापुर द्वितीय की सहायता से खड़ा किया गया था । समुद्रगुप्त के समय में जो कुशन-राजकुमारी भेंट करने का कलंक कुशनों को अपने सिर लेना पड़ा था, उसका बदला चुकाने के लिये अब गुप्तों से कहा गया था कि तुम ध्रुवदेवी को हमारे संपुर्द कर दो; और इसी के परिणाम-स्वरूप चंद्रगुप्त द्वितीय को बल्क तक चढ़ जाने की आवश्यकता हुई थी, जिससे कुशन-राजा और कुशन-शक्ति का सदा के लिये पूरा पूरा नाश हो गया था; और यह बल्क कुशनों का सबसे दूर का निवास-स्थान और केंद्र था ।

₹ १४५. मालवों, आर्युनायनों, यौधेयों, माद्रकों, आभीरों, प्रार्जुनों, सहसानीकों, काकों, खर्षिरिकों तथा अन्यान्य समाजों के प्रजातंत्रों के संबंध प्रजातंत्र और समुद्रगुप्त में डॉ विसेंट स्मिथ का यह विचार था कि ये सब प्रजातंत्र समुद्रगुप्त के साम्राज्य की सीमाओं

१. विं० उ० रि० से० का जरनल, खंड १८, पृ० २६ और उससे आगे ।

पर थे । परंतु उनका यह मत भ्रमपूर्ण था और ये प्रजातंत्र समुद्रगुप्त के साम्राज्य की सीमाओं पर नहीं थे, क्योंकि पंक्ति २२ (इलाहाबादवाले स्तम्भ का शिला-लेख) में, जहाँ सीमाओं पर के राजाओं का उल्लेख है, वहाँ स्पष्ट रूप से उक्त प्रजातंत्र इस वर्ग से अलग रखे गए हैं । ये सब साम्राज्य के अंतर्भुक्त राज्य थे और साम्राज्य के सब प्रकार के कर देने और उसकी समस्त आज्ञाओं का पालन करने का वचन देकर ये सब प्रजातंत्र गुप्त-साम्राज्य के अंग बन गए थे और उसके अंदर आ गए थे । अधीनस्थ और करद प्रजातंत्रों के जो नाम गिनाए गए हैं, उनमें उनकी भौगोलिक स्थिति का ध्यान रखा गया है और उसमें भौगोलिक योजना देखने में आती है । गुप्तों के प्रत्यक्ष राज्य-क्षेत्र अर्थात् मशुरा से आरंभ करके मालवों, आर्युनायनों, यौधेयों और माद्रकों के नाम गिनाए गए हैं । इनमें से पहला राज्य मालव है । नागर या कक्कीट-नागर नामक स्थान, जो आज-कल के जयपुर राज्य में स्थित है, उन दिनों मालवों का केंद्र था और वहाँ उनकी राजधानी थी, जहाँ मालवों के हजारों प्रजातंत्र सिक्के पाए गए हैं (देखो § ४२-४६); और उनके संबंध में कहा गया है कि वे सिक्के वहाँ उतनी ही अधिकता से पाए गए थे जितनी अधिकता से “समुद्र-तट पर घोंथे पाए जाते हैं ।” भागवत में इन लोगों को अर्दुद-मालव कहा गया है और विष्णु

पुराण में उनका स्थान राजपूताने (मरुभूमि) में बतलाया गया है । इस प्रकार यह बात निश्चित है कि वे लोग राजपूताने में आबू पर्वत से लेकर जयपुर तक रहते थे । उस प्रदेश को जो 'मारवाड़' कहते हैं, वह जान पड़ता है कि इन्हों मालवों के निवास-स्थान होने के कारण कहते हैं । इसके दक्षिण में नागों का प्रदेश था और मालवों के सिक्के नाग-सिक्कों से बहुत मिलते-जुलते हैं । इसके ठीक उत्तर में योधेर लोग थे और उनका विस्तार भरतपुर (जहाँ विजयगढ़ मामक स्थान में समुद्रगुप्त के समय से भी पहले का एक प्रजातंत्री शिलालेख पाया गया है) से लेकर सतलज नदी के ठेठ निम्न भाग में बहावलपुर राज्य की सीमा तक था जहाँ "जोहियावार" नाम अब तक योधेरों से अपना संबंध

१. जिसे हम लोग "मारवाड़" कहते हैं, उसे पंजाब में मालवाड़ कहते हैं । राजपूताना में "ड" का भी उच्चारण उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार दक्षिणी भारत में होता है । मालव = माडव + वाटक भी मारवाड़ ही होगा । "वाट" शब्द का जो "वार" रूप हो जाता है और जिसका अर्थ "विभाग" होता है, इसके लिये देखो (अब स्व० राव चहादुर) हीरालाल-कृत Inscriptions of C. P., पृ० २४ और ८७ तथा एपि० इ०, खंड ८, पृ० २८५ । वाटक और पाटक दोनों ही शब्द मौगोलिक नामों के साथ विभाग के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं ।

२. देखो रैप्सन-कृत Indian Coins, विभाग ५१ और वि० स्मिथ-कृत Coins of Indian Musuem, पृ० १६२ ।

सिद्ध करता है। रुद्रदामन् (सन् १५० ई० के लगभग) के समय भी यह सबसे बड़ा प्रजातंत्री राज्य था। उस समय यौधेय लोग उसके पड़ोसी थे और निम्न संघ तक पहुँचे हुए थे। मालव और यौधेय राज्यों के मध्य में आर्युनायनों का एक छोटा सा राज्य था जिनके ठीक स्थान का तो अभी तक पता नहीं चला है, परंतु फिर भी उनके सिक्कों से सूचित होता है कि वे लोग अलवर और आगरा के पास ही रहते थे। माद्रक लोग यौधेयों के ठीक उत्तर में रहते थे और उनका विस्तार हिमालय के निम्न भाग तक था। भेलम और रावी के बीच का मैदान ही मद्र देश था^१ और कभी कभी व्यास नदी तक का प्रदेश भी मद्र देश के अंतर्गत ही माना जाता था^२। व्यास और यमुना के मध्यवाले प्रदेश में वाकाटकों के सामंत सिंहपुर के वर्मन और नाग राजा नागदत्त के प्रदेश थे। समुद्रगुप्त के शिलालेख में प्रजातंत्रों का जो दूसरा वर्ग है, उसमें आभीर, प्रार्जुन, सहस्रानीक, काक और खर्पिक लोगों के नाम दिए गए हैं। समुद्रगुप्त से पहले इनमें से कोई प्रजातंत्र अपने स्वतंत्र सिक्के नहीं चलाता था; और इसका सीधा-साधा कारण यही था कि वे मांधारा (माहिष्मती) में रहनेवाले पश्चिमी मालवा के वाकाटक-गवर्नर के और पद्मावती के नागों के अधोन

१. आरकियालॉजिकल सर्वे रिपोर्ट, खं० २, पृ० १४।

२. रायल एशियाटिक सोसाइटी का जरनल, सन् १८६७, पृ० ३०।

थे । वास्तव में गणपति नाम धारा का अधीश्वर (धाराधीश) कहलाता था । हम यह भी जानते हैं कि सहसानीक और काक लोग भिलसा के आस-पास रहते थे । भिलसा से प्रायः बीब मील की दूरी पर आज-कल जो काकपुर नामक स्थान है, वहाँ प्राचीन काल में काक लोग रहते थे । और सौंचों की पहाड़ों काकनाड कहलाती थी । चंद्रगुप्त द्वितीय के समय एक सहसानीक महाराज ने, जो कदाचित् सहसानीकों का प्रजातंत्री नेता और प्रधान था, उदयगिरि की चट्टानों पर चंद्रगुप्त-मंदिर बनवाया था । आभीरों के संबंध में हमें भागवत से बहुत सहायता मिलती है । भागवत में कहा गया है कि आभीर लोग सौराष्ट्र और आवंत्य शासक (सौराष्ट्रावन्स्यआभीराः) थे । और विष्णुपुराण में भी कहा गया है कि आभीरों का सौराष्ट्र और अवंती प्रांतों पर अधिकार था । वाकाटक इतिहास से हमें यह भी ज्ञात है कि पश्चिमी मालवा में पुष्यमित्र लोग और दो ऐसे दूसरे प्रजातंत्री लोग रहते थे, जिनके नाम के अंत में “मित्र” शब्द था । ये आभीर प्रजातंत्र थे, और आगे चलकर गुप्त-इतिहास में हम देखते हैं कि उनके स्थान पर मैत्रक लोग आ गए थे, जिनमें एकतंत्री शासन प्रचलित था । आभीरों से आरंभ होनेवाला और खर्पिरिकों से

समाप्त होनेवाला यह वर्ग काठियावाड़ और गुजरात से आरंभ होकर दमोह तक अर्थात् मालव-प्रजातंत्र के नीचे और वाकाटक-राज्य के ऊपर एक सीधी रेखा में था। पेरिप्लस के समय में आभीर लोग गुजरात में रहते थे, और डा० विं० स्मिथ ने जो बुद्देलखंड में उनका स्थान निश्चित किया है (रा० ए० सो० का जरनल, १८८७, पृ० ३०) वह किसी तरह ठोक और न्याय-संगत नहीं हो सकता। डा० स्मिथ ने यह निश्चय इसी लिये किया था कि उनके समय में लोगों में यह भ्रमपूर्ण विचार फैला हुआ था कि काठियावाड़ और गुजरात पर उन दिनों पश्चिमी चत्रप राज्य करते थे। परंतु पुराणों से भी और समुद्रगुप्त के शिलालेख से भी यही सिद्ध होता है कि काठियावाड़ अधवा गुजरात में चत्रपों का राज्य नहीं था। काठियावाड़ पर से पश्चिमी चत्रपों का अधिकार नाग-वाकाटक काल में ही उठा दिया गया था। इस विषय पर पुराणों से बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है।

§ १४६. भागवत में कहा गया है कि सुराष्ट्र और अवंती के आभीर और अरावली के शूर तथा मालव लोग पौराणिक प्रमाण अपना स्वतंत्र प्रजातंत्र रखते थे। उनके शासक “जनाधिपः” कहे गए हैं, जिसका अर्थ होता है—जन या जनता के (अर्थात् प्रजातंत्र) शासक। भागवत में माद्रकों का उल्लेख नहीं है।

जान पड़ता है कि आर्यावर्त्त-युद्धों के परिणाम-स्वरूप माद्रक लोग समुद्रगुप्त के साम्राज्य में सम्मिलित हो गए थे; और जब प्रजातंत्रों का अधीश्वर परास्त हो गया था, तब उनमें से सबसे पहले माद्रकों ने ही गुप्त-सम्राट् की अधीनता स्वीकृत की थी। भागवत के शूर वही प्रसिद्ध यौधेय हैं। “शूर” शब्द (जिसका अर्थ ‘वीर’ होता है) “यौधेय” शब्द का ही अनुवाद और समानार्थक है। और यही यौधेय उनकी प्रसिद्ध और लोक-प्रचलित उपाधि या जाति-नाम था। इससे दो सौ वर्ष पहले रुद्रदामन् इस बात का उल्लेख कर गया था कि यौधेय लोग ज्ञात्रियों में अपनी ‘वीर’ उपाधि से प्रसिद्ध थे। पुराणों के अनुसार यौधेय लोग अच्छे और पुराने ज्ञात्रिय थे। मालवों की तरह वे लोग भी पहले पंजाब में रहते थे। यौधेयों और मालवों ने ही सिंध की पश्चिमी सीमा पर भी और इधर मथुरा की तरफ पूर्वी सीमा पर भी कुशन-शक्ति को आगे बढ़ने से रोक रखा था। ये लोग साधारणतः शूर अथवा वीर कहलाते थे। भागवत ने यौधेयों को आभीरों के उपरांत और मालवों से पहले रखा

१. सर्वज्ञाविष्कृत-वीरशब्दजातोत्सेकअविधेयानाम् । (एषि-
ग्राफिया इंडिका, खंड ८, पृ० ४४) अर्थात् “यौधेय लोग बहुत कठिनता से अधीनता स्वीकार करते थे और समस्त ज्ञात्रियों में अपनी ‘वीर’ उपाधि सार्थक करने के कारण उन्हें गर्व था । ” (कीलहानि के अनुवाद के आधार पर)

है अर्थात् उन्हें इन दोनों के बीच में स्थान दिया है; और इससे यह सूचित होता है कि वे आभीरों के उत्तर में और मालवों के उत्तर-पश्चिम में अर्थात् राजपूताने के पश्चिमी भाग में रहते थे। विष्णुपुराण में कहा है—“सौराष्ट्र-अवंती-शूरान् अर्बुद-मरुभूमि-विषयांश्च ब्रात्या द्विजा आभीर-शूद्र (इसे ‘शूर’ समझना चाहिए) आया: भोद्यन्ति ।” विष्णुपुराण में अवंती के उपरांत “शूद्र” शब्द आया है; परंतु उसका एक और पाठ “शूर” भी है और इसका समर्थन स्वयं विष्णुपुराण में ही एक और स्थान पर और हरिवंश^१ से भी होता है। हाँ, शौद्रायणों का भी एक प्रजातंत्र था; और यह “शौद्रायण” शब्द निकला तो “शूद्र” शब्द से ही है, परंतु यहाँ “शूद्र” से शूद्रों की जाति का अभिप्राय नहीं है, बल्कि शूद्र नाम का एक व्यक्ति था, जिसने शौद्रायणों का प्रजातंत्र स्थापित किया था^२। परंतु स्पष्ट रूप से यही जान पड़ता है कि भागवत और विष्णुपुराण का इस अवसर पर शूरों से ही अभिप्राय है और यह “शूर” शब्द यौधेयों के लिये ही है। भागवत और विष्णुपुराण

१. विल्सन द्वारा संपादित विष्णुपुराण, (अँगरेजी) खंड २, पृ० १३३, “शूर आभीरः” मिलाओ हरिवंश, १२. ८३७ का शूर आभीरः ।

२. देखो विल्सन के विष्णुपुराण खंड २, पृ० १३३ में हॉल (Hall) की लिखी हुई टिप्पणी ।

३. देखो जायसवाल-कृत हिंदू-राज्यतंत्र, पहला भाग, पृ० २५७ ।

में प्रार्जुनों, सहसानीकों, काकों और खर्परों का कोई उल्लेख नहीं है। ये सब नाग वर्ग के थे और पूर्वी मालवा में थे।

§ १५६ क. इसके उपरात म्लेच्छ-राज्य आता है, जो भागवत के अनुसार इसके बादवाला राज्य है। यह कुशन राज्य था। यहाँ समुद्रगुप्त के शिलालेख के लिये पुराण मानों भाष्य का काम देते हैं। यथा—

सिन्धोऽस्तदं चन्द्रभागां

कौन्ती काश्मीर मंडलम्

भोद्यन्ति शूद्राश्च आन्त्याद्या (अथवा ब्रात्याद्या)

म्लेच्छाश्च आब्रह्मवर्चसः । [Purana Text, पृ० ५५]

अर्थात्—सिंधु के तट पर और चंद्रभागा के तट पर कौन्ती (कच्छ^१) और काश्मीर मंडल में वे म्लेच्छ लोग शासन करेंगे जो शूद्रों में सबसे निम्न क्रोटि के और वैदिक वर्चस्व के विरोधी हैं।

विष्णुपुराण में कहा गया है—“सिंधुतटदार्बीकोर्बी-चंद्रभागाकाश्मीर-विषयान् ब्रात्यम्लेच्छा-शूद्रायाः” (अथवा म्लेच्छादयः शूद्राः) भोद्यन्ति । यहाँ विष्णुपुराण यह सिद्ध करना चाहता है कि सिंधु-चंद्रभागा की तराई (सिंध-सागर दोन्हाव) और दार्बीकोर्बी (दार्बीक तराई

१. यंगाल एशियाटिक सोसाइटी का जरनल, सन् १८५१,
६० २३४।

अर्थात् खैबर का दर्दी और उसके पीछे का प्रदेश) सब एक साथ ही संबद्ध थे; और इससे यह सचित होता है कि विष्णुपुराण का कर्ता यह बात अच्छी तरह समझता था कि भारतवर्ष की प्राकृतिक सीमाएँ कहाँ तक हैं। चंद्र-भागावाली सीमा इस बात से निश्चित सिद्ध होती है कि गुप्त संवत् ८३ में शोरकोट में गुप्त संवत् का इस प्रकार व्यवहार होता था कि केवल उसका वर्ष लिख दिया जाता था^१ और उसके साथ यह बतलाने की भी आवश्यकता नहीं होती थी कि यह किस संवत् का वर्ष है; और इससे यह सूचित होता है कि वहाँ यह संवत् कम से कम २५ वर्षों से अर्थात् समुद्रगुप्त के शासन-काल से ही प्रचलित रहा होगा।

§ १४६ ख. म्लेच्छ लोग यहाँ शूद्रों में सबसे निम्न कोटि के कहे गए हैं। यहाँ हम पाठकों को मानव धर्म-म्लेच्छ शासन का वर्णन शाखा तथा उन दूसरी स्मृतियों आदि का स्मरण करा देना चाहते हैं जिनमें भारत में रहनेवाले शकों को शूद्र कहा गया है। पतंजलि ने सन् १८० ई० पू० के लगभग इस बात का विवेचन किया था कि शक और यवन कौन हैं; और ये शक तथा यवन पतंजलि के समय में राजनीतिक हाइ से भारतवर्ष से निकाल दिए गए थे, परंतु फिर भी उनमें से कुछ लोग इस देश में

प्रजा के रूप में निवास करते थे। महाभारत में भी इस बात का विवेचन किया गया है कि ये शक तथा इन्हों के समान जो दूसरे विदेशी लोग, भारतवर्ष में आकर बस गए थे और हिंदू हो गए थे, उनकी क्या स्थिति थी और समाज में वे किस वर्ण में समझे जाते थे? । प्रायः सभी आरंभिक आचार्य एक स्वर से शकों को शूद्र ही कहते हैं और उन्हें द्विज-आयों के साथ खान-पान करने का अधिकार नहीं था। ये शासक शक लोग अपनी राजनीतिक और सामाजिक नीति के कारण राजनीतिक विरोधी और शत्रु समझे जाते थे और इसी लिये इन्हें भागवत में शूद्रों में भी निम्नतम कोटि का कहा गया है; और इस प्रकार वे अत्यजों के समान माने गए हैं। और इसका कारण भी स्वयं भागवत में ही दिया दुआ है। वे लोग सनातन वैदिक रीति-नीति की उपेत्ता तो करते थे ही, पर साथ ही वे सामाजिक अत्याचार भी करते थे। उनकी प्रजा कुशनों की रीति-नीति का पालन करने के लिये प्रोत्साहित अथवा विवश की जाती थी। वे लोग यह चाहते थे कि हमारी प्रजा हमारे ही आचार-शास्त्र

१. इस संबंध में महाभारत में जो कुछ उल्लेख है, उसका विवेचन मैंने अपने “वडौदा-लेक्चर” (१६३१) में किया है। महाभारत, शान्तिपर्व ६५, मनुस्मृति १०,४४। पाणिनि पर पतंजलि का महाभाष्य २,४,१० ।

का अनुकरण करे और हमारे ही धार्मिक सिद्धांत माने। इस संबंध में कहा गया है—“तन्रायस्ते जनपदास् तच्छ्रोला चारवादिनः ।” राजनीतिक चेत्र में वे निरंतर आग्रहपूर्वक वही काम करते थे जो काम न करने के लिये शक चत्रप रुद्रदामन् से शपथपूर्वक प्रतिज्ञा कराई गई थी। जब रुद्रदामन् राजा निर्वाचित हुआ था, तब उसने शपथपूर्वक इस बात की प्रतिज्ञा की थी कि हिंदू-धर्म-शास्त्रों में बतलाए हुए करों के अतिरिक्त में और कोई कर नहीं लगाऊँगा^१। भागवत और विष्णुपुराण में जो वर्णन मिलते हैं, उनके अनुसार म्लेच्छ राजा अपनी ही जाति की रीति-नीति बरतते थे और प्रजा से गैर-कानूनी कर बसूल करते थे। यथा—“प्रजास्ते भन्त्यिष्यन्ति म्लेच्छा राजन्य-हृषिणः ।” वे लोग गौओं की हत्या करते थे (उन दिनों गौएं पवित्र मानी जाने लगी थीं, जैसा कि वाकाटक और गुप्त-शिलालेखों से प्रमाणित होता है), ब्राह्मणों की हत्या करते थे और दूसरों की स्त्रियाँ तथा धन-संपत्ति हरण कर लेते थे (खी-बाल-गोद्विजन्नाश्च पर-दारा धनाहृताः)। उनका कभी अभिषेक नहीं होता था (अर्थात् हिंदू-धर्म-शास्त्र के अनुसार वे कानून की दृष्टि से कभी राजा ही

१. एपिग्राफिया इंडिका, पृ० ३३-४३ (जूनागढ़वाला शिलालेख पंक्ति ६-१०) सर्व-वर्णीरभिगम्य रक्षणार्थ (म) पतित्वे वृत्तेन आग्र-णोच्छ्रवासात् पुरुषवध-निवृत्ति-कृत सत्य-प्रतिज्ञेन अन्त्यत्र संग्रामेषु । तब पंक्ति १२—यथावत्-प्राप्तैर्वलि शुल्क-मानीः ।

नहीं होते थे) । उनके राजवंशों के लोग निरंतर एक दूसरे की हत्या करके विद्रोह करते रहते थे ('हत्वा चैव परस्परम्' और 'उदितोऽदितवंशास्तु उदितास्तमितस्तथा') । और उनके संबंध की ये सब बातें ऐसी हीं जिनका पता उनके सिक्कों से मुद्राशाल के आचार्यों को पहले ही लग चुका है । इस प्रकार सारे राष्ट्र में एक पुकार सी मच गई थी और वहों पुकार पुराणों में व्यक्त की गई है । इस प्रकार मानों उस समय के गुप्त सम्राटों और हिंदुओं से कहा गया था कि उत्तर-पश्चिमी कोण का यह भीषण नाशक रोग किसी प्रकार समूल नष्ट करो । और इस रोग को दूर करने के ही काम में चंद्रगुप्त द्वितीय को विवश होकर लगना पड़ा था और यह काम उसने बहुत ही सफलतापूर्वक पूरा किया था ।

§ १४७. यह वर्णन यौन शासन का है और उन यवनों का नहीं है जो ईडो-ग्रोक कहलाते हैं । यह "यौन" शब्द ही आगे चलकर "यवन" हो गया है । ब्रह्मांड पुराण में जहाँ आरंभिक गुप्तों के सम-कालीन राजवंशों और शासकों का वर्णन समाप्त किया है, वहाँ १८८वें श्लोक के अंतिम चरण में कहा है—

१. मिलाओ विहार उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी का जरनल, खंड १८, पृ० २०१ में प्रकाशित The Yaunas of the Puranas (पुराणों के यौन) शीर्षक लेख ।

तुल्यकालं भविष्यन्ति सर्वं हयेते महीक्षितः ।

और इसके उपरांत दूसरे श्लोक (सं० २००) में कहा है—

अल्पप्रसादा हनुता महाकोधा हयधार्मिकाः ।

भविष्यन्तीः यवना धर्मतः कामतोऽर्थतः ॥

(इस देश में यवन लोग होंगे जो धर्म, काम और अर्थ से प्रेरित होंगे और वे लोग तुच्छ विचारवाले, भृठे, महाकोधो और अधार्मिक होंगे ।)

बस, इसी श्लोक से उस काल की सब बातों का संज्ञिप्त वर्णन आरंभ होता है। मत्स्यपुराण में भी, जिसकी समाप्ति सातवाहनों के अंत से होती है, ठीक वही वर्णन है, यद्यपि सब बातें तीन ही चरणों में समाप्त कर दो गई हैं। यथा—

भविष्यन्तीः यवनाः धर्मतः कामतोऽर्थतः ।

तैर्विमिथा जनपदा आर्या म्लेच्छाश्च सर्वशः ।

विपर्ययेन वर्त्तन्ते क्षयमेष्यन्ति वै प्रजाः ।

(इसका आशय यही है कि आर्य जनता म्लेच्छों के साथ मिल जायगी और प्रजा का क्षय होगा ।)

भागवत में सिंधु-चंद्रभागा-कौती-काश्मीर के म्लेच्छों के संबंध में यही वर्णन मिलता है और उसमें अध्याय (खंड

१२, अध्याय २)^१ के अंत तक वही सब व्योरे की बातें दी गई हैं जिनका सारांश ऊपर दिया गया है। इस विषय में विष्णुपुराण में भी भागवत का ही अनुकरण किया गया है। इस प्रकार वह सिद्ध हो जाता है कि दूसरे पुराणों में जिन्हें यवन कहा गया है, उन्होंको विष्णुपुराण और भागवत में म्लेच्छ कहा गया है। ऊपर जिन यवनों के संबंध की बातें कही गई हैं, वे इंडो-ग्रीक यवन नहीं हो सकते, क्योंकि पौराणिक काल-निरूपण के अनुसार भी और वंशवलियों के विवरण के अनुसार भी इंडो-ग्रीक यवन इससे बहुत पहले आकर चले गए थे। यहाँ जिन यवनों का वर्णन है, वे वही यैन अर्थात् यौवा या यौवन शासक हैं जिनके संबंध में ऊपर सिद्ध किया जा चुका है कि वे कुशन थे^२। यौव अथवा यौवा उन दिनों कुशनों की राजकीय उपाधि थी

१. इसके बाद के अध्याय में वह वर्णन आया है कि कलिक म्लेच्छों के हाथ से देश का उद्धार करेगा। और इस संबंध में मैंने यह निश्चय किया है कि यहाँ कलिक से उस विष्णु यशोधर्मन् का अभिप्राय है जिसने हूणों का पूरी तरह से नाश किया था। परंतु महाभारत और ब्रह्मांड पुराण में इस कलिक का जो वर्णन आया है, वह ब्राह्मण सम्मान वाकाटक प्रवरसेन प्रथम के वर्णन से मिलता है। (साथ ही देखो ऊपर पृ० ६८ की पाद-टिप्पणी)

२. विहार उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी का जरनल, खंड १६, पृ० २८७ और खंड १७, पृ० २०१।

और पुराणों में कुशनों को तुखार-मुरुंड और शक कहा गया है। भागवत में कुछ ही दूर आगे चलकर (१२,३,१४) स्वयं ‘यैन’ शब्द का भी प्रयोग किया है।

§ १४८. सिंध-अफगानिस्तान-काश्मीरवाले म्लेच्छों के अधिकार में करीब चार प्रांत थे जिनमें कच्छ भी सम्मिलित था। यह हो सकता है कि म्लेच्छों के कुछ अधीनस्थ शासक ऐसे भी हों जो म्लेच्छ न रहे हों, जैसा कि भागवत में कहा गया है कि प्रायः म्लेच्छ ही गवर्नर या भूभृत् थे (म्लेच्छप्रायाश्च भूभृतः)। कौती या कच्छ उन दिनों सिंध में ही सम्मिलित था, क्योंकि विष्णुपुराण में उसका अलग उल्लेख नहीं है। कच्छ-सिंध उन दिनों पश्चिमी चत्रपों के अधिकार में था, जिनके सिक्के हमें उस समय के प्रायः तीस वर्ष बाद तक मिलते हैं, जब कि कुशनों ने अधीनता स्वीकृत करने का समय हम सन् ३५० ई० के लगभग रख सकते हैं।

§ १४९. इस प्रकार पुराणों में हमें भारशिव-नाग-वाकाटक-काल और आरम्भिक गुप्त काल का विश्वसनीय और पैराग्निक उल्लेख बिलकुल ठीक ठीक वर्णन मिल जाता का मत है। वाकाटक-काल और समुद्रगुप्त के काल का उनमें पूरा पूरा वर्णन है। राजतरंगिणी में तो अवश्य ही कक्षीष राजवंश (ई० सातवीं शताब्दी) का पूरा

और व्योरेवार वर्णन दिया गया है; परंतु उससे पहले के हिंदू इतिहास के किसी काल का उतना पूरा और व्योरेवार वर्णन हमें अपने साहित्य में और कहाँ नहाँ मिलता, जितना उक्त कालों का पुराणों में मिलता है।

द्वीपस्थ भारत

§ १४८ क. भारशिव-वाकाटक-काल में द्वीपस्थ भारत भी भारतवर्ष का एक अंश ही माना जाता था। उसकी द्वीपस्थ भारत और यह मान्यता हमें सबसे पहले मत्स्य-उसकी मान्यता पुराण में मिलती है। यो तो हिमालय या हिमवत् पर्वत और समुद्र के बीच में ही भारतवर्ष है, परंतु वास्तव में भारतवर्ष का विस्तार इससे बहुत अधिक था,

१. मत्स्यपुराण, अध्याय ११३, श्लोक १--१४ (साथ ही मिलाओ वायुपुराण १, अध्याय ४५, श्लोक ६६-८६)।

यदिर्द मारतं वर्षं यस्मिन् स्वायम्भुवादयः।

चतुदशैव मनवः (१)

अथाह वर्णायिष्यामि वर्षेऽस्मिन् मारते प्रजाः (५)

न खल्वन्यन्ते मत्यानां भूमै कर्मविधिः स्मृतः।

उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमवद्विशां च यत्।

वर्षं वद्वारते नाम यत्रेयं भारतो प्रजाः ॥ (वायु ० ७५)

भारतस्यास्य वर्षस्य नवमेदाचिवोधत ॥ (७)

समुद्रांतरिता जे यास्ते त्वगम्याः परस्परम् (वायु ० ७८)

इद्रद्वीपः कसेरुद्ध ताम्रपर्णी गमस्तिमान्।

नागद्वीपस्तथा सौम्यो गन्धर्वस्त्वय वारुणः ॥ (८)

अयं तु नवमस्तेऽप्तं द्वीपः सागरसंकृतः । (९)

क्योंकि भारतवासी (भारती प्रजा) आठ और द्वोपों में भी बसते थे । और इन द्वोपों के सम्बन्ध में कहा गया है कि वीच में समुद्र पड़ने के कारण इनमें जलदी परस्पर आवागमन नहीं हो सकता था । इन द्वोपोंवाली योजना में भारतवर्ष नहाँ है । स्पष्ट रूप से इसका आशय यही है कि ये आठों द्वाप अथवा प्रायद्वीप, जिनमें भारतवासी रहते थे, भारतीय प्रायद्वीप की एक ही दिशा में थे । इस दिशा का पता ताम्रपर्णी की स्थिति से लगता है जो आठ हिंदू-द्वोपों में से एक थी । ये सभी द्वोप पूर्व की ओर थे, अर्थात् ये सब वही द्वीप हैं जिन्हें आज-कल दूरस्थ भारत (Further India.) कहते हैं । द्वोपों की इस सूची में सबसे पहले इंद्रद्वीप का नाम आया है जिसके संबंध में संतोषजनक रूप से यह निश्चित हो चुका है कि वह आज-कल का बरमा हो है । उन दिनों भारतवासियों को मलाया प्रायद्वीप का

इसके उपरांत भारतवर्ष के नवें द्वीप या विभाग का बर्णन आरम्भ होता है जिसमें समस्त वर्तमान भारत आ जाता है और जिसे यहाँ मानवद्वाप कहा गया है ।

१. देखो वि० उ० रि० सो० के जरनल (मार्च, १८२२) में एस० एन० मञ्जुमदार का लेख जो अब उन्होंने कनिष्ठम के Ancient Geography of India १८२४ के पृ० ७४६ में फिर से छाप दिया है । उन्होंने जो कसेरमत् को मलाया प्रायद्वीप बतलाया है, वह युक्ति-संगत है । पर हाँ, और द्वीपों के संबंध में उन्होंने जो कुछ निश्चय किया है, वह विलकुल ठोक नहीं है ।

बहुत अच्छी तरह ज्ञान था; और इस बात का प्रमाण ई० चैथी शताब्दी के एक ऐसे शिलालेख से मिल चुका है (जो आज-कल के वेलेस्ली (Wellesly) जिले में एक स्तंभ पर उत्कीर्ण हुआ था । यह शिलालेख एक हिंदू महानाविक ने, जिसका नाम बुधगुप्त था और जो पूर्वी भारत का रहने-वाला था, १ उत्कीर्ण कराया था; और इन्द्रद्वीप के उपरांत जिस कसेन अथवा कसेनमत् द्वीप का उल्लेख है, बहुत संभव है कि वह वही द्वीप हो, जिसे आज-कल स्ट्रेट्रीस सेटिलमेंट्स (Straits Settlements) कहते हैं । इसके आगे दूसरे विभाग में ताम्रपर्णी (आधुनिक लंका या सीलोन का पुराना नाम) से नामावली आरंभ की गई है और उसमें इन द्वीपों के नाम हैं— ताम्रपर्ण, गमस्तमान्, नागद्वीप, सौम्य, गांधर्व और बरुण द्वीप । नागद्वीप आज-कल का नीकोबार है२ । कंबोडिया के शिलालेखों से हमें पता चलता है कि कंबोडिया (इंडो-चाइना) पर पहले नागों का अधिकार था, जिन्हें भारतवर्ष के सनातनी हिंदू-कौड़िन्य के वंशधरों ने अधिकार-चयुत करके वहाँ अपना राज्य स्थापित किया था३ । हम यह मान सकते हैं कि इन

१. उक्त ग्रथ, पृ० ७५२ जिसमें कर्न (Kern) V, G खड ३ (१६१५) पृ० २५४ का उद्धरण दिया गया है ।

२. गेरिनी (Gerini) द्वारा संपादित Ptolemy's Geography पृ० ३७६-३८३.

३. डा० आर० सो० मजुमदार-कृत Champa नामक ग्रंथ २. १८, २३.

उपनिवेशों में हिंदुओं के जाकर बसने से पहले जो लोग रहा करते थे, उन्होंका जातीय नाम 'नाग' था । गम्भितमान् (सूर्य का द्वीप), सौम्य, गाधवं और वरुण वही द्वीप हैं जो आज-कल द्वीपपुंज (Archipelago) कहलाते हैं और जिनमें सुमात्रा, बोरनियो आदि द्वीप हैं; और इनमें से सुमात्रा और जावा में ईसवी चौथी शताब्दी से पहले भी अवश्य ही भारतवासी जाकर बसे हुए थे । यह बात निश्चित है कि पुराणों के कर्त्ताओं को ईसवी तीसरी और चौथी शताब्दियों में इस बात का पूरा-पूरा ज्ञान था कि भारत के पूर्वी द्वीपों में हिंदुओं के उपनिवेश हैं और वे उन सब उपनिवेशों को भारतवर्ष के अंग ही मानते थे । उन दिनों लोग भारतवर्ष का यही अर्थ मानते थे कि इसमें भारत के साध-साथ वे द्वीप भी सम्मिलित हैं जिनमें भारतवासी जाकर बस गए हैं और इन्होंमें आज-कल का सीलोन या लंका भी सम्मिलित था । भारत के अतिरिक्त इन सबके आठ विभाग थे और इन्होंनी देशों को मिलाकर नवद्वीप कहते हैं ।

§ १५०. इलाहाबादवाले शिला-लेख की २३वाँ पंक्ति में शाहानुशाही तथा दूसरे राजाओं का जो वर्ग है और जिसे

१. वायुपुराण के देखने से जान पड़ता है कि उसके कर्ता को द्वीपपुंज का विस्तृत ज्ञान था; और ४८ वें अध्याय में उनके वे नाम दिए गए हैं जो गुप्त-काल में प्रचलित थे । यथा—अंग, (चंपा), मलय, य (व) आदि ।

हम आज-कल के शब्दों में “प्रभाव-चेत्र के राजयों का वर्ग” कह सकते हैं, उसके संबंध में लिखा है—“सिंहलक आदि-

समुद्रगुप्त और द्वी-भिश्च सर्वद्रोप-वासिभिः” । (अर्थात् पश्य भारत

सिंहल का राजा और समस्त द्रोप-वासियों का राजा) और इन सब राजाओं के विषय में लिखा है कि उन्होंने अधीनता स्वीकृत कर ली थी और समुद्रगुप्त को अपना सम्राट् मान लिया था । उन राजाओं ने कोई कर तो नहीं दिया था, परंतु वे अपने साथ बहुत कुछ भेट या उपहार लाए थे और उन्होंने स्पष्ट रूप से उसका प्रभुत्व स्वीकृत कर लिया था । समुद्रगुप्त ने इसका वर्णन इस प्रकार किया है कि मैंने अपनी दोनों भुजाओं में सारी पृथ्वी को इकट्ठा करके ले लिया है । इसलिये हम कह सकते हैं कि जिसे उसने भारतवर्ष या पृथ्वी कहा है, उसमें द्रोपस्थ भारत भी सम्मिलित था । यहाँ जो “समस्त द्रोप” कहा गया है, उससे भारतवर्ष के अथवा भारती प्रजा के समस्त उपनिवेशों से अभिप्राय है (देखो § १४८ क) । डा० विंसेंट स्मिथ का विचार है कि लंका के राजा मेघवर्ण का राजदूत समुद्रगुप्त की सेवा में बैध-गया में सिंहलों यात्रियों के लिये एक बैद्ध-मठ या विहार बनवाने की अनुमति प्राप्त करने के लिये आया था; और समुद्र-गुप्त ने अपने शिलालेख में इसी बात की ओर संकेत करते हुए यह कहा है कि उसने भी उपहार भेजा

था । परंतु ये दोनों बातें एक दूसरी से बिलकुल स्वतंत्र जान पड़ती हैं । शिलालेख में केवल लंका या सिंहल के ही राजा का उल्लेख नहीं है, बल्कि समस्त द्वीपों के शासकों का उल्लेख है । यह बात प्रायः सभी लोग अच्छी तरह जानते हैं कि और भी ऐसे कई भारतीय उपनिवेश थे जिनके साथ भारतवर्ष का आवागमन का संबंध था । चंपा (कंबोडिया) में इसबीं तीसरी शताब्दी का एक ऐसा संस्कृत शिलालेख मिला है जो श्रीमार कौटिन्य के वंश के किसी राजा का है २ और जिसमें लोक-प्रिय वसंततिलका छंद अपने पूर्व रूप में है और उसकी भाषा तथा शैलों वाकाटक तथा गुप्त-अभिलेखों की सी है । चंपा के डक्ट शिलालेख से यह प्रमाणित हो जाता है कि भारतीय उपनिवेशों का भार-शिव और वाकाटक भारत के साथ संबंध था; और जिस प्रकार उन दिनों भारतवर्ष में संस्कृत का पुनरुद्धार हुआ था, उसी प्रकार उन द्वीपों में भी हुआ था । इसबीं दूसरी शताब्दी के जितने राजकीय अभिलेख आदि उत्तर भारत में भी और दक्षिण भारत में भी

१. Early History of India, पृ० ३०४-३०५ ।

२. डा० आर० सी० मनुमदार-कृत Champa (चंपा) नामक ग्रंथ का अभिलेख, सं० १ । साथ ही मिलाओ रायल एशियाटिक सोसाइटी का जरनल, १८१२, पृ० ६७७ जिसमें बतलाया गया है कि चीनी यात्री फान-ये (मृत्यु सन् ४४५ ई०) ने लिखा था कि (गुप्त) भारत का विस्तार कावुल से बरमा या अनाम तक है ।

पाए गए हैं, वे सभी प्राकृत में हैं^१ । जिस भद्रवर्मन् ने (जिसे चीनी लोग फान-हाउ-ता कहते थे) चीनी सैनिकों को परास्त किया था (सन् ३८०-४१० ई०) वह चंद्रगुप्त द्वितीय का सम-कालीन था । उसका पिता, जो समुद्रगुप्त का सम-कालीन था, उस समय चीनी सम्राट् के साथ लड़ रहा था और उसने भारतीय सम्राट् के साथ संबंध स्थापित करना बहुत खुशी के साथ मंजूर किया होगा । भद्रवर्मन् का पुत्र गंगराज गंगा-तट पर काल-यापन करने के लिये भारत चला आया था और तब यहाँ से लौटकर फिर चंपा गया था और वहाँ उसने शासन किया था^२ । इस बात का भी उल्लेख मिलता है कि सन् २४५ ई० से ही फूनन (Funan) के हिंदू राजा का भारतवर्ष के साथ संबंध था । हिंदू उपनिवेशों पर समुद्रगुप्त के समय की इतनी अधिक छाप मिलती है कि इलाहाबादवाले शिलालेख पर हमें आवश्यक रूप से गंभोरतापूर्वक विचार करना पड़ता है और उसनी ही गंभोरता के साथ विचार करना पड़ता है, जितनो गंभोरता

१. इसका एक मात्र अधिवाद उस कुद्रदामन् का जूनागढ़वाला शिलालेख है जो स्वयं संस्कृत का बहुत बड़ा विद्वान् था और जो निर्बचन के द्वारा राज-पद प्राप्त करने के कारण सनातनी हिंदू राजा बनने का प्रयत्न करता था ।

२. Champa (चंपा नामक ग्रंथ), पृ० २५-२६ ।

के साथ हम उसमें दिए हुए भारतीय विषयों का विचार करते हैं। समुद्रगुप्त का शासन-काल वही था, जिस काल में फुनन में राजा श्रुतवर्मन् राज्य करता था और जब कि वहाँ हिंदुओं के ढंग पर एक नई सामाजिक व्यवस्था स्थापित हुई थी^१। लगभग उसी समय हम यह भी देखते हैं कि पश्चिमी जावा के हिंदू उपनिवेश में एक शिलालेख संस्कृत में लिखा गया था जो ईसवी चौथी या पाँचवीं शताब्दी की लिपि में था। फा-हियान जिस समय सुमात्रा में पहुँचा था, उस समय से ठीक पहले वहाँ सनातनी हिंदू संस्कृति का इतना अधिक प्रचार हो चुका था कि उसने लिखा था—“ब्राह्मण या आर्य-धर्म के अनेक रूप स्तुत अच्छी तरह प्रचलित हैं और वैद्यु-धर्म इतना कम हो गया है कि उसके संबंध में कुछ कहा ही नहों जा सकता (फा-हियान, पृ० ११३)। फा-हियान ने इस बात को भी साझी दी है कि वाम्बलिप्ति, जैसा कि हम ऊपर बतला चुके हैं, समुद्रगुप्त के समय में उसके राज्य में मिला ली गई थी और गुप्तों का एक बंदरगाह बन गई थी। और भारतवर्ष तथा लंका के

१. कुमारस्वामी-कृत History of Indian and Indonesian Art, पृ० १८१ [दिल्ली उसमें उद्दृत की हुई प्रामाणिक लोगों की उक्तियाँ] और Indian Historical Quarterly (इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली) १९२५, खंड १, पृ० ६१२ में फिनोट (Finot) का लेख।

मध्य अधिकांश आवागमन उसी बंदरगाह से होता था। ताम्रलिपि के लिये फा-हियान को चंपा (भागलपुर) से जाना पड़ा था, जहाँ उन दिनों राजधानी थी; और इस बात का पूरा पूरा समर्थन पुराणों के उस कथन से भी होता है जो चम्पा-ताम्रलिपि के प्रांत के गुप्त-कालीन संघटन के संबंध में है। फा-हियान ने देखा था कि एक बहुत बड़ा व्यापारी जहाज लंका के लिये रवाना हो रहा है। इस लंका को उसने सिंहल कहा है (और समुद्रगुप्त ने भी उसे अपने शिलालेख में सिंहल ही कहा है) और ताम्रलिपि जाने के लिये वह भी उसी जहाज पर सवार हुआ था। भारत और लंका का संबंध इतना सहज और नित्य का था कि सैंहलक राजा को विवश होकर समुद्रगुप्त को सम्भाट् मानना पड़ा था। द्वीपस्थ भारत के लिये भी उत्तरी भारत में ताम्रलिपि एक खास बंदरगाह था। ताम्रलिपि को जो चंपा के प्रांत में मिला लिया गया था, उसका उद्देश्य यही था कि द्वीपस्थ भारत के उपनिवेशों के साथ धनिष्ठ संबंध स्थापित हो जाय और समुद्रो व्यापार पर नियंत्रण हो जाय। यह बहुत सोच-

१. इस देश में कदाचित् दक्षिणी भारत से उतना अधिक सोना नहीं आया था, जितना द्वीपस्थ भारत से आया था। द्वीपस्थ भारत में बहुत अधिक सोना उत्पन्न होता था।

समझकर प्रहण की हुई नीति थी। योंही संयोग-वश
लंका तथा दूसरे द्वीपों से जो लोग भारत में आ जाया करते
थे, शिलालेख में उसका कोई अस्पष्ट और अनिर्दिष्ट उल्लेख
नहीं है, बल्कि साम्राज्य-विस्तार की जो नीति जान-बृजकर
प्रहण की गई थी, उसी के परिणामों का उसमें उल्लेख है।

§ १५१. कला संबंधो सात्तों से यह बात और भी
अधिक प्रमाणित हो जाती है कि गुप्तों का भारतीय उपनिवेशों
के साथ संबंध था। कंबोडिया में अनेक ऐसी मूर्चियाँ
मिली हैं जो ईसवी चौथी शताब्दी की हैं और जिन पर
वाकाटक-गुप्त-कला की छाप दिखाई देती है और गुप्त शैली
के कुछ मंदिर भी वहाँ पाए गए हैं। इसी प्रकार यह भी
पता चलता है कि बरमा में गुप्त लिपि का प्रचार हुआ था
और बरमावालों ने उसे प्रहण भी कर लिया था और वहाँ
गुप्त शैली की बनी हुई मिट्टी की बहुत-सी मूर्चियाँ भी पाई
गई हैं^१। इंडोनेशिया की परवर्ती शताब्दियों की कला के

१. कुमारस्वामी, पृ० १५७, १८२, १८३।

२. कुमारस्वामी, पृ० १६६। विंसेंट स्मिथ ने अपनी Early History of India (चौथा संस्करण) पृ० २६७, पाद-टिप्पणी में कहा है कि बरमा में गुप्त-संवत् का भी प्रचार हुआ था। बरमा के पुरातत्व-विभाग के सुपरिटेंडेंट मि० उम्या से मुक्ते मालूम हुआ है कि बरमा में गुप्त-संवत् का कोई उल्लेख नहीं मिलता। परंतु देखो कुहरर का जून १८८४ का A. P. R. पू० (Pyu) के शिलालेखों

इतिहास का गुप्त कला के साथ इतना ओत-प्रोत और घनिष्ठ संबंध है कि उससे यह बात पूर्ण रूप से प्रमाणित हो जाती है कि वहाँ गुप्तों का प्रभाव समुद्रगुप्त के समय से ही पढ़ने लगा था । समुद्रगुप्त ने यदि राजनीतिक चेत्र में नहीं तो कम से कम सांस्कृतिक चेत्र में तो अवश्य अपनी दोनों भुजाओं से द्वीपस्थ भारत को अपनी जन्मभूमि के साथ एक में मिला रखा था ।

॥ १५१ क. समुद्रगुप्त ने सभी दृष्टियों से साम्राज्यवाद के हिंदू आदर्श की सिद्धि की थी^१ । महाभारत के अनुसार

मिंहल (लंका) और हिंदू द्वीप अथवा
हिंदू आदर्श उपनिवेश हिंदू सम्राट् के भारतीय साम्राज्य के अंतर्भुक्त अंग थे^२ । उस आदर्श के अनुसार अफगानिस्तान समेत^३ मारा भारत उस साम्राज्य के अंतर्गत

से पता चलता है कि वर्मी उच्चारणों के लिये गुप्त-लिपि को स्वीकार किया गया था; और इस संबंध के अन्तर्गत के रूपों के लिये देखो एपि-आफिया इंडिका, खंड १२, पृ० १२७ ।

१. बाहुबीर्यप्रसरधरणीवंघस्य । इलाहाचादवाले शिलालेख की २४वीं पंक्ति, Gupta Inscriptions, पृ० ८ ।

२. महाभारत, समाप्ति, १४, ६-१२ और ३७, २० ।

३. उक्त ग्रंथ और पर्व; ३१, ७३-७४, (साथ ही देखो दक्षिणी पाठ ३४) ।

४. महाभारत, समाप्ति, २७, २५, जिसमें उस सीस्तान की सीमाएँ भी निर्धारित हैं जिसमें परम काम्बोज जाति के लोग और उन्हीं

होना चाहिए। परन्तु साम्राज्य का विस्तार अफगानिस्तान से और अधिक पश्चिम की ओर नहीं होना चाहिए और उसके लिये अफगानिस्तान के उस पार के देशों की स्वतंत्रता का हरण होना चाहिए। हिंदू भारत में परंपरा से सार्वराष्ट्रीय विषयों से संबंध रखनेवाली जो शुभ नीति चली आई थी, उसकी प्रशंसा यूनानी लेखकों ने भी और अरब के सुलैमान सौदागर ने भी की है। मनु-स्मृति में पश्चिमी भारत की जो सीमा निर्धारित की गई है, उसी सीमा तक समुद्रगुप्त ने अपने साम्राज्य का विस्तार किया था और उससे आगे वह कभी नहीं बढ़ा था। उस समय के सासानी राजा को रोमन सम्राट् बहुत तंग कर रहा था और इसी लिये सासानी राजा बहुत दुर्बल हो गया था। यदि समुद्रगुप्त चाहता तो सहज में सासानी राजा के राज्य पर आक्रमण कर सकता था और संभवतः उसका राज्य अपने साम्राज्य में मिला सकता था, क्योंकि युद्ध की कला में उन दिनों उसका सामना करनेवाला कोई नहीं था। परन्तु समुद्रगुप्त के लिये पहले से ही धर्म-शास्त्र (जिसका शब्दार्थ

से मिलते-बुलते उत्तरी ऋषिक (आर्यों लोग) आदि फिरके बसते थे। ऋषिक और आशी के संबंध में देखो जयचंद्र विद्यालंकार-कृत “भारतभूमि” नामक ग्रंथ के पृष्ठ ३१३-३१५, और विहार तथा उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी का जरनल, लंड १८, पृ० ६७।

होता है—सभ्यता का शासन) बना हुआ मौजूद था और वह धर्म-शास्त्र के नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकता था । उसने उसी धर्म का पालन किया था । उस धर्म ने पहले से ही हिंदू राजा के सार्वराष्ट्रोय कार्यों को भी और साम्राज्य संबंधी कार्यों को भी निर्धारित और सीमित कर रखा था । समुद्रगुप्त की विजयों के इतिहास से यह सूचित होता है कि उसके सब कार्य उसी शास्त्र से भली भाँति नियंत्रित होते थे और वह कभी स्वेच्छाचारी सेनापति नहीं बना था—उसने अपनी सैनिक शक्ति के मद से मत्त होकर कभी मर्यादा का उल्लंघन नहीं किया था ।

चौथा भाग

दक्षिणी भारत [सन् १५०-३५० ई०]

और

उत्तर तथा दक्षिण का एकीकरण

गायनित देवाः किल गीतकानि
धन्यास्तु ये भारतभूमिभागे ।
स्वर्गापवर्गास्यद्मार्गभूते

भवनित भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ॥

[भारत-गीत]

विष्णुपुराण २, ३, २४ ।

सम्यक्-प्रजापालनमात्राधिगतराजप्रयोजनस्य ।

[अर्थात्—वह समाट्, जिसका राज्य ग्रहण करने का प्रयोजन
केवल यही है कि प्रजा का सम्यक् रूप से पालन हो ।

—दक्षिणी भारत के गंग-वंश के शिला-लेख]

१५. आंध्र (सातवाहन) साम्राज्य के
अधीनस्य सदस्य या सामंत

₹ १५२, यहाँ सुन्मीते की बात यह होगो कि हम दक्षिणी
इतिहास का भी कुछ सिंहावलोकन कर लें जिससे हमें यह

पता चल जाय कि उत्तरी भारत पर उसका क्या प्रभाव पड़ा था और दक्षिण तथा उत्तर में किस प्रकार का संबंध था;

साम्राज्य-युगों की और तब इस बात का विचार करें कि पैराशिक योजना ग्रप्तों के साम्राज्यवाद पर उसका क्या प्रभाव पड़ा था। आंध्रों के समय से लेकर उसके आगे के इतिहास का वर्णन करते समय पुराण बराबर यह बतलाते चलते हैं कि साम्राज्य के अधिकार के अधीन कौन-कौन से शासक राजवंश थे। इस प्रकार का उल्लेख उन्होंने तीन राजवंशों के संबंध में किया है—आंध्र (सातवाहन), विंध्यक (वाकाटक) और गुप्त-राजवंश। यहाँ यह बात देखने में आती है कि जब साम्राज्य का केंद्र मगध से हटकर दूसरे स्थान पर चला जाता है अथवा जब साम्राज्य का अधिकार काण्वायनों के हाथ से निकलकर सातवाहनों के हाथ में चला जाता है, तब पुराण उन साम्राज्य-भोगी राजकुलों का वर्णन उनके मूल निवास-स्थान से आरंभ करते हैं, उनकी राजवंशिक उपाधियों से नहीं करते हैं। पुराणों में सातवाहनों को आंध्र कहा गया है, जिसका अर्थ यह है कि वे आंध्र देश के रहनेवाले थे। इसी प्रकार वाकाटकों को उन्होंने विंध्यक कहा है, अर्थात् वे विंध्य देश के रहनेवाले थे, और पुराण जब फिर मगध के वर्णन की ओर आते हैं, तब वे फिर गुप्तों का वर्णन उनकी राजवंशिक उपाधि से करते हैं। अब हम यह देखना चाहते हैं कि आंध्रों के साम्राज्य-

संघटन के विषय में पुराणों में क्या कहा गया है, क्योंकि बाकाटकों और गुप्तों से संबंध रखनेवाले पौराणिक उल्लेखों का विवेचन हम पहले कर ही चुके हैं ।

§ १५३. वायुपुराण और ब्रह्मांडपुराण में कहा गया है कि आंद्रों की अधीनता में पाँच सम-कालीन वंशों की स्थापना हुई थी । यथा—

वायु०—आंद्राणाम् संस्थिताः पञ्च तेषां वंशाः समाः पुनः ।

—वायु० ३७, ३५२^१ ।

ब्रह्मांड०—आन्द्राणाम् संस्थिताः पञ्च तेषां वंश्याः ये पुनः ।

—ब्रह्मांड० ७४, ७१^२ ।

इसके विपरीत मत्स्यपुराण, भागवत और विष्णुपुराण में पाँच की संख्या नहीं दी गई है, बल्कि इस प्रकार के तीन राजवंशों का वर्णन आया है । वायुपुराण और ब्रह्मांड-पुराण में दो राजवंशों के नाम भी दिए हुए हैं; और ये वही दोनों नाम हैं जो मत्स्यपुराण और भागवत में भी आए हैं, अर्थात् उनमें नामशः आभीरों और अधीनस्थ आंद्रों का उल्लेख है; परंतु उनका आशय तीन राजवंशों से है, क्योंकि उनमें कहा गया है कि आंद्र के अंतर्गत हम दो राजवंशों के वर्ष दे रहे हैं । वायुपुराण और ब्रह्मांडपुराण में जो पाँच राजवंशों की गिनती गिनाई गई है, उससे अनुमान होता है कि

१. Bibliotheca Indica, खंड २, पृ० ४५३.

२. वंशई का बैकटेश्वरवाला संस्करण, पृ० १८६.

कदाचित् उन्होंने अपनी सूची में मुंडानंदों और महारथी-वंश (मैसूर के कल्याण महारथों का वंश) भी उसमें सम्मिलित कर लिया है, जिनका पता उनके सिक्कों से चलता है^१ । परंतु इन दोनों राजवंशों का कुछ पहले ही अंत हो चुका था, इसलिये दूसरे पुराणों में केवल तीन राजवंशों का उल्लेख किया गया था । पुराणों में उन्हीं राजवंशों के वर्ष तथा क्रम दिए गए हैं जो अगले पौराणिक युग अर्थात् बाकाटकों (विष्णुकों) के समय तक चले आ रहे थे । इस संबंध में उनके मूल पाठ इस प्रकार हैं—

सत्य०—आंग्राणाम् संस्थिता राज्ये तेषां भृत्यान्वये नृपाः ।

सप्तैव आन्ध्रा भविष्यन्ति = दश आभीरस्तथा नृपाः ।

(२७१, १७-१८)^२

भाग०—सप्त = आभीर = आन्ध्रभृत्याः ।

विष्णु०—आन्ध्रभृत्याः सप्त = आभीराः^३ (जहाँ विष्णु-पुराण ने भागवत का कुछ अंश उद्धृत करते समय पढ़ने में कुछ भूल की है और आन्ध्रभृत्याः को सप्त आभीराः का विशेषण माना है ।)

१. रैप्सन-कृत C, A. D. पृ० ५७-६०. (संशोधन, पृ० २१२ में ।)

२. जे० विद्यासागर का संस्करण, पृ० ११६०.

३. जे० विद्यासागर का संस्करण, पृ० ५८४, ४, १४, १३.

इस प्रकार यह बात स्पष्ट ही है कि मत्स्यपुराण और भागवत में राजवंशों का संख्या नहीं दी गई है। उनमें यही कहा गया है कि आंध्रों के अधीन आभीरों और अधीनस्थ आंध्रों के राजवंश थे (यहाँ यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि साम्राज्य-भोगी आंध्रों से अधीनस्थ आंध्र अलग थे) और इन राजवंशों को स्थापना आंध्रों ने की थी। मिठ पारजिटर ने इन दोनों भिन्न भिन्न वावों को इस प्रकार मिलाकर एक कर दिया है, मानो वे दोनों एक ही हों और उनका एक ही अर्थ हो; और तब एक ऐसा नवा पाठ प्रस्तुत कर दिया है जो यहाँ सबसे ज्यादा गड़बड़ों पैदा करता है। इन दोनों राजवंशों के अतिरिक्त मत्स्यपुराण में एक और राजवंश का उल्लेख किया है, जिसका नाम उसमें श्री-पार्वतीय दिया है। परंतु इस वंश का उल्लेख केवल उसी में मिलता है, और किसी स्थान पर नहीं मिलता। मत्स्यपुराण में यह भी कहा गया है कि ये सब वंश अधीनस्थ या सामंत आंध्रों के समकाजीन थे, और इसलिये यह जान पड़ता है कि वे भी सावाहनों के ही स्थापित किए हुए थे, परंतु आंध्रों के समय में कदाचित् उनका उतना अधिक महत्व नहीं था, जितना वाकी दोनों राजवंशों का था। अब हम इन तीनों राजवंशों के इतिहास का विवेचन करते हैं।

₹ १५४. आंध्र वही हैं जिन्हें विष्णुपुराण में आंध्र-भूत्य कहा गया है, अर्थात् वे अधीनस्थ आंध्र हैं। मत्स्यपुराण,

वायुपुराण और ब्रह्मांडपुराण में सबसे पहले उन्हों का विवेचन हुआ है। इस बंश में सात पीढ़ियाँ हुई थीं। इस

अधीनस्थ आंघ्र विषय में भागवत भी उक्त पुराणों से सह-
और श्री-पार्वतीय मत है, पर उसमें अंतर केवल इतना ही है कि उसमें आभीरों को आंध्रों से पहले रखा गया है; परंतु इस बात से हमारे विवेचन पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि ये दोनों ही बंश सम-कालीन थे। भागवत ने कदाचित् भौगोलिक हठि से वर्णन किया है और उसका विवेचन उत्तर की ओर से आरंभ होता है। मत्स्यपुराण, वायुपुराण और ब्रह्मांडपुराण में यह भी बतलाया गया है कि किन किन बंशों ने कितने कितने दिनों तक राज्य किया था। (१) आंध्र (अधीनस्थ आंध्र) और (२) श्री-पार्वतीय राजबंशों के संबंध में मत्स्यपुराण की अधिकांश हस्त-लिखित प्रतियों में यह पाठ मिलता है—

आंध्राः श्रीपार्वतीयाश्च

ते द्वे पञ्च शतं समाः ।

अर्थात्—आंध्रों और श्री-पार्वतीयों ने (अर्थात् दोनों ने) १०५ वर्षों तक राज्य किया था।

इसके विपरीत वायुपुराण और ब्रह्मांडपुराण में यह पाठ है—

अंध्रा भोदयन्ति वसुधाम्

शतं द्वे च शतं च वै ।

अर्थात्—अंध्र लोग वसुधा का दो (राजवंश) एक सौ (वर्ष) और एक सौ (वर्ष) क्रमशः भोग करेंगे ।

यहाँ यह बात स्पष्ट है कि वायुपुराण और ब्रह्मांडपुराण में “अंध्र” शब्द के अंतर्गत दो राजवंशों का अंतर्भाव किया गया है—एक तो अधीनस्थ या भृत्य अंध्र जो साम्राज्यवाली उपाधि धारण करते थे और दूसरे अंध्र श्रोपार्वतीय । वायु और ब्रह्मांड दोनों हो पुराणों में इनका राज्य-काल एक सौ वर्ष कहा गया है; परंतु मत्स्यपुराण में एक सौ पाँच वर्ष कहा गया है । डा० हॉल (Dr. Hall) की ब्रह्मांड पुराणवाली प्रति में^१ और मि० पारजिटर की वायुपुराण-वाली प्रति में, जो वस्तुतः ब्रह्मांडपुराण की-सी प्रति है, एक वंश के लिये सौ वर्ष और दूसरे के लिये सौ वर्ष और छः महीने मिलते हैं । इस प्रकार वास्तव में ये तीनों ही पुराण तीन सामंत-वंशों के ही वर्णन करते हैं ।

१. Purana Text, पृ० ४६, टिप्पणी ३३ । कुछ हस्त लिखित प्रतियों में ‘शते’ शब्द को इस प्रकार बदल दिया गया है कि उसका अन्वय “दो” के साथ होता है; परंतु वास्तव में यह ‘दो’ शब्द वर्षों के लिये नहीं, बल्कि राजवंशों के लिये आया है ।

२. चिल्सन और हॉल का वायुपुराण ४, २०८. Purana Text, पृ० ४६, टिप्पणी ३४ ।

ऊपर जो यह कहा गया है कि “आंध्र लोग वसुधा का भोग करेंगे” उससे यह सूचित होता है कि इन परवर्ती आंध्रों ने साम्राज्य के अधिकार प्रहण किए थे। हम अभी आगे चलकर यह बतलावेंगे कि आंध्र देश के श्रीपार्वतीयों ने साम्राज्य का अधिकार प्रहण किया था और सातवाहनों के पतन के उपरांत दक्षिणी भारत में उन्होंके राजवंश ने सबसे पहले साम्राज्य स्थापित करने का प्रयत्न किया था।

₹ १५५. मत्स्यपुराण के अनुसार आभीरों की दस पीढ़ियाँ हुई थीं और उनका राज्य-काल ६७ वर्ष कहा गया

आभीर

है (सप्त षष्ठिस्तु वर्षाणि दशभीरास्त-

थैव च । तेषुत्सन्नेषु कालेन ततः किल-

किला-नृपाः ।) वायुपुराण और ब्रह्मांडपुराण में भी आभीरों की दस ही पीढ़ियाँ बतलाई गई हैं, परंतु भागवत में केवल सात ही पीढ़ियाँ बतलाई गई हैं और साथ ही भागवत में यह भी नहीं कहा गया है कि उनका राज्य-काल कितना था। विष्णुपुराण ने भी इस विषय में भागवत का ही अनुकरण किया है।

₹ १५६. इन सब बातोंका सारांश यही है कि सब मिलाकर तीन राजवंश थे, जिनमें से दो की स्थापना तो साम्राज्य-भोगी आंध्रोंने की थी और तीसरे राजवंश का उदय भी उसी समय हुआ था और जान पड़ता है कि वह तीसरा वंश भी उन्होंके अधीन था। यद्यपि उस समय तो उस

तीसरे राजवंश का कोई विशेष महस्त्र नहीं था, परंतु सात-वाहनों के पतन के उपरांत उन्होंने विशेष महस्त्र प्राप्त कर लिया था ।

इस प्रकार हमें पता चलता है कि—

- (१) अधीनस्थ (भृत्य) छोटे आंध्रों की सात पीढ़ियाँ थीं और उनका राज्य-काल १०० वर्ष अथवा १०५ वर्ष था ।
- (२) आभीर १० (अथवा ७) पीढ़ियाँ, ६७ वर्ष ।
- (३) श्रीपार्वतीय १०० अथवा १०५ वर्ष ।

अधीनस्थ या भृत्य आंध्र कौन थे और उनका इतिहास

§ १५७. ये अधीनस्थ या भृत्य आंध्र वस्तुतः वही प्रसिद्ध सामंत सातवाहन अथवा आंध्र हैं जिनके बंशजों में चुद्र बंश के दो हारितोपुत्र हुए थे और जिनके शिलालेख कन्हेरी (अपरांत), कनारा (बनवसी) और मैसूर (मलबली) में मिले हैं । इन शिलालेखों की लिपियों को देखते हुए इनका समय सन् २०० ई० से पहले नहीं रखा जा सकता ।

१. रैप्सन कृत C. A. D. ३१, ४३, ४८ और ५३-५५ कन्हेरी A. S. W. I. खंड ५, पृ० ८८; बनवसी, इं० एंटि०, खं० १४, पृ० ३३१ । मैसूर (मलबली का शिमोगा) E. C. ७, २५१ ।

२. राइस कृत E. C. खं० ८, पृ० २५२ के सामने का प्लेट । इं० एंटि०, खंड १४ । सन् १८८४ पृ० ३३१; पृ० ३३२ के सामने-

यद्यपि बनवसीवाले लेख की लिपि पुरानी है, परंतु उसी शासन-काल का मलवल्लीवाला जो शिलालेख है, उसकी लिपि वही है जो सन् २०० ई. में प्रचलित थी। यह मल-वल्लीवाला शिलालेख भी उसी प्रकार के अच्चरों में लिखा है, जिस प्रकार के अच्चरों में राजा चंडसाति का कोटवली-वाला शिलालेख है। सातवाहनों की शाखा में इस चंड-साति के बाद केवल एक ही और राजा हुआ था (द० एपिग्राफिया इंडिका, खंड १८, पृ० ३१८) और उसके लेख में जो तिथि मिलती है, उसका हिसाब लगाकर मि० कृष्णशास्त्रो ने उसे दिसंबर सन् २१० ई० म्थिर किया है; और यह तिथि पुराणों में दी हुई उसकी तिथि के बहुत ही पास पड़ती है (पुराणों के अनुसार इसका समय सन् २२८ ई० आता है। देखो विहार-उड्डोसा रिसर्च सोसाइटी का जरनल, सन् १९३०, पृ० २७६)। राजा हारितीपुत्र विष्णु-स्कंद चुदुकुलानंद शातकर्णि और उसके दौहित्र हारिती-वाला प्लेट। डा० बुह्लर ने समझा था कि बनवसीवाला लेख ईसवी पहली शताब्दी के अंत या दूसरी शताब्दी के आरंभ का है; परंतु डा० भगवानलाल इंद्रजी का मत है कि वह कुछ और बाद का है। ग्रो० रैप्सन ने C. A. D. पृ० २३ (भूमिका) में कहा है कि राजा हारितीपुत्र का समय अधिक से अधिक सन् ईसवी की तीसरी शताब्दी के आरंभ में रखा जा सकता है, इससे और पहले किसी तरह रखा ही नहीं जा सकता।

पुत्र शिव-स्कंद वर्मन् (वैजयंतोपति)^१ की वंशावली प्रो० रैष्णन ने बहुत ही ध्यान और विचारपूर्वक, इस वंश के तीन शिलालेखों और पहले कदंब राजा के एक लेख के आधार पर, फिर से ठीक करके तैयार की थी^२ । जिस सामग्री के आधार पर उन्होंने यह वंशावली प्रस्तुत की थी, उसे मैंने खूब अच्छी तरह देख और जाँच लिया है और इसलिये उसी को ग्रहण कर लेना मैंने सबसे अच्छा समझा है । हाँ, उसमें जो विष्णुकद नाम आया है, उसे मैंने विष्णु-स्कंद कर दिया है । यह वंशावली इस प्रकार है—

राजा हारितीपुत्र विष्णु-स्कंद (विष्णु-कद)

चुद्कुलानंद शातकर्णि = महाभेजी —

महारथी = नागमुलनिका

हारितीपुत्र शिव-स्कंद वर्मन्
(वैजयंती-पति)

§ १५८. इसमें कुछ भी संदेह नहीं है कि वंश का नाम चुद है । अभी तक ‘चुद’ शब्द की व्याख्या नहीं हुई है ।

यह वही शब्द है जिसका संस्कृत रूप चुण्ट है और जिसका अर्थ होता है—

चोटा होना । यह अभी तक चुटिया नागपुर में ‘चुटिया’

१. E. C. खंड ७, पृ० २५२ ।

२. C. A. D. पृ० ५३ से ५४ (भूमिका) ।

के रूप में पाया जाता है जिसका अर्थ होता है—छोटा नागपुर; और यह नाम उस नागपुर के मुकाबले में रखा गया है जो मध्य प्रदेश में है। बहुत कुछ संभावना इसी बात की जान पड़ती है कि यह द्रविड़ भाषा का शब्द है जिसे आयों ने ग्रहण कर लिया था। आधुनिक हिंदी में इसी का समानार्थक शब्द छोट है, जिसका अर्थ होता है—छोटा लड़का या भाई आदि। यह छोट भी वही शब्द है जो चुटिया नागपुर में चुटिया के रूप में है। चुटु और चुटु-कुल का अर्थ होना चाहिए—छोटी शास्त्रा अर्थात् साम्राज्य-भेगों सातवाहनों की छोटी शास्त्रा।

₹ १५८, पुराणों के अनुसार इस चुटु कुल का अंत वाकाटक-काल में अर्थात् सन् २५० ई० के लगभग हुआ था

रुद्रदामन् और सात- और उससे पहले १०० अथवा १०५ वाहनों पर उसका प्रभाव वधों तक उनका अस्तित्व रहा। इससे हम कह सकते हैं कि इस कुल का आरंभ सन् १५० ई० के लगभग हुआ होगा; और यह वह समय था जब कि रुद्रदामन् की शक्ति के उदय के कारण सातवाहनों को सबसे अधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा था। राजकीय संघटन के विचार से रुद्रदामन् की जो स्थिति थी, उसका ठीक ठीक महत्त्व अभी तक भारतीय इतिहास के ज्ञाताओं ने नहीं समझा है। उसे बहुत बड़ी शक्ति के बल अपनी उस कानूनी हैसियत के कारण प्राप्त हुई थी जो हैसियत

किसी शक-शासक को न तो उससे पहले ही और न उसके बाद ही इस देश में हासिल हुई थी। उसका पिता पूर्ण रूप से अधिकार-च्युत कर दिया गया था और राज्य से हटा दिया गया था। परंतु काठियावाड़ (सुराष्ट्र) और उसके आस-पास के समस्त हिंदू-समाज के द्वारा रुद्रदामन् राजा निर्वाचित हुआ था (सर्ववर्णोरभिगम्य रक्षणार्थी (म) पतित्वे वृत्तेन)। जिन सौराष्ट्रों ने उसे राजा निर्वाचित किया था, वे अर्थशास्त्र^१ के अनुसार प्रजातंत्री थे। निर्वाचित होने पर रुद्रदामन् को शपथपूर्वक एक प्रतिज्ञा करनी पड़ी थी, जिसकी घोषणा और पुष्टि उसने अपने जूनागढ़वाले शिलालेख में भी की है। उसमें उसने यह प्रतिज्ञा की थी कि—“मैं अपनी प्रतिज्ञा (अर्थात् राज्याभिषेक के समय की हुई शपथ^२) का सदा सत्यतापूर्वक पालन करूँगा।” रुद्रदामन् ने जो शपथ या प्रतिज्ञा की थी और अपने जूनागढ़वाले शिलालेख में उसने जो सार्वजनिक घोषणा की थी, उसका आशय यही था कि जब तक मुझ में दम रहेगा, तब तक मैं एक सच्चे हिंदू राजा की भाँति व्यवहार और आचरण करूँगा; और इस बात के उदाहरण-स्वरूप उसने कहा था कि जब मैंने सुदर्शन

१. ११. १२५।

२. सत्य प्रतिज्ञा अर्थात् वह प्रतिज्ञा जो राजा जो अपने राज्याभिषेक के समय करनी पड़ती थी। देखो Hindu Polity दूसरा भाग, पृ० ५०।

सागर नाम की झोल फिर से बनवाने का विचार किया, तब मेरे मंत्रियों ने उसका इसलिये विरोध किया कि उसमें बहुत अधिक धन व्यय होगा । उस समय मैंने उनका निर्णय मान लिया और अपने निजी धन से उसे फिर से बनवा दिया । इस राजा का आचरण और व्यवहार वैसा ही था, जैसा किसी पक्के से पक्के और कट्टर हिंदू राजा का हो सकता था; और इसी लिये हम यह भी मान सकते हैं कि यह बहुत ही लोक-प्रिय नेता बन गया होगा । वह संस्कृत का अच्छा जानकार और शास्त्रों का बड़ा पंडित था और उसने संस्कृत को ही अपने यहाँ फिर से राज-भाषा का स्थान दिया था । सातवाहन राजा को उससे बहुत बड़ा खटका हो गया था और उसने दक्षिणापथ के अधीश्वर को दो बार परास्त भी किया था । परंतु फिर भी हिंदू धर्म-शास्त्र के अनुसार उसने भ्रष्ट राजा (अर्थात् अपने पराजित शत्रु) को फिर से उसके राज-पद पर प्रतिष्ठित कर दिया था । उसके शासन के कारण सातवाहन साम्राज्य में एक नया संघटन हुआ था ।

६ १६०. बस इन्हीं सब परिस्थितियों में चुदु कुल या छोटे कुल का उदय हुआ था और उसके साथ ही साथ कुछ और भी अशोनस्थ या भृत्य-कुलों का भी उदय हुआ था । जो चुदुकुलानंद सिक्के मिलते हैं, वे संभवतः इसी काल के माने जा सकते हैं । यह चुदु या छोटा कुल

पश्चिमी समुद्र-तट की रक्षा करता था। उनकी राजधानी बनवसी (कनारा) प्रांत की वैजयंती नाम की नगरी में थी। उनका शिलालेख हमें उत्तर में कन्हेरी नामक स्थान में मिलता है और उनके सिक्के दच्चिण में करवार नामक स्थान में मिलते हैं जो बनवसी प्रांत में समुद्र-तट पर है। उनके जो सिक्के चुदुकुडानंद (नंबर जी० पी० २)^१ कहे जाते हैं, उन पर के अच्चर यद्यपि सन् १५०६० से भी अधिक पुराने जान पड़ते हैं, परंतु फिर भी उनमें “कु” का जो रूप है, जिसका सिरा कुछ मोटा है और उनमें जिस रूप में “न” के ठीक ऊपर अनुस्वार लगाया गया है और “स” का जो रूप है, वह बाद का है। ऐसा जान पड़ता है कि अच्चरों के पुराने रूप उन दिनों सिक्कों में प्रायः रख दिए जाते थे; और कुल मिलाकर वे सब सिक्के सौ बरसों के दरमियान में बने थे। यहाँ यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि ये सिक्के चुट-कुल के किसी राजा या व्यक्ति के नाम से नहीं बने थे, बल्कि उन सब पर उनकी राजकीय उपाधि या चुट-कुल का ही नाम दिया जाता था [राजा चुटकुडानंदस = अर्थात् चुट-कुल को आनंद देनेवाले (का सिक्का)]। और मुंडराष्ट के गवर्नर या शासक मुंडानंद के सिक्कों में भी हमें

यही विशेषताएँ दिखाई देती हैं। पल्लव शिलालेखों के अनुसार यह मुङ्डराष्ट्र आंध्र देश का एक प्रांत था^१ ।

§ १६१. ये चुदु राजा, जिन्हें पुराणों में भृत्य आंध्र कहा गया है, साम्राज्य-भोगी आंध्रों की एक शाखा के ही थे और

चुदु लोग और सात-इन्हों के द्वारा हमें सातवाहनों की बाहनों की जाति—मल-जाति का भी कुछ पता चल सकता बही शिलालेख है। मैंने एक दूसरे स्थान पर यह बतलाया है कि साम्राज्य-भोगी आंध्र ब्राह्मण जाति के थे। इस शाखा-कुल के वर्णन से इस मत की और भी पुष्टि होती है। उनका गोत्र मानव्य था जो केवल ब्राह्मणों का ही गोत्र होता है; और चुदु राजाओं के बाद भी यह बात मानी जाती थी कि वे ब्राह्मण थे। मैसूर के शिमोगा जिले में मलवल्ली नामक स्थान में शिव का एक मंदिर था जिसमें स्थापित मूर्त्ति का नाम मट्टपट्टि-देव था। इस मंदिर में एक चुदु-राजा ने कुछ जागीर चढ़ाई थी और उसे ब्रह्म-देव के रूप में एक ब्राह्मण को दान कर दिया था, जिसका नाम हारितीपुत्र कोडमान था और जो कौडिंन्य-गोत्र का था।

१. मुङ्डानंद का सिक्का नं० २३६ इसी वर्ग का है। जान पड़ता है कि इसका संपर्क मुङ्डराष्ट्र से था और मुङ्डराष्ट्र का नाम पल्लव शिलालेखों में आया है। (एपि० ई० ८, १५६) चुटिया नागपुर की मुङ्डारी भाषा में मुङ्डा शब्द का अर्थ होता है—राजा।

२. वि० उ० रि० सो० का जरनल, खंड १६, पृ० २६३-२६४।

इस दान का उल्लेख एक छः-पहलू खंभे पर अंकित है जो मलबली में जमीन पर पड़ा हुआ था^१ । उसमें चुदुराजा का नाम और वर्णन इस प्रकार दिया हुआ है—वैजयंतीपुर-राजा मानव्य सगोत्तो हारितोपुत्तो विष्टु कद चुदुकुलानंद सातकण्ण । इसी राजा ने अपने महावल्लभ राज्ञुक को इस संबंध की आज्ञा भेजी थी । जान पड़ता है कि उसके बादबाली किसी सरकार ने वह जागीर देवोत्तर समझकर फिर से किसी को दे दी थी । एक कदंब राजा ने बाद में फिर से “बहुत ही प्रसन्न मन से”^२ (परितुत्थेण अर्थात् परितुष्ट होकर) कोङ्डमान के एक बंशज को वह जागीर दान कर दी थी जो उस राजा का मामा और कौशिकीपुत्र था । इस दान में पुरानी जागीर तो थी ही, पर साथ ही उसमें बारह नए गाँव भी जोड़ दिए गए थे और उन सब गाँवों के नामों का भी वहाँ अलग अलग उल्लेख कर दिया गया है; और इस दान का भी उसी खंभे पर सार्वजनिक रूप से उल्लेख कर दिया गया था । पूर्वकालीन दाता ने जो दान किया था, उसका उस

१. E. C. खंड ७, २५१-२५२, अंक २६३-२६४ ।

२. देखो रायल एशियाटिक सोसाइटी के जरनल, सन् १६०५, पृ० ३०५, पाद-टिप्पणी २ में फ्लीट द्वारा इसका संशोधन । डा० फ्लीट ने यह मानकर कुछ गड़वड़ी पैदा कर दी है कि शिवस्कंद वर्मन् एक कदंब राजा था । परंतु वास्तव में यह चुदुराजा का नाम है जिसे प्रो० रैम्सन ने स्पष्ट कर दिया है । देखो C. A. I. LIV.

खंभे पर इस प्रकार उल्लेख है—शिव (खद) वम्मणा मानव्य-
सगोत्तेण हारितीपुत्तेन वैजयंती-पतिना पुब्व-दत्तिति । यहाँ
शिवखद वम्मन करणा कारक में आया है और इसके विपरीत
कदंब राजा प्रथमा में रखा गया है और यह शिवखद वम्मन
ही वह पहला राजा था जिसने वह दान किया था
(पुब्वदत्त) । इसमें उसके नाम के साथ भी वही उपा-
धियाँ हैं जो विष्णु-स्कंद शातकर्णि के शिलालेख में मिलती
हैं । उन दिनों नाम के आगे उसका सम्मान बढ़ाने के
लिये “शिव” शब्द जोड़ देने की बहुत
“शिव” सम्मान-सूचक है अधिक प्रथा थी । इस राजा की
माता का जो शिलालेख बनवासी में उत्कीर्ण हुआ था, उसके
अनुसार इस राजा का नाम शिवखद नागरि सिरी था; और
कन्हेरी में उसकी माता का जो शिलालेख है, उसमें उसका
नाम खंड नाग सातक दिया है । इसलिये इसके आरंभ का
“शिव” शब्द केवल सम्मान-सूचक है । सात और साति
बास्तव में स्वाति शब्द का ही रूप है और पुराणों में यह सात
या साति शब्द आंग्रों के कई नामों के साथ आया है ।
स्वाति का अर्थ होता है—तलबार । उसकी माता विष्णु-
स्कंद की कन्या थी । इसी का नाम विष्णु-कद या विष्णु-
कह भी मिलता है । यह चुद-कुल का राजा था और बन-
वसीवाले शिलालेख में इसी को सात-कण्ठ भी कहा गया
है । पहला दान स्वयं वैजयंती-पति हारितीपुत्र शिवस्कंद

वर्मन्^१ ने नहीं किया था और न उसने उसका उल्लेख ही कराया था, बल्कि उसके दादा विष्णु-स्कंद (विष्णु कह^२) सातकर्णि ने वह दान किया था और उसी ने उसे उत्कर्णि भी कराया था । और दूसरे अभिलेख में जो यह कहा गया है कि जब कदंब राजा ने यह सुना कि शिव-स्कंद वर्मन् ने पहले यह दान किया था, तब उसने बहुत ही प्रसन्नता-पूर्वक और परितुष्ट होकर उसे फिर से दान कर दिया, उसका आशय यह है कि प्र-पिता और पौत्र के नामों में कुछ गड़बड़ी हो गई थी और प्र-पिता के नाम के स्थान पर भूल से पौत्र का नाम लिख दिया गया था^३ ।

१. कदंब राजा ने “सात” को बदलकर “वर्मन्” कर दिया है अथवा “सात” के बाद ही वर्मन् भी जाइ दिया है; और यद्यपि उससे पहले तो यह प्रथा नहीं थी, पर हाँ उसके समय में राजा लोग अपने नाम के साथ “वर्मन्” शब्द जाइ लिया करते थे ।

२. मैं इसे “कड़ु” नहीं बल्कि “कह” पढ़ता हूँ । दूसरी पंक्ति में जो “द” है, उसे पहली पंक्ति के महृपट्टिदेव और नंद में के, तथा तीसरी पंक्ति के देश्य और दिग्म् में के “द” के साथ मिलाओ ।

३. अथवा यह भी हो सकता है कि शिवस्कंद ने फिर से उस दान की स्वीकृति दी हो और उसका समर्थन किया हो, जैसा कि उस पल्लव दान के संबंध में हुआ था जो एपि० ह० १, म० २ में प्रकाशित हुआ है और जिसमें पल्लव-समाट् ने अपने पिता “वण्ण” के किए हुए दान का समर्थन या पुष्टि की है ।

₹ १६२. मैंने वह प्लेट बहुत ध्यानपूर्वक पढ़ा है और चौथी पंक्ति में “शिव” शब्द के पहले मैंने देखा कि “कदंबा-मलवल्ली का कदव नाम् राजा” पढ़ना असंभव है। हाँ राजा; चुट्ठ-राजाओं के अंतिम पंक्ति में मुझे कदंबों के वैभव उपरांत पल्लव हुए थे का अवश्य उल्लेख मिला है, और उसी पंक्ति से यह भी सूचित होता है कि वह कदंबों का लिखवाया हुआ दानपत्र है। उस लेख की चौथी पंक्ति से ही बादवाले दान का उल्लेख आरंभ होता है; और उसमें का जो अंश पढ़ा जा सकता है, वह इस प्रकार है—शिव ख (द) वमणा मानव्य स(गो)त्तेन हारितीपुत्तेन वैजयंतीपति (न) (पंक्ति की समाप्ति)। “शिव” के पहले दो शब्द (राजा) और थे और तब उसके बाद खाली जगह है। “शिव” शब्द के पहले मिं० राइस ने पढ़ा था—“सिद्धम् जयति मट्टपट्टिदेवो वैजयंती-धम्म महाराजे पति-कत सौकायिच्छपरो कदंबानाम् राजा” और इसी में मुझे जयतिमट—ध(म्) महा...जा... लिखे होने के भी कुछ चिह्न मिलते हैं। इसके उपरांत मिं० राइस ने जिसे “धिराजे” पढ़ा है, वह ठीक और साक तरह से पढ़ा नहीं जाता, परंतु उसकी जगह पर मेरी समझ में यह पाठ है र (शा) म्मा अणप-ति...क। मिं० राइस ने जो “पति कद” आदि पढ़ा है, उसका कोई अर्थ नहीं होता। उन्होंने जिसे “धि रा जे प ति क त” पढ़ा है, वह मेरी समझ में “र (शा) म्मा अणप-ति” है। मुझे इस बात में

कुछ भी संदेह नहीं है कि “धन्ममहाराजे” के बाद (मयूर)-शास्त्रमा आण्प (य) ति था । “राजा” से पहले “प” के बाद जो छः अच्चर और “क” के बाद जो चार अच्चर मिट से गए हैं, यदि उन्हें खूब अच्छी तरह रगड़कर साफ किया जाय और तब उनकी प्रतिलिपि तैयार की जाय तो उनके वास्तविक स्वरूपों का पता चल सकता है । मयूर-शम्रा पहला कदंब राजा था । उसी ने यह दान फिर से जारी किया या दोहराया था ।

परंतु यह कोई आवश्यक निष्कर्ष नहीं हो सकता कि कदंबों के बाद तुरंत ही चुदुवंश का राज्य आरंभ हो गया था । चुदुओं और कदंबों का परस्पर संबंध था और कदंब लोग चुदुओं की ही एक शाखा थे (देखो ₹ २००) । अवश्य ही इन दोनों के मध्य में कोई शत्रु भी प्रवल हो गया होगा और वह शत्रु पल्लवों के सिवा और कोई नहीं हो सकता । तालगुड-वाले शिलालेख को देखते हुए इस विषय में कल्पना या अनुमान के लिये कोई स्थान नहीं रह जाता, क्योंकि उसमें यह कहा गया है कि पल्लवों के राज्य के कुछ अंश पर मयूरशम्रा ने अधिकार कर लिया था और उस पर अपना राज्य स्थापित किया था; और वह इसलिये राजा मान लिया गया था कि वह हारितीपुत्र मानव्य का वंशधर था ।

इस प्रकार ईसवी तीसरी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में चुदुओं को पल्लवों ने दबा लिया था; और जिस पल्लव राजा ने इस प्रकार चुदुओं को दबाया था, वह शिवस्कंद वर्मन् पल्लव से ठीक पहले हुआ था; अर्थात् वह शिवस्कंद वर्मन् का पिता था जिसने एक अश्वमेघ यज्ञ किया था (देखो § १८३) ।

§ १६३. कौँडिन्य लोग ईसवी दूसरी शताब्दी के आरंभ में ही चेत्र में आ गए थे । ये लोग कदाचित् उसी वंश के

वंशधर थे जिसने अपना एक वंशधर
कौँडिन्य

चंपा (इंडो-चाइना) में कौँडिन्य राज्य स्थापित करने के लिये भेजा था । जान पड़ता है कि साम्राज्य-भोगी सातवाहनों के समय में ये लोग उत्तरी भारत से बुलाए गए थे । यह वंश बहुत ही प्रतिष्ठित था । दो मलवल्ली अभिलेखों में इनका नाम बहुत सम्मानपूर्वक आया है और इनका राज-वंश के साथ संबंध था । चंपा में कौँडिन्यों के संबंध में जो अनुश्रुति है, उसका हमें यहाँ ऐतिहासिक समर्थन मिलता है । चंपा में जो उपनिवेश स्थापित हुआ था, उसे बसाने के लिये कौँडिन्यों के नेतृत्व में दक्षिण भारत से कुछ लोग गए थे । फिर समुद्रगुप्त के शासन-काल में एक और कौँडिन्य चंपा गया था, जहाँ उसने समाज-सुधार किया था । बहुत कुछ संभावना इसी बात की जान पड़ती है कि उसका संबंध भी इसी वंश के साथ रहा होगा । इन

कौड़िन्यों का अपनी चंपावाली शाखा के साथ अवश्य ही संपर्क रहा होगा और वह संपर्क उनके लिये बहुत कुछ लाभदायक भी होता ही होगा । इस प्रकार इसबीं दूसरी, तीसरी और चौथी शताब्दियों में दक्षिण भारत में भी और उपनिवेशों में भी वे लोग सामाजिक नेता थे ।

§ १६४. पुराणों में दी हुई बातों से आभीरों का इतिहास बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है । यद्यपि आभीरों की

आभीर

१० अध्यवा ७. पीढ़ियाँ कही गई हैं,

परंतु फिर भी उनका राज्य-काल केवल

६७ वर्ष था । साधारणतः यही माना जाता है कि उस समय के सातवाहनों के समय में इन आभीरों ने 'उस ईश्वर-सेन की अधीनता में एक राज्य स्थापित किया था, जिसका शिलालेख हमें नासिक में मिलता है' । उस शिलालेख में दो महत्त्वपूर्ण जानकारी की बातें मिलती हैं । (१) जो ईश्वरसेन उसमें राजा कहा गया है और जिसके शासन-काल के नवे वर्ष में वह लेख उत्कीर्ण हुआ था, वह किसी राजा का लड़का नहीं था, बल्कि उसका पिता शिवदत्त एक सामान्य आभीर था (शिवदत्तमाभीरपुत्रस्य) । और (२) जिस महिला ने वह दान किया था और सभी तरह के रोगी साधुओं की चिकित्सा आदि के लिये कुछ पंचायती

संघों के पास धन जमा कर दिया था, उसने अपने आपको “गणपक विश्ववर्मन् की माता” और “गणपक रेखिल की पत्नी” कहा है जिससे यह सूचित होता है कि उसके संबंधों किसी गण प्रजातंत्र के प्रधान थे। जिन आभीरों का साम्राज्य-भोगी सातवाहनों के समय में उदय हुआ था, जान पड़ता है कि उनका एक गण या प्रजातंत्र था और उनमें ईश्वरसेन ऐसा प्रधम व्यक्ति हुआ था जिसने राजा (राजन्) की उपाधि धारणा की थी। उसके संबंध में यह विश्वास किया जाता है कि उसने सन् २३६ और २३८ ई० के मध्य में शक चत्रप को अधिकार-चयुत करके निकाल दिया था। मत्स्यपुराण (देखो § १५५) में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि विंध्यशक्ति के उदय के पहले अर्थात् सन् २४८ ई० के लगभग आभीरों का अंत हो गया था। ऐसा जान पड़ता है कि जिस समय ईश्वरसेन का उदय हुआ था, उसी समय से पुराण यह मान लेते हैं कि आभीरों का गण या प्रजातंत्री और अधीनता का काल समाप्त हो गया था। यदि ६७ वर्ष के अंदर ही दस अश्वा सात आदमी बारी बारी से शासन के उत्तराधिकारी हों तो इसका अर्थ केवल यही हो सकता है कि उनमें गणतंत्र या प्रजातंत्र प्रचलित था और उसमें उसी तरह उत्तराधिकारियों या शासकों की पीढ़ियाँ होती थीं, जैसी पुष्यमित्रों तथा इसी प्रकार के दूसरे मित्रों में हुआ करती थीं, जिनका उल्लेख पुराणों में है; और प्रत्येक

अधिकारों का शासन-काल इसी प्रकार अल्प हुआ करता था। जिस समय समुद्रगुप्त चेत्र में आता है, उस समय हम फिर आभीरों का गणतंत्री या प्रजातंत्री समाज के रूप में पाते हैं। ईश्वरसेन ने कदाचित् आभीर संघटन बदल डाला था और एक राजवंश स्थापित करने का प्रयत्न किया था। नासिक-वाले शिलालेख में इस बात का उल्लेख है कि स्वयं ईश्वरसेन के समय में ही गणपतों का अस्तित्व था, अर्थात् गणतंत्र या प्रजातंत्र प्रचलित था और उसका प्रधान गणपत कहलाता था। यद्यपि अधिकतर संभावना तो इसी बात की जान पड़ती है कि वह गणतंत्र के बाहर का एक नया और एकतंत्री शासक या राजा था, परंतु यह भी हो सकता है कि वह एक गणतंत्री राजा रहा हो। जो हो, परंतु यह बात अवश्य निश्चित है कि उसके समय में आभीरों ने एक राजनीतिक समाज के रूप में सातवाहन राजवंश की अधोनता में रहना छोड़ दिया था। ईश्वरसेन के ६७ वर्ष पहले सातवाहनों ने जो आभीर गणतंत्र को मान्य किया था, उसका समय सन् १६० ई० के लगभग हो सकता है। रुद्रदामन् को गणतंत्री यौधेयों और मालबों ने बहुत तंग कर रखा था; और जान पड़ता है कि सातवाहनों ने आभीरों को बीच में इसी लिये रख लाड़ा था कि यौधेयों और मालबों के साथ विशेष संघर्ष की संभावना न रह जाय और आभीर लोग बीच में रहकर दोनों पक्षों का संघर्ष बचावें। सात-

वाहनों ने देखा होगा कि अपने पड़ोसी चत्रप के राज्य से ठीक सटा हुआ एक गण-तंत्र रखने में कई लाभ हैं ।

§ १६५. पुराणों में आभीर शासकों की संख्या के संबंध में कुछ गड़बड़ो है; कहाँ वे १० कहे गए हैं और कहाँ ७; और यह गड़बड़ी इसलिये हुई है कि इसके ठीक बाद ही एक और संख्या भी दी गई है अर्थात् कहा गया है कि गर्दभिलों में सात शासक हुए थे । भागवत में कहा गया है कि गर्दभिलों में १० और आभीरों में ७ शासक हुए थे और दूसरे पुराणों में कहा गया है कि आभीरों में १० और गर्दभिलों में ७ शासक हुए थे । यह संख्या-विपर्यय के कारण होनेवालो भूल है । परंतु भागवत के अतिरिक्त और सभी पुराण इस बात में सहमत हैं कि आभीरों में १० शासक हुए; और इसलिये यही बात अधिक ठीक जैचती है ।

§ १६६. जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, कौटिल्य के समय में काठियावाड़ में सौराष्ट्रों का गणतंत्र था । जान पड़ता है कि आभीर और सौराष्ट्र लोग यादवों और अंधक वृष्णियों के ही संगी-साथी और रितेदार थे ।

श्रीपार्वतीय कौन थे और उनका इतिहास

§ १६७. गंद्वर जिले में कृष्णा नदी के किनारे नागार्जुनी-कोंड अर्थात् नागार्जुन की पहाड़ों पर अभी हाल में जो कई

शिलालेख मिले हैं, उनके आधार पर डा० हीरानंद शास्त्री ने यह निश्चय कर लिया है कि श्रीपर्वत कौन था । वे सब

श्रीपर्वत शिलालेख ईसवी तीसरी शताब्दी के हैं । इन पहाड़ियों के बीच में एक

उपत्यका या घाटी है; और इन पहाड़ियों पर उन दिनों किलेबंदी थी । ईटों की किलेबंदी के कुछ भग्नावशेष वहाँ अभी तक वर्तमान हैं और वे ईटें मौर्य ढंग की हैं । सैनिक कार्यों के लिये यह स्थान बहुत ही उपयुक्त था और एक ढढ़ गढ़ का काम देता था, और जान पड़ता है कि मौर्यों के समय अथवा उससे भी और पहले से वह स्थान प्रातीय राजधानी के रूप में चला आ रहा था । वहाँ शत्रुओं से अपना बचाव करने के लिये जो प्राकृतिक योजनाएँ थीं, उन्हें ईटों और पत्थरों की किलेबंदी से और भी ज्यादा मजबूत कर लिया गया था । वे ईटें २० इंच लंबी, १० इंच चौड़ी और ३ इंच मोटी हैं । और यही नाप उन ईटों की भी है जो बुलंदी बाग में खोदकर निकाली गई हैं ।

१. आरकियालोजिकल सर्वे रिपोर्ट, १९२६-२७, पृ० १५६ और उसके आगे; १९२७-२८, पृ० ११४ । लिपि के संबंध में देखो आर० स० रिपोर्ट १९२६-२७, पृ० १८५-१८६ । जब मेरो यह मूल पुस्तक छुपने लगी थी, तब सुझे एपिग्राफिया इंडिका, संड २० का पहला अंक मिला था जिसमें डा० वोगेल ने इन शिलालेखों को संपादित करके प्रकाशित कराया है ।

लक्षणों से सिद्ध होता है कि इस स्थान पर सातवाहनों के साम्राज्य की किलेबंदीवाली राजधानी थी, जिनके सिक्के—जिनकी संख्या ४४ थी—एक मठ के भग्नावशेष में मैमारों के औजारों के साथ पाए गए थे ।

§ १६८. मि० हामिद कुरेंशी और मि० लांगहर्स्ट ने इस स्थान पर बौद्धों के कुछ ऐसे स्तूपों के भग्नावशेष भी आंध्र देश के श्रीपर्वत खेल निकाले हैं जिन पर अमरावती का इच्छाकुंभश के ढंग की नक्काशी है । वहाँ मि० कुरेंशी ने अठारह शिलालेख ढाँड़ निकाले थे जिनमें से पंद्रह शिलालेख संगमरमर के पत्थरों पर खुदे हुए हैं । ये सब खंभे एक ऐसे महाचेतिय या बड़े स्तूप के चारों ओर गढ़े थे जिसके अंदर महात्मा बुद्ध के मृत शरीर का कुछ अंश (दाँत या अस्थि आदि) रक्षित था^१ । शिलालेखों से पता चलता है कि उस स्थान का नाम श्रीपर्वत था । हम यह अनुश्रुति भी जानते हैं कि सुप्रसिद्ध बौद्ध भिन्नु और विद्वान् नागार्जुन श्रीपर्वत पर चला गया था और वहाँ उसकी मृत्यु हुई थी, और इस संबंध में एक बहुत ही अद्भुत बात यह है कि उस पहाड़ों का आजकल भी जो नाम (नागा-

१. आरकियालोजिकल सर्वें रिपोर्ट, १९२७-२८, पृ० १२१ ।

२. महाऽ बुद्ध के शरीर का वह अवशेष अब मिल गया है ।
देखा Modern Review (कलकत्ता), १९३२, पृ० ८८ ।

जुनीकोंड) प्रचलित है, उससे भी इस बात का समर्थन होता है। युआन-चवांग ने लिखा है कि नागार्जुन सात-वाहन राजा के दरबार में रहता था^१। सब शिलालेख पाली दंग की प्राकृत भाषा में हैं। पत्थर की कुछ इमारतें और असलो इमारतें भी कुछ खियाँ की बनवाई हुई थीं; और ये सब इमारतें भिज्जु और स्थपति आनंद के कहने से और उसी की देख-रेख में बनवाई गई थीं। ये सब खियाँ इच्चवाकु (इखाकु) राजवंश की थीं। सन् १८८२ ई० में जग्गट्यपेट नामक स्थान में जो तीन शिलालेख मिले थे, उनसे हमें इच्चवाकु-वंश का पहले से ही पता लग चुका है; और डाक्टर बुढ़र ने यह निश्चय किया था कि ये सब शिलालेख ईसवी तीसरी शताब्दी के हैं^२। मि० कुर्सी को जो अठारह शिलालेख मिले थे, उनसे पता चलता है कि राजवंश की कई खियाँ पक्की बौद्ध थीं, परंतु राजा लोग सनातनी हिंदू थे और उनकी राजधानी विजयपुरी पास ही उस घाटों में थी^३। इनमें से अधिकांश शिलालेख राजा सिरि बीर पुरिसदत के शासन-काल के ही हैं जो उसके राज्यारोहण के छठे और अठारहवें वर्ष के बीच के हैं। जग्ग-ट्यपेट में, जिसका समय संवत् २० है, एक शिलालेख

१. Watters, २, २००, २०७।

२. इंडियन एंटिक्वेटी, खंड ११, पृ० २५६।

३. आरक्षियालोजिकल सर्वे रिपोर्ट, १८८७-८८, पृ० ११७।

महाराज वासिठोपुत्र स्थिरि बाहुबल चाटमूल (अथवा 'चाटमूल द्वितीय) के राज्यारोपाद्य के ग्राहक हैं वर्ष का है । इन शिलालेखों द्वारा जगायपेटवाले शिलालेखों के मिलान से नीचे लिखा वंश-दृच तैयार होता है

चातिसिरि = महातलवर
पृक्षिय का कन्दसिरि

महाराज वासिठोपुत्र
इयाकु स्थिरि चाटमूल
(एषि० ई० २०-१८)

भडवि चाटसिरि =
महातलवर ?

१. जान पक्ता है कि तलवर का संवेष उस तरवाड़ याद ते है जो आदालतों के मुकदमों की रिपोर्ट (Law Reports) में तरवाड़ के रूप में भिलता है और जिसका अर्थ है—ऐसा राज्य जो किसी दूसरे को दिया जा सकता है । महातलवर का मतलब होगा—यहाँ याजा या वहुत बड़ा जागीरदार ।

२. इसका विवाह धनकल के महादेवनायक चंड = चियावाक से हुआ था ।

बंडसारमनका

कन्या

राजा माहिरपुत्र

विपिसिरिनिका

सिरिविरपुरिसदत

चान्तिसिरि

भट्टेवा

महादेवी

महाराज

सिरि बाहुबल

महादेवी

(चामूल द्वितीय)

कोदबलिसिरि

चनचास के महाराज

ब्रह्मिसिरि

महादेवी

महाराज सिरि बाहुबल

(चामूल द्वितीय)

विपिसिरिनिका
सिरिविरपुरिसदत =
भट्टेवा
महादेवी
ब्रह्मिसिरि
महादेवी

१. इन नामों के संरक्षित रूप इस प्रकार होगे —

विरपुरिसदत = चीरपुरावदत । चान्तिसिरि = शान्तिश्री । हम्मसिरि = भिका = हायंधीका । छित्र = पट्टी (कात्ययिनी देवी) । चाट = यात (जिसका अर्थ होता है — प्रसन्न) ।
हा० हीरानंद शास्त्री ने लो “बाहुबल” पढ़ा है, वह ठीक है । देखो ग्यारहवाँ प्लेट जिसमें यह स्थू
चौकोर “व” है । हा० चोरोल ने जो इसे “एहुबल” पढ़ा है, वह प्लेट को देखने से ठीक नहीं जान पड़ता ।
प्लेट नी (G) में “व” का रूप गलत बना है, परंतु उसका पूरा रूप प्लेट एच (H) में मिलता है जिसमें
यह दो चार आया है और दोनों चार स्पष्ट “व” ही है ।

वीर पुरिसदत्त ने अपनी तीन ममेरी बहनों के साथ विवाह किया था, जिनमें से दो उसी तिथि के शिलालेखों में “महादेवी” कही गई हैं (एपि० इं०, खंड २०, पृ० १८-२०) । इनमें से भट्टदेव कदाचित् सबसे बड़ी रानी थी और वह चाटमूल द्वितीय की माता थी । इसके अतिरिक्त राज-परिवार की चार और खियों ने भी बड़े बड़े दान किए थे, पर शिलालेखों में यह नहीं कहा गया है कि राजा अथवा राज-परिवार के साथ उनका क्या संबंध था । उनके नाम इस प्रकार हैं—

१. महादेवी रुद्रधर भट्टारिका (अर्थात् उज्जैन से आई हुई) जो एक महाराज की लड़की थी । महाचेतिय से संबद्ध विहार को इसने चातिसिरि के साथ मिलकर १०७ खंभे और बहुत से दीनार दिए थे ।
२. एक महातलवरी जो महातलवर महासेनापति विण्हुसिरि की माता और प्रकीयों के महासेनापति महातलवर वासिठीपुत महाकुण्डसिरि की पत्नी थी ।
३. चुल चाटसिरिका महासेनापत्री जो हिरंजकस के महासेनापति महातलवर वासिठीपुत खंड चलिकी-रेम्मणक की पत्नी थी ।

बनवास का कोई एक महाराज भी था, जिसे इच्चाकु राज-परिवार की एक लो (चाटमूल द्वितीय की बहन) व्याही

थी। वह या तो चुट्ठ-राजाओं में अंतिम था और या अंतिम राजाओं में से एक था; और उसकी उपाधियों से यह जान पड़ता है कि वह इच्चवाकुओं का अधीनस्थ या भृत्य हो गया था। यह स्पष्ट है कि चाटमूल प्रथम पहले सातवाहनों के अधीन एक महाराज था। शिलालेखों में उसकी उपाधि साधारणतः छोड़ दी गई है और उसके संबंध में केवल इसी प्रकार उल्लेख किया गया है—“इच्चवाकुओं का सिरि चाट-मूल”। और जहाँ उसकी उपाधि भी दी गई है [जैसे उसकी लड़की ने एक स्थान पर उसकी उपाधि दी है; देखो एपिग्राफिया इंडिका, खंड २०, पृ० १८ (बी२)]। वहाँ उसे सदा “महाराज” ही कहा गया है; परंतु वीरपुरिसदत्त का सदा (केवल दो स्थानों को छोड़कर) राजन् ही कहा गया है। वीरपुरिसदत्त का पुत्र चाटमूल द्वितीय सदा “महाराज” ही कहा गया है (एपिग्राफिया इंडिका, खंड २०, पृ० २४)। इससे सूचित होता है कि चाटमूल प्रथम ने राजकीय पद ग्रहण किया था और उसके बाद केवल एक पीढ़ी तक उसके बंश में वह पद चला था और चाटमूल द्वितीय के समय में उसके बंश से वह पद निकल गया था। रुद्रधर भट्टारिका उज्जयिनी के महाराज की कन्या थी; और इससे यह प्रमाणित होता है कि इच्चवाकुओं के समय में अवंती में कोई ज्ञात प नहीं बल्कि एक हिंदू शासक राज्य करता था; और इस बात की पुष्टि पौराणिक इतिहास से

भी तथा दूसरे साधनों से भी होती है। रुद्रधर भट्टारिका का पिता अवश्य ही भार-शिव साम्राज्य का एक सदस्य रहा होगा (वह भार-शिव साम्राज्य का कोई अधीनस्थ राजा होगा) ।

§ १६८. राजा सिरि चाटमूल (प्रथम) ने अग्निहोत्र, अग्निष्ठोम, वाजपेय और अश्वमेष यज्ञ किया था और वह देवताओं के सेनापति महासेन का उपासक था। इन लोगों में अपनी मौसेरी और ममेरी बहनों से विवाह करने की इच्छाकुओंचाली प्रथा प्रचलित थी। वैद्य धर्म के प्रति उन लोगों ने जो सहनशीलता दिखलाई थी, वह अवश्य ही बहुत मार्के की थी। राजपरिवार की प्रायः सभी स्त्रियाँ वैद्य थीं; और यद्यपि राजाओं तथा राज-परिवार के दूसरे पुरुषों ने उन स्त्रियों को दान करने के लिये धन दिया था, परंतु फिर भी किसी राजा अथवा राज-परिवार के दूसरे पुरुष ने स्वयं अपने नाम से एक भी दान नहीं किया था। इच्छाकुओं ने अपने पुराने स्वामी सातबाहनों की ही धार्मिक नीति का अनुकरण किया था। उनका शासन बहुत ही शांतिपूर्ण था। वीरपुरुषदत्त के समय के शिलालेखों में से एक शिलालेख में यह कहा गया है कि नागार्जुन की पहाड़ी पर वंग, वनवास, चीन, चिलात, काश्मीर और गांधार तक के यात्रों तथा सिंहली भिज्जु आदि आया करते थे।

§ १७०. चातिसिरि के परिवार के शिलालेखों की लिपि से सिद्ध होता है कि वह ईसवी तीसरी शताब्दी में दक्षिण और उत्तर हुई थी। बुहर ने वीरपुरिसदत्त का पारस्परिक प्रभाव का, जो चातिसिरि का भतीजा और दामाद था, समय ईसवी तीसरी शताब्दी निश्चित किया है। जान पड़ता है कि राजा चाटमूल (प्रथम) ने सन् २२० ई० के लगभग अर्थात् आँध्र के साम्राज्यभोगी सातवाहन राजवंश के चंडसाति का अंत होने के थोड़े ही दिन बाद अश्वमेध यज्ञ किया था^१। इसके कुछ ही दशकों के बाद पल्लव राजा शिवस्कंद वर्मन् ने भी इसी प्रकार के यज्ञ (अग्निष्ठोम, वाजपेय, अश्वमेधरै) किए थे और वाका-

१. इंडियन एंटिकवेरी, खंड ११ पृ० २५८।

२. सन् २१० ई० के लगभग का उसका अभिलेख वहाँ पाया जाता है (एपि० ई० १८, ३१८)। इसके उपरांत राजा पुलोमावि (तृतीय) हुआ था और पुराणों में उसी से इस वंश का अंत कर दिया गया है (वि० उ० ८० रि० सो० का जरनल, खंड १६)। और जान पड़ता है कि राजा पुलोमावि तृतीय अपने पूर्वजों के समस्त राज्य का उत्तराधिकारी नहीं हुआ था।

३. एपि० ई० खंड १, पृ० ५. शिवस्कंद वर्मन् के पिता के नाम के साथ जो विशेषण लगाए गए हैं, वे इच्छाकु शैली के हैं जिससे सुन्दर होता है कि इच्छाकुओं के ढीक बाद ही उसे राजकीय अधिकार प्राप्त हुए थे॥ यथा—

टक सम्माट् प्रवरसेन प्रथम ने भी और भी अधिक ठाठ-बाट से ये सब यज्ञ किए थे । इस प्रकार यहाँ आकर उत्तर भारत और दक्षिण भारत के इतिहास परस्पर संबद्ध हो जाते हैं ।

§ १७१. इन लोगों का वंश उत्तर से आए हुए अच्छे चत्रियों का था । प्राचीन इच्चाकुओं की भाँति ये लोग भी अपनी मौसेरी, और ममेरी आदि बहनों के साथ विवाह करते थे । जान पड़ता है कि जिस समय सातवाहन लोग उत्तर में संयुक्त प्रांत तथा बिहार तक पहुँच गए थे; और जिस समय वे साम्राज्य के अधिकारी थे संभवतः उसी समय ये लोग उत्तर भारत से चलकर दक्षिण की ओर गए थे । शीर्षवंश के इच्चाकुओं में चाटमूल प्रथम ऐसा पहला राजा था, जिसने अपने पूर्ण स्वाधीन शासक होने की घोषणा की थी; और यह घोषणा उसने संभवतः अपने शासन के अंतिम दिनों में की थी । परंतु यह एक ध्यान रखने की बात है कि शिलालेखों में उसका नाम बिना किसी उपाधि के आया है । केवल भटिदेवा के शिलालेख में उसका नाम उपाधि-सहित है, जिसमें उसको सामंतवाली महाराज को उपाधि दी गई है । केवल वीरपुरिसदत को राजन् को उपाधि प्राप्त थी । शिलालेखों में चाटमूल द्वितीय के नाम के साथ वही सामंतों-

(इच्चाकु) हिरण्य-केऽदिनो-सतसहस-हल-सत-सहसदायिस ।

(पल्लव) अनेक-हिरोग-केऽहो-गो-हल-सतसहस-प्यदायिनो ।

बाली “महाराज” की उपाधि मिलती है। उसने दक्षिणा-पथ के दक्षिणी साम्राज्य को फिर से स्थापित करने का प्रयत्न किया था और इसका आरंभ उसने एक अश्वमेघ यज्ञ से किया था। उत्तर में जो राजनीतिक काम भार-शिव कर रहे थे, वही दक्षिण में इच्चवाकु लोग करना चाहते थे। जान पढ़ता है कि भार-शिवों का उदाहरण देखकर ही चाटमूल (प्रथम) ने भी उनका अनुकरण करना चाहा था; क्योंकि उत्तर में भारशिव उस समय तक अपनी योजना सफलतापूर्वक पूरी कर चुके थे और उन्होंने मध्य प्रदेश में आंध्र की सीमा तक अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया था। उत्तर के साथ इच्चवाकुओं का जो संबंध था, उसकी पुष्टि इस बात से भी हो जाती है कि इच्चवाकु की राजियों में से एक रानी उड़जयिनी से आई थी।

§ १७२. हम यह मान सकते हैं कि चंद्रसाति सातवाहन के उपरांत सन् २२० ई० के लगभग इच्चवाकु वंश ने साम्राज्य स्थापित करने का विचार किया था। इनकी तीन पोंडियों

१. एपिग्राफिया इंडिका, खंड १८, पृ० ३१८। राजा वासिंहिपुत समि (स्वामिन्) चंद्रसातिवाला शिलालेख उसके राज्य-काल के दूसरे वर्ष में उत्कीर्ण हुआ था और उस पर तिथि दी है म १, हे २, दि १। मि० कृष्ण शास्त्री इसका अर्थ लगाते हैं—मार्गशीर्ष वहुल प्रथमा; और हिसाब लगाकर उन्होंने निश्चय किया है कि वह शिलालेख दिसंबर सन् २१० ई० का है। मिलान करो पुराणों में दिया

ने राज्य किया था, इसलिये हम कह सकते हैं कि इस वंश का अंत सन् २५०-२६० ई० के लगभग हुआ होगा; और इस बात का मिलान पुराणों से भी हो जाता है, क्योंकि उनमें कहा गया है कि जिस समय विंध्यशक्ति का उदय हुआ था, उसी समय इच्चवाकु वंश का अंत हुआ था। सातवाहनों ने जिस समय चुदुओं और आभीरों को स्थापना की थी, लगभग उसी समय इच्चवाकुओं की भी स्थापना की थी। चुदु और आभीर लोग तो पश्चिम की रक्षा करते थे और इच्चवाकु लोग पूर्व की ओर नियुक्त किए गए थे। चाटमूल द्वितीय इस वंश का कदाचित् अंतिम राजा था। शिवस्कंद वर्मन् पल्लव के एक सामंत महाराज (जिसे म्वामी पिता या वर्षप्रस्वामिन् कहा गया है) के शासन-काल के दसवें वर्ष में हम देखते हैं कि आंध्र देश पर पल्लव सरकार का अधिकार था अर्थात् सन् २७० ई० के लगभग (६६ १८०, १८७) इच्चवाकु लोग अज्ञात हो गए थे। अतः इन शासनों का समय लगभग इस प्रकार होगा—

चाटमूल प्रथम (सन् २२०—२३० ई०)

हुआ इस राजा का तिथि-काल सन् २२८-२३१ ई०, जिसका विवेचन विहार-उड्डीसा रिसर्च सोसाइटी के जरनल खंड १६, पृ० २७६ में हुआ है। उक्त शिलालेख पिढापुरम् से नौ मील की दूरी पर कोडवलि नामक स्थान में है।

पुरिसदत (सन् २३०-२५० ई०)

चाटमूल द्वितोय (सन् २५०-२६० ई०)

₹ १७२ क्रीपर्वत की कला में द्वारपाल के रूप में
एक शक की मूर्ति मिलती है^१ और इसका संबंध सातवाहन
श्रीपर्वत और वेंगी-काल से ही हो सकता है। विरोधी
वाली कला और शत्रु शक को जो द्वारपाल का
पद दिया गया है, उसी से उसका समय निश्चित हो सकता
है; और एक विहार के खँडहरों में जो सातवाहन-सिक्के
पाए गए हैं, उनसे भी समय निश्चित हो सकता है। खंभों
में जो मूर्तियाँ बनी हुई हैं, वे उसी अमरावती की कला की
हैं जिसे भारतोय-कला की वेंगीवाली शाखा कहते हैं।
जैसा कि अमरावती-वाले शिलालेखों (एपि० ई०, खंड १५,
पृ० २६७) से प्रमाणित होता है, वह कला ईसवी सन् से
कई शताब्दी पहले से चली आ रही थी। अमरावती में
जो बहुत बढ़िया नक्काशी के काम हैं, वे मेरी समझ में
सातवाहनों के ही समय के हैं, जिनका व्यक्तिगत नाम शि-
येन-ते-क या शन्ते-क (वाटर्स Watters २, २०७) था
और जो मुझे शांतकर्ण का ही बिगड़ा हुआ रूप जान पड़ता
है; और शांतकर्ण शब्द सातवाहन सूची में तीन बार आया
है। युआन-चवांग ने जो यह अनुश्रुति सुनी थी कि सात-

१. मार्डन रिव्यू, कलकत्ता, जूलाई १९३२, पृ०, ८८।

वाहन राजा नागार्जुन का संरक्षक था, वह तब तक प्रामाणिक नहीं हो सकती, जब तक नागार्जुन ईसा या ईसवी सन से पहले न हुआ हो । युआन-चवांग ने लिखा है कि मूल स्तूप अशोक का बनवाया हुआ था । इच्चाकुओं ने जो काम किया था, वह सातवाहनों की नकल था । केवल शातकर्णि द्वितीय ही इतना संपन्न था कि वह अशोक के आंग्रे देशवाले स्तूप को अलंकृत कर सकता । उसका शासन-काल भी बहुत विस्तृत था (उसने ई० प० सन १०० से सन ४४ तक राज्य किया था । देखो बिहार-उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी का जरनल, खंड १६, पृ० २७८) । और अशोक के स्तूप को अलंकृत करने के लिये उसी को यथेष्ट समय मिला था । फिर युआन-चवांग ने भी यही लिखा है कि वह सातवाहन राजा बहुत दीर्घजीवी था और उसके पुत्र का शासन-काल अमरावती में एक स्थान पर अंकित है (देखो ल्यूडर्स नं० १२४८) । यह भी प्रवाद है कि स्तूप बनवाने में जब राजा शातक सातवाहन का खजाना खाली हो गया, तब नागार्जुन ने पहाड़ी में से निकालकर उसे बहुत सा सोना दिया था । और हो सकता है कि इस जनश्रुति का मूल यह हो कि नागार्जुन ने ही सबसे पहले मैसूर या बालाघाट-वाली सोने की खान का पता लगाया हो । नागार्जुन ने अपने दीर्घ जीवन में जिन बहुत-सी विद्याओं का ज्ञान प्राप्त किया था, उनमें धातुओं और रसायन की विद्याएँ भी थीं ।

१६. पल्लव और उनका मूल

§ १७३. जो पल्लव लोग सातवाहनों के अंतिम अवशिष्टों अर्थात् इच्चाकुओं और चुदुओं को दबाकर और अधिकार-भारतीय इतिहास में चयुत करके स्वयं उनके स्थान पर बैठे पल्लवों का स्थान थे, उनका भारतीय इतिहास में सबसे अधिक महत्वपूर्ण स्थान है। उन्हें दक्षिण भारत के वाकाटक और गुप्त ही समझना चाहिए। जिस प्रकार उत्तर भारत में वाकाटकों ने संस्कृत का फिर से प्रचार किया था, उसी प्रकार दक्षिण भारत में पल्लवों ने किया था। और जिस प्रकार उत्तर भारत में वाकाटकों ने शैव धर्म को राजकीय धर्म बनाया था, उसी प्रकार पल्लवों ने उसे दक्षिण में राजकीय धर्म बनाया था। जिस प्रकार गुप्तों ने उत्तरी भारत में वैष्णव धर्म को ऐसा स्थायी रूप दिया था कि वह आज तक प्रचलित है, उसी प्रकार पल्लवों ने दक्षिणी भारत में शैव धर्म की ऐसी जबरदस्त छाप बैठाई थी कि वह धर्म आज तक वहाँ प्रचलित है। जिस प्रकार वाकाटकों और गुप्तों ने समस्त उत्तरी भारत को मिलाकर एक किया था, उसी प्रकार पल्लवों ने दक्षिणी भारत में वह एकता स्थापित की थी जो विजयनगर के अंतिम दिनों तक ज्यों की त्यों बनी रही थी। जिस प्रकार वाकाटकों और गुप्तों ने उत्तर भारत को तच्छ-कला और स्थापत्य से अलंकृत किया था, उसी प्रकार पल्लवों ने दक्षिणी भारत को तच्छ और स्थापत्य से

सुशोभित किया था । उनकी वह प्रणाली वास्तव में समस्त भारतवर्ष अर्थात् समस्त भारत और द्वीपस्थ भारत के लिये सार्वदेशिक सामाजिक प्रणाली बन गई थी । जो एकता स्थापित करने में अशोक को भी विफल-मनोरथ होना पड़ा था, वह एकता वाकाटकों और पल्लवों के समय में भारत में पूर्ण रूप से स्थापित हो गई थी । और सध्यता की वही एकता बराबर आज तक चली आ रही है । जो काँची चोलों की पुरानी राजधानी थी और जो उस समय पवित्र आर्य भूमि के बाहर मानी जाती थी, उसे इन पल्लवों ने दूसरी काशी बना डाला था और उनके शासन में रहकर दक्षिणी भारत भी हिंदुओं का उतना ही पवित्र देश बन गया था, जितना पवित्र उत्तरी भारत था । जो भारतवर्ष खार-बेल के समय में कदाचित् उत्तरी भारत तक ही परिमित था,^१ उसकी अब एक ऐसी नई व्याख्या बन गई थी जिसके अनुसार कन्या कुमारी तक का सारा देश उसके अंतर्गत आ जाता था । पहले आर्यावर्त और दक्षिणापथ दोनों एक दूसरे से विलकुल अलग माने जाते थे; पर अब उनका एक ही संयुक्त नाम भारतवर्ष हो गया था^२ । और विष्णुपुराण में हिंदू इतिहास-लेखक ने इस आशय का एक राष्ट्रीय गीत बनाकर सम्मिलित कर दिया था—

१. एपिग्राफिया इंडिका, खंड २०, पृ० ७२, पंक्ति १० ।

२. विष्णुपुराण, खंड २, अ० ३, श्लोक १—२३ ।

“भारतवर्ष में जन्म लेनेवालों का देवता भी बड़ाई देते और उनसे ईर्ष्या करते हैं। स्वर्ग में देवता लोग भी यह गाते हैं कि भारतवर्ष में जन्म लेनेवाले पुरुष धन्य हैं। और हम लोग भी उसी देश में जन्म लें।”

अब लोगों का वह पुराना आयोवाला हृषिकोण नहीं रह गया था और उसके स्थान पर उनका हृषिकोण “भारतीय” हो गया था और लोग “भारती संततिः” पद का प्रयोग करने लगे थे, जिसके अंतर्गत इस देश में जन्म लेनेवाले सभी लोग आ जाते थे, फिर चाहूँ वे आर्य हो और चाहे अनार्य^१ ।

₹ १७४. जिन पल्लवों ने दक्षिण को पवित्र हिंदू देश बनाया था, वे ब्राह्मण थे; और जैसा कि उन्होंने गर्वपूर्वक पल्लवों का उदय अपने शिलालेखों में कहा है, उन लोगों नामों के सामंतों के रूप ने विकट तथा उप्र राजनीतिक कार्य में हुआ था। करके अपनी मर्यादा बढ़ाई थी और वे चत्रिय बन गए थे। उनका यह कथन बिलकुल ठीक है। पल्लव राजवंश के संस्थापक का नाम वीरकूर्च था और उसका विवाह नाग सम्राट् की कन्या और नाग राजकुमारी के साथ हुआ था और इसी लिये वह पूर्ण राज-

१. उक्त, २४-२६।

२. उक्त, श्लोक १७।

चिह्नों से अलंकृत हुआ था^१ । उन दिनों अर्धान् तीसरी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जो नाग सम्राट् था, वह भार-शिव नाग था जिसका राज्य नागपुर और बस्तर से होता हुआ ठेठ आंध्र देश तक जा पहुँचा था । बोरकूर्च (अथवा वीर-कोर्च) के पैत्र का एक शिलालेख आंध्र देश में मिला है जिसमें वह पल्लव राजवंश का मूल पुरुष कहा गया है; और उसके नाम के साथ सामंतोवाली “महाराज” की उपाधि दी गई है; और उसका वर्णन इस प्रकार किया गया है कि यद्यपि वह ब्राह्मणों के सर्वेच लक्षणों से युक्त (परम ब्रह्मण्य) था, तथापि उसने चत्रिय का पद प्राप्त किया था^२ । और इस प्रकार वह भार-शिव साम्राज्य का एक सदस्य और अंग था और उसे उप-राज का पद प्राप्त था । स्वयं आंध्र देश में इससे पहले और कोई नाग वंश नहीं था । वहाँ तो इच्छाकुरु लोग थे और उनसे भी पहले सातवाहन थे ।

१. यः कर्णन्दसुतया सहामहीद्राजचिह्नमखिलं यशोधनः । South Indian Inscriptions, २, ५०८ ।

२. परमब्रह्मण्यस्य स्ववाहुवलाक्षिंतक्षात्रतपोनिषेविधिविहितसव्य-मर्यादस्य । एफिकाफिया इंडिका १, ३६८ (दर्शी-वाले ताम्रलेख) । यहाँ महाराज को वीरकोर्च वर्मन् कहा गया है । यही वह सबसे पुराना अभिलेख है जिसमें उसका नाम आया है ।

३. कृष्णा जिले में बृहत् पलायनों का एक वंश था (एपि० इ० ६, ३१५) और इस वंशवाले कदाचित् इच्छाकुओं के अथवा आर-

जिन नागों ने बीरकूर्च पल्लव को उप-राज के पद पर प्रतिष्ठित किया था, वे अवश्य ही साम्राज्य के अधिकारी रहे होंगे और अवश्य ही आंध्र राज्यों की सीमा पर के होंगे। और ये सब बातें केवल साम्राज्य-भोगी भार-शिव नागों में ही दिखाई देती हैं।

§ १७५. यहाँ हमें बौद्ध इतिहास से सहायता मिलती है और उससे कई बातों का समर्थन होता है। स्याम सन् ३१० ई० के देश के बौद्ध इतिहास के अनुसार लगभग नाग साम्राज्य सन् ३१० ई० में आंध्र देश नाग में आंत्र राजाओं के अधिकार में था और उन्होंने महात्मा बुद्ध के उस दाँत का कुछ अंश सिंहल ले जाने की आङ्गा प्राप्त की गई थी जो आंध्र देश के दंतपुर नामक

भिक पल्लवों के सामंत थे। जयवर्मन बृहत् पलायन के पहले या बाद में उसके बंश का और कोई पता नहीं मिलता। इसके ताम्र-लेखों के अक्षर पल्लव युवराज शिवस्कंद वर्मन् के ताम्रलेख के अक्षरों से मिलते हैं (एपि० ई०, ६, ८४)। यहाँ यह एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या बृहत् फल से प्रसिद्ध दक्षिणी बंश बृहत्-बाण का ही अभिप्राय तो नहीं है, क्योंकि बाण के अग्र भाग को भी फल ही कहते हैं? मग्नरशर्मन् के समय में बृहत् बाण लोग पल्लवों के सामंत थे (एपि० ई०, ८, ३२)। जान पड़ता है कि कदाचित् “बाण” और “फल” दोनों ही शब्द किसी तामिल शब्द के अनुवाद हैं।

स्थान में था^१ । अंग देश में इस स्थान को मजेरिक कहते हैं जो मेरी समझ में गोदावरी की उस शाखा का नाम है जिसे आज-कल मंभिर कहते हैं^२ । वैद्वानों ने जिस “नाग” राजा का वर्णन किया है, वह पल्लव राजा होना चाहिए जो नाग साम्राज्य के अधीन था; और उस समय (अर्थात् सन् ३०० ई० के लगभग) नाग सम्राट् था और उस नाग राजकुमारी के गर्भ से उत्पन्न हुआ था जिसके साथ वीरकृच ने विवाह किया था (देखो § १८२ और उसके आगे) ।

§ १७६. आखिर ये पल्लव कौन थे ? जब से पल्लवों

पल्लव कौन थे

अनेक विद्वानों ने इस प्रश्न की मीमांसा करने का प्रयत्न किया है । लेकिन

फिर भी पल्लव संबंधी रहस्य का अभी तक कुछ भी पता नहीं चला है । कुछ दिनों यह प्रथा सी चल गई थी कि जिस राजवंश के संबंध में कुछ पता नहीं चलता था, उसके संबंध में यही समझ लिया जावा था कि उस राजवंश के लोग मूलतः विदेश से आए हुए थे; और इसी फेर में पड़कर

१. कनिष्ठम कृत Ancient Geography of India (१८२४ वाला संस्करण) पृ० ६१२ ।

२. उक्त ग्रंथ, पृ० ६०५, कनिष्ठम का विचार है कि जिस स्तूप से महात्मा बुद्ध का दौत निकालकर स्थानांतरित किया गया था, वह अमरावती-वाला स्तूप ही है ।

लोगों ने पल्लवों को पार्श्वियन मान लिया था । परंतु इतिहासज्ञों को इससे संतोष नहीं होता था और बहुत कुछ अपने अंतःकरण की प्रेरणा से ही वे लोग इस परिणाम पर पहुँचे थे कि पल्लव लोग इसी देश के निवासी थे । परंतु वे लोग या तो उन्हें द्रविड़ समझते थे और या यह समझते थे कि लंका या सिंहल के द्रविड़ों के साथ उनका संबंध था । ये सभी सिद्धांत स्थिर करने में उन लिखित प्रमाणों और सामग्री की उपेक्षा की गई थी जो किसी प्रकार के बाद-विवाद के लिये कोई स्थान ही बाकी नहीं छोड़ती । इतिहासज्ञों के द्वारा जिस प्रकार की दुर्दशा शुंगों की हुई थी, उसी प्रकार की दुर्दशा पल्लवों को भी उनके हाथों भोगनी पड़ी थी । बस्तुतः पल्लव लोग बहुत अच्छे और कुलीन ब्राह्मण थे; परंतु वे अपनी इस वास्तविक और सभी मर्यादा से अच्छित कर दिए गए थे । सब लोगों ने कह दिया था कि शुंग भी विदेशी ही थे । पर अंत में मैंने वह सिद्ध कर दिखलाया था कि शुंग लोग वैदिक ब्राह्मण थे और उन्होंने एक ब्राह्मण साम्राज्य की स्थापना की थी; और यह एक ऐसा निष्कर्ष है जिसे अब सभी जगह के लोगों ने बिल-कुल ठीक मान लिया है । उनके मूल की कुंजी इस देश के सनातनी साहित्य में मिली थी । पल्लवों की जाति और मूल आदि निर्णय करने के लिये भी हमें उसी प्रणाली का प्रयोग करना चाहिए । पल्लवों के रहस्य का उद्घाटन

करनेवाली कुंजी पुराणों के विष्यक इतिहास में बंद है। वह कुंजी इस प्रकार है—साम्राज्य-भोगी विष्यकों अर्थात् साम्राज्य-भोगी वाकाटकों की एक शाखा के लोग उस आंध्र के राजा हो गए थे जो मेकला के वाकाटक प्रांत के साथ संबद्ध हो गया था। मैंने यह निश्चय किया है कि यह मेकला वही सप्त कोशलावाला प्रांत था जो उस मैकल पर्वत-माला के नीचे था जो आज-कल हमारे नक्शों में दिखलाई जाती है, अर्थात् जहाँ आज-कल रायपुर का औंगरेजी जिला और बस्तर की रियासत है। वाकाटक साम्राज्य के संस्थापक विष्यशक्ति के समय से लेकर समुद्रगुम की विजय के समय तक आंध्र देश के इन वाकाटक अधोनस्थ राजाओं की सात पीढ़ियों ने राज्य किया था। इस प्रकार यहाँ हमें एक ऐसा सूत्र मिल जाता है जिससे हम यह पता लगा सकते हैं कि ये पल्लव कौन थे। दूसरा सूत्र वाकाटकों की जाति और गोत्र है। वाकाटकों के शिलालेखों से हमें यह बात ज्ञात हो चुकी है कि वे लोग ब्राह्मण थे और भारद्वाज गोत्र के थे। तीसरी बात यह है कि पल्लव लोग आर्यावर्त के थे और उनकी भाषा उत्तरी थी, द्रविड़ नहीं थी। चौथी बात विष्यशक्ति का समय और वंश है। और पाँचवों बात यह है कि जिस समय विष्यशक्ति का उदय हुआ था, उस समय आर्यावर्त तथा मध्यप्रदेश पर नाग सम्भाट् राज्य करते थे और विष्यशक्ति उन्होंके कारण और उन्हों लोगों में से अर्थात्

किलकिला नागों में से निकलकर सबके सामने आया था, इसकि उसके संबंध में कहा गया है कि 'ततः किलकिलोभ्यश्व विष्वशक्तिर्भविष्यति' । विष्वशक्ति के राजा और सम्राट् किलकिला नाग अर्थात् भार-शिव नाग थे (देखो ११ और उसके आगे) । अब हमें यह देखना चाहिए कि विष्यकों के आंध्र अधीनस्थ राजाओं में पहचान के ये पौँछों लक्षण कहाँ मिलते हैं; और हम कह सकते हैं कि ये पौँछों लक्षण पल्लवों में मिलते हैं । सन् २५० ई० के लगभग तक आंध्र देश में पूर्वी समुद्र-तट पर अवश्य ही इच्छाकु राजा राज्य करते थे और उन्होंके सम-कालीन चुदु सातवाहन थे जो परिचमी समुद्र-तट पर राज्य करते थे । विष्वशक्ति का समय सन् २४८ (अथवा २४४) से २८८ ई० तक है । इस समय में हम देखते हैं कि पल्लवों ने इच्छाकुओं और चुदुओं को दबाकर उनके स्थान पर अधिकार कर लिया था । पल्लवों ने जो जो दान किए थे और जो अभिलेख आदि सन् ३०० ई० के लगभग अथवा उससे कुछ पहले^१ ताम्रपत्रों पर उत्कीर्ण

१. मिलाओ कृष्णशास्त्री का यह मत—“शिवस्कंद वर्मन् और विजयस्कंद वर्मन् के प्राकृत भाषा के राजकीय घोषणापत्र यदि और पहले के नहीं हैं, तो कम से कम ईसवी नौथी शताब्दी के आरंभ के तो अवश्य ही हैं” । (एपिग्राफिया इंडिका, खंड १५, पृ० २४८) और उनके इस कथन से मैं पूर्ण रूप से सहमत हूँ । यह लिखावट नाग शैली की है जिसका दक्षिण भारत में पल्लवों ने पहले-पहल

कराए थे, उनमें वे अपने आपको भारद्वाज कहते हैं; और इस वंश के आगे के जो अभिलेख आदि मिलते हैं, उनसे यह बात और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है कि पल्लव लोग भारद्वाज गोत्र के थे। वे लोग द्रोणाचार्य और अश्वतथामा के वंश के भारद्वाज थे; और इसलिये वे लोग भी उसी नामान्धय गोत्र के थे जिस गोत्र का विंध्यशक्ति था। उनके ताम्रलेखों में उनकी भाषा प्राकृत या संस्कृत है, द्रविड़ नहो है। अपने आरंभिक ताम्रलेखों में उन लोगों ने प्राकृत के जिस रूप का व्यवहार किया है, वह रूप उत्तरी भारत का है। थोड़े ही दिनों बाद अर्थात् तीसरी पीढ़ी में और नाग साम्राज्य का अंत होने के उपरांत तत्काल ही वे लोग संस्कृत का व्यवहार करने लगे थे, जिसकी शैली बाकाटकों की संस्कृत शैली ही है। साम्राज्य-भोगो बाकाटकों की भाँति वे लोग भी शैव थे। जैसा कि हम अभी ऊपर बतला चुके हैं, पल्लव-वंश के अभिलेखों में कहा गया है कि जब पल्लव वंश के मूल पुरुष का एक नाग राजकुमारी के साथ विवाह हुआ था, तब नाग सम्राट् ने इस वंश के मूल पुरुष को राजा बना दिया था। विंध्यशक्ति के इन वंशजों के संबंध में, जो समुद्रगुप्त के समय तक आंध्र देश में राज्य करते थे,

प्रचार किया था। अल्लरो के ऊपरी भाग यद्यपि सन्दूकनुमा या चौकोर नहीं है, परंतु फिर भी उन पर शीर्ष-रेखाएँ अवश्य हैं।

पुराणों में कहा गया है कि इनकी सात पीढ़ियों ने राज्य किया था; और समुद्रगुप्त के समय तक के आरंभिक पल्लवों की सात पीढ़ियाँ हुई थीं (देखो ₹ १८३) । इस प्रकार पहचान के सभी लक्षण वाकाटकों की बातों से मिलते हैं । उन दोनों का गोत्र एक ही है और उनकी भाषा, धर्म, समय और संवत् और उनका नामों के अधीन होना आदि सभी बातें पूरी तरह से मिलती हैं । और पुराणों ने विश्वक वंश की आंघ्र-वाली शाखा के संबंध में जितनी पीढ़ियाँ बतलाई हैं, समुद्रगुप्त के समय तक पल्लवों की उतनी ही पीढ़ियाँ भी होती हैं । इस प्रकार इनकी पहचान के संबंध में संदेह होने का कुछ भी स्थान बाकी नहीं रह जाता । पल्लव लोग वाकाटकों की ही एक शाखा के थे । और जब वे लोग अपने अभिलेखों आदि में यह कहते हैं कि हम लोग द्रोणाचार्य और अश्वत्थामा के वंशज हैं, तब वे मानों एक सत्य अनुश्रुति का हो उल्लेख करते हैं । वाकाटक लोग भारद्वाज थे और इसलिये वे द्रोणाचार्य और अश्वत्थामा के वंश के थे । और मैंने स्वयं वुंदेलखंड में वाकाटकों के मूल-निवास-स्थान वागाट नामक कस्बे में जाकर यह देखा है कि वह स्थान अब तक द्रोणाचार्य का गाँव कहलाता है; और ये वही द्रोणाचार्य थे जो कौरवों और पांडवों को अर्जु-विद्या की शिक्षा देते थे (₹ ५६-५७) । कला और धर्म के लोत्र में पल्लवों की जो उत्तर भारतीय संस्कृति देखने में आती है,

और जिसके कारण उनका वंश दच्चिणी भारत का सबसे बड़ा राजवंश समझा जाता है, उस संस्कृति का रहस्य इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है। पल्लव लोग न तो विदेशी ही थे और न द्रविड़ ही थे, वलिक वे उत्तर की ओर से गए हुए उत्तम और कुलीन ब्राह्मण थे और उनका पेशा सिपह-गरी का था।

§ १७७. गंग-वंश इस बात का उदाहरण है कि वंशों का कुछ ऐसा नाम रख लिया जाता था, जिसका न तो

पल्लव

गोत्र के साथ कोई संबंध होता था

और न वंश के संस्थापक के नाम के

साथ। संभवतः इसी प्रकार वंश का यह “पल्लव” नाम भी रख लिया गया था। “पल्लव” शब्द का अर्थ होता है—शाखा; और जान पड़ता है कि इस वंश का यह नाम इसलिये रख लिया गया था कि यह भी साम्राज्य-भोगी सातवाहनों की एक छोटी शाखा, चुदुओं की तरह थी, और इस वंशवालों ने सातवाहनों को दबाकर उनके स्थान पर अधिकार कर लिया था। साम्राज्य-भोगी सातवाहनों के वंश के साथ चुदुओं का जो संबंध था, वही संबंध पल्लवों का साम्राज्य-भोगी भारद्वाज वाकाटकों के साथ था, अर्थात् यह भी वाकाटकों के वंश की एक शाखा हो थी। पहले पल्लव राजा का नाम बोरकूच था। कूच शब्द का अर्थ होता है—टहनियों का गुच्छा या मुट्ठा; और इसका भी आशय

बहुत से अंशों में वही है जो “पल्लव” शब्द का होता है। असल नाम “बीर” जान पड़ता है जो आगे चलकर उसके पाते बीरबर्मन् के नाम में दोहराया गया है (देखो १८१ और उसके आगे) । विंध्यशक्ति के दूसरे लड़के का नाम प्रबीर था जो कदाचित् छोटा था, क्योंकि उसने बहुत दिनों तक शासन किया था । जिस प्रकार प्रबीर ने अपने पुत्र का विवाह नाग सम्भ्राट् की कन्या के साथ किया था और इस प्रकार नाग साम्राज्य पर अधिकार प्राप्त किया था, उसी प्रकार बीर ने भी एक नाग राजकुमारी के साथ विवाह किया था और इस प्रकार वह अंग देश का राजा बनाया गया था । संभवतः उसका पिता नागों का सेनापति रहा होगा और उसी ने अंग देश पर विजय प्राप्त की होगी । पल्लव शिलालेख में यह बात बहुत ठीक कही गई है कि बीरकूर्च के पूर्वज नाग सम्भ्राटों को उनके शासन-कार्यों में सहायता दिया करते थे; और इसका मतलब यह होता है कि वे लोग नाग साम्राज्य के अफसर या प्रधान कर्मचारी थे । हम यह बात पहले ही जान चुके हैं कि विंध्यशक्ति भी पहले केवल एक अफसर या प्रधान कर्मचारी था और कदाचित् नाग सम्भ्राटों का प्रधान सेनापति था (५८) । नाग राजा के शासन-कार्य के भार के संबंध में शिलालेख में “भार” शब्द आया है । और भार-शिव नाग में जो

“भार” शब्द है, वह उक्त “भार” शब्द की प्रतिध्वनि भी हो सकता है और नहीं भी हो सकता।

§ १७८. पल्लवों ने स्वभावतः साम्राज्य-भोगी वाकाटकों के राज-चिह्न घारण किए थे और यह बात उनकी

पल्लव राज-चिह्न मोहर (S. I. I. २. ५२१) से भी और दक्षिण भारत के साम्राज्य-चिह्नों

के परवर्ती इतिहास से भी सिद्ध होती है (§ ६१ और पाद-टिप्पणियाँ तथा § ८६) । पल्लवों की मोहर पर भी गंगा और यमुना की मूर्तियाँ अंकित हैं और इन मूर्तियों के संबंध में हम जानते हैं कि ये वाकाटकों के राज-चिह्न हैं । मकर तोरण भी कदाचित् दोनों में समान रूप से प्रचलित था । शिव का नंदी या वैल भी दोनों में समान रूप से रहता था, जिसका मुँह बाईं और होता था और जो स्वयं दाहिनी ओर होता था ।

बेलुरपल्लीयम् वाले प्लेट, श्लोक ४, S. I. I. २. ५०७-५०८ ।
[स्थान-नाम भू-भाग के संबंध में देखो आगे परिषिष्ट क ।]

१. एपिग्राफिया इंडिका, खंड ७, पृ० १४४ में और रुद्रसेन के सिक्के (§ ६१ और ८६) में पल्लव, मोहर पर देखो—मकर का खुला हुआ मुँह ।

२. देखो एपिग्राफिया इंडिका, खंड ८, पृ० १४४ में यह मोहर और इस ग्रंथ के दूसरे भाग में दिए हुए वाकाटक-सिक्कों के चित्रों में बना हुआ नंदी । परवर्ती पल्लव अभिलेखों में यह नंदी बैठा या लेटा हुआ दिखलाया गया है ।

₹ १७८, पल्लवों और बाकाटकों में कभी कोई संघर्ष नहीं हुआ था। आरंभिक पल्लवों ने कभी अपने सिक्के धर्म-महाराजाधिराज नहीं चलाए थे। दूसरे राजा शिव-स्कंद वर्मन् ने एक नई राजकीय उपाधि का प्रचार किया था। वह अपने आपको धर्म-महाराजाधिराज कहने लगा था, जिसका अर्थ होता है—धर्म के अनुसार महाराजाओं का भी अधिराज। इससे पहले सातवाहनों ने कभी इस उपाधि का प्रयोग नहीं किया था। यह उपाधि उत्तर की ओर से लाई हुई थी अथवा कुशन लोग जो अपने आपको “दैवपुत्र शाहानुशाहो” कहते थे, उसी का यह हिंदू संस्करण था अथवा उसी के जोड़ की यह हिंदू उपाधि थी। पल्लव राजा अपने आपको दैवपुत्र नहीं कहता था, बल्कि उसका दावा यह था कि मैं सनातनी धर्म अथवा सनातनी सभ्यता का पक्का अनुयायी हूँ; और यह बात हिंदू राष्ट्रीय संघटन के नियम के बिलकुल अनुरूप थी। दैवपुत्र के स्थान पर उसने “धर्म” रखा था। यहाँ यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि इत्वाकुओं ने कभी इस उपाधि का प्रयोग नहीं किया था, बल्कि वे लोग पुरानी हिंदू शैली के अनुसार अपने पुराने स्वामी सातवाहनों की तरह अपने आपको केवल “राजन्” ही कहते थे। इस प्रकार

१. एक इत्वाकु अभिलेख (एपि० ई०, खंड २०, पृ० २३) में तीनों राजाओं को “महाराज” कहा गया है। यह अंतिम उल्लेखों

हम देखते हैं कि पल्लवों ने आरंभ से ही उत्तर भारत की साम्राज्य-बालों भावना के अनुसार ही सब कार्य किए थे। शिवस्कंद वर्मन् प्रथम के जीवन-काल में अथवा उसकी मृत्यु के उपरान्त तुरंत ही जब विंध्यशक्ति की आर्यावर्तवाली शाखा ने साम्राज्य पद प्राप्त किया था, तब भी यही धर्म के अनुसार सर्व-प्रधान शासक होने का विचार और भी अधिक विस्तृत रूप में देखने में आता है। समस्त भारत के सम्राट् का वही धर्म था जिसका महाभारत में पूर्ण रूप से विधान किया गया है।

जब मुख्य वाकाटक शाखा ने सम्राट् की उपाधि धारणा की, तब पल्लव-वंश ने स्वभावतः “महाराजाधिराज” की पदवी का प्रयोग करना छोड़ दिया। हम लोगों के समय में दक्षिण भारत में साम्राज्य की शैली प्रहण करनेवाला शिवस्कंद वर्मन् पहला और अंतिम व्यक्ति था। यह बात स्वयं समुद्रगुम के शिलालेख से ही प्रकट होती है कि उससे पहले ही शिवस्कंद वर्मन् का अंत हो चुका था, क्योंकि उसने

में से एक है। कदाचित् उस समय उनकी स्वतंत्रता नष्ट हो गई थी। पहले वे लोग “महाराज” ही थे। इच्छाकुओं में सबसे पहले वीरपुरुषदत्त ने ही “राजन्” की उपाधि धारण की थी। उसका पुत्र केवल “महाराज” था।

१. देखो कौलहान की Southern List. एफ्रिकिया इंडिका, खंड ७, पृ० १०५।

अपने शिलालेख में विधुगोप को कांची क शासका लिखा है। इस प्रकार शिवस्कंद वर्मन् का समय आवश्यक रूप से सन्नाट् प्रवरसेन प्रथम के शासन-काल में पढ़ता है। प्रवरसेन प्रथम के समय से ही पल्लव राजा लोग धर्म महाराज कहलाते चले आते थे और पहले गंग राजा को, जो प्रवरसेन के समय में गद्दी पर बैठाया गया था, धर्म-धिराज की उपाधि का प्रयोग करने की अनुमति दी गई थी (§ १८०)। धर्म-महाराज की उपाधि के बाल दच्छिणी भारत में पल्लव और कदंब राजा ही धारण करते थे और वहाँ से यह उपाधि सन् ४०० ई० से पहले चंपा (कंबोडिया) गई थी^१ ।

§ १८०. शिवस्कंद वर्मन् जिस समय युवराज था, उस समय उसने कदाचित् उप-शासक की हैसियत से (युव-महाराज भारदायसगोत्तो पल्लवानाम् शिवस्कंद-वर्मो—एपि-प्राकिया इंडिका, खंड ६, पृ० ८६) अपने निवास-स्थान कांचीपुर से एक भूमि-दान के संबंध में एक राजाज्ञा प्रचलित की थी। जो भूमि दान की गई थी, वह आंध्र पथ में थी और वह आज्ञा उसके पिता के शासन-काल के दसवें वर्ष में

१. हम देखते हैं कि चंपा (कंबोडिया) में राजा भद्रवर्मन् यह उपाधि धारण करता था। देखो आर० सी० मञ्चुमदार कृत Champa (चंपा), तीसरा खंड, पृ० ३ ।

धान्यकटक नामक स्थान के अधिकारी के नाम प्रचलित की गई थी। दान संबंधी उस राजाज्ञा से सूचित होता है कि दूसरी पीढ़ी में पल्लवों का राज्य दूसरे तामिल राज्यों को दबा लेने के कारण इतना अधिक बढ़ गया था कि वह शिवस्कंद वर्मन् की उच्च अभिलाषा के अनुरूप हो गया था। धर्ममहाराजाधिराज शिवस्कंद वर्मन् ने अपने पिता^१ को “महाराज वर्प्प स्वामिन्” (सामी) लिखा है जिससे सूचित होता है कि उसका पिता अपने आरंभिक जीवन में एक सामंत मात्र था और अपने वंश में सबसे पहले शिवस्कंद वर्मन् ने ही पूरी राजकीय उपाधि धारण की थी। उसके पिता ने दस वर्ष या इससे कुछ अधिक समय तक शासन किया था; क्योंकि युव-महाराज शिवस्कंद वर्मन् ने जो दान किया था, वह अपने पिता के शासन-काल के दसवें वर्ष में किया था। जान पड़ता है कि उसका पिता नागों का सामंत था और उसने इच्छाकुओं की सु-संघटित और व्यवस्थित सरकार या राज्य का उत्तराधिकार प्राप्त किया था,

१. एपिग्राफिया इंडिका, संड १, पृ० ६ में कहा गया है कि वर्प्पा ने सोने की करोड़ों मोहरें लोगों को बाँटी थीं; और यह उल्लेख वास्तव में उसके अध्यमेघ यज्ञ के संबंध में होना चाहिए। मिलाओं चाटमूल प्रथम का वर्णन, एपिग्राफिया इंडिका, संड २०, पृ० १६। एपि० इ० १. ८ से पता चलता है कि उसका पुत्र अपने आपको “पल्लवों के वंश का” कहता था। एपिग्राफिया इंडिका, ६, ८२।

क्योंकि इन दोनों प्राकृत ताम्रलेखों और उसके पुत्र के तथा इच्चवाकुओं के दूसरे लिखित प्रमाणों से यही बात सिद्ध होती है ।

§ १८१. वीरवर्मन् और उसका पुत्र स्कंदवर्मन् द्वितीय भी प्रबरसेन प्रथम के सम-कालीन ही थे । स्कंदवर्मन् द्वितीय के समय में पल्लव दरबार की भाषा प्राकृत से बदल-कर संस्कृत हो गई थी । उसकी पुत्र-बधू ने जा दान किया था, वह उसके शासन-काल में ही किया था (एपिग्राफिया इंडिका, खंड ७, पृ० १४३) और उसका उल्लेख उसने प्राकृत भाषा में किया है; परंतु स्वयं स्कंदवर्मन् ने (एपि० ३०, १५) और उसके पुत्र विष्णुगोप ने संस्कृत का व्यव-हार किया है । और संस्कृत का यह प्रयोग उसके बाद की पीढ़ियों में बराबर होता रहा था । यदि कांची का युव-महाराज विष्णुगोप (इंडियन एंटिकवेरी, खंड ५, पृ० ५०-१५४) वही समुद्रगुप्तवाला विष्णुगोप हो—और ऐसा होना निश्चित जान पड़ता है—तो हमें इस बात का एक और प्रमाण मिल जाता है कि राजाज्ञाओं की सरकारी भाषा के इस परिवर्तन के साथ वाकाटकों का विशेष संबंध था और वाकाटक लोग इस भाषा-परिवर्तन के पूरे पक्षपाती थे । वाकाटक अभिलेखों के भार-शिव वर्णन की ही विष्णुगोप ने भी नक्ल की है । यथा—

यथावदाहृत अनेक-

अश्वमेधानाम् पल्लवानाम् ।

अर्थात्—पल्लव लोग जिन्होंने पूर्ण विधानों से युक्त अनेक अश्वमेध यज्ञ किए थे ।

इस प्रकार संस्कृत का व्यवहार समुद्रगुप्त की विजय से पहले से ही होने लग गया था ।

६१८२. आरंभिक पल्लवों का वंश-वृक्ष स्वयं उन्हों के उन ताम्रपत्रों से प्रस्तुत किया जा सकता है जिनकी संख्या बहुत आरंभिक पल्लवों की अधिक है^१ । करीब करीब हर दूसरी वंशावली पीढ़ी का हमें एक ताम्र-लेख मिलता है । उन लोगों में यह प्रथा सी थी कि सभी लोग अपने ऊपर की चार पीढ़ियों तक का वर्णन कर जाते थे । इस नियम का एक मात्र अपवाद शिवस्कंद वर्मन की राजाज्ञाएँ हैं; और इसका कारण यही है कि उसके समय तक राजाओं की चार पीढ़ियाँ ही नहीं हुई थीं । यहाँ काल-क्रम से उनके दानों की सूची दे दी जाती है और साथ ही यह भी

१. पृथिवीपेण और उसके उत्तराधिकारियों के शिलालेखों में जो वाकाटक इतिहास-लेखनवाली शैली पाई जाती है, वह विलकुल साँचे में ढली हुई शैली है और इससे सिद्ध होता है कि वह शैली साम्राज्य-भोगी वाकाटकों के समय से चली आ रही थी ।

२. यह एक अद्भुत बात है कि आरंभिक पल्लवों का एक भी अभिलेख या पत्थर नहीं पाया गया है ।

बतला दिया जाता है कि उन दानों के संबंध की आज्ञाएँ
किन लोगों ने प्रचलित की थीं ।

मयिदवेलु, जिसके संबंध की राजाज्ञा कांचीपुर से युव-
एपि० इ० ६, महाराज (शिव) स्कंदवर्मन
८४, प्राकृत में । (प्रथम) ने (अपने पिता के शासन
के १०वें वर्ष में) प्रचलित की थी ।

हीरहडगल्ली, जिसके संबंध की आज्ञा कांचीपुर से धर्म-
एपि० इ० १, महाराजाधिराज (शिव) स्कंद-
२, प्राकृत में वर्मन (प्रथम) ने अपने शासन-
काल के ८वें वर्ष में प्रचलित
की थी ।

दर्शी जिसके संबंध की आज्ञा दशनपुर
एपि० इ० १, ३०७, राजधानी (अधिष्ठान) से महा-
संस्कृत में राज वीरकोर्चवर्मन के प्रपौत्र ने
प्रचलित की थी ।

ओमगोड़ जिसके संबंध की आज्ञा तांत्राप से
एपि० इ० १५, २५१, महाराज (विजय) स्कंदवर्मन
संस्कृत में (द्वितीय) ने अपने शासन-काल
के ३३वें वर्ष में प्रचलित की थी

इन राजाओं के उक्त दानपत्रों में दी हुई वंशावली से
इस बात का बहुत सहज में पता चल जाता है कि आरंभिक
पल्लवों में कौन कौन से राजा और किस क्रम से हुए थे ।

हमें इस बात का पूर्ण निश्चय है कि स्कंदवर्मन् द्वितीय का वृद्ध प्रपिता और स्कंदवर्मन् प्रथम का पिता अथवा शिव-स्कंदवर्मन् का पिता वही कुमार विष्णु था जिसने अश्वमेध यज्ञ किया था और स्कंदवर्मन् प्रथम का पुत्र और उत्तराधिकारी वीरवर्मन् था जिसका लड़का और उत्तराधिकारी स्कंदवर्मन् द्वितीय था । कल्पना और अनुमान के लिये यदि कोई प्रश्न रह जाता है तो वह केवल वीरकोर्च की स्थिति के संबंध का ही है, जो अवश्य ही स्कंदवर्मन् प्रथम से पहले हुआ होगा, क्योंकि वही पल्लव-वंश का संस्थापक था । यहाँ रायकोटा (एपि० ३०, ५, ४८) और वेलुरपलैयम (S. I. I. २, ५०७) वाले ताम्रलेखों से हमें सहायता मिलती है । यह बात तो सभी प्रमाणों से सिद्ध है कि पल्लव-वंश का पहला राजा वीरकोर्च या वीरकूर्च था; और शिलालेखों से पता चलता है कि उसने एक नाग-राजकुमारी के साथ विवाह किया था; और रायकोटवाले ताम्रपत्रों से पता चलता है कि स्कंदशिष्य अथवा स्कंदवर्मन् उसका पुत्र था जो उसी नाग महिला के गर्भ से उत्पन्न हुआ था^१ । अब हमें

१. कुछ पाठ्य पुस्तकों में भूल से यह मान लिया गया है कि रायकोटवाले ताम्रपत्रों से पता चलता है कि स्कंदशिष्य अश्वत्थामन् का पुत्र या और एक नाग महिला के गर्भ से उत्पन्न हुआ था । परंतु ताम्रलेखों में यह बात कहीं नहीं है । उनमें केवल यही कहा गया है कि स्कंद-शिष्य एक अधिराज था और एक नाग महिला का पुत्र

यही सिद्ध करना बाकी रह गया है कि कुमारविष्णु वही था, जिसे दर्शीवाले ताम्रलेख में वीरकोर्चवर्मन् कहा गया है, और तब यह सिद्ध हो जायगा कि वह स्कंदवर्मन् द्वितीय का बृद्ध-प्रपिता था। हम देखते हैं कि स्कंदवर्मन् द्वितीय ने ही सबसे पहले दानपत्रों में संस्कृत का प्रयोग करना आरंभ किया था। दर्शीवाला ताम्रपत्र, जो संस्कृत में है,

था। उनमें अश्वत्थामन् का उल्लेख केवल एक पूर्वज के रूप में हुआ है।

बेलुरपलैयम्-वाले ताम्रलेखों में जिस स्कंदशिष्य का उल्लेख है, वह कुमारविष्णु का पिता और बुद्धवर्मन् का प्रपिता था; और वह स्पष्ट रूप से स्कंदवर्मन् द्वितीय था, जिसका लड़का, जैसा कि हमें कुमारविष्णु तृतीय के शिलालेख (एपि० इ०, ८, २३३) से जात होता है, कुमारविष्णु द्वितीय था। बेलुरपलैयमवाले ताम्रपत्रों के संपादक और कुछ पाठ्य पुस्तकों के लेखकों ने भूल से यह बात मान ली है कि वह (स्कंदशिष्य) वीरकोर्च का पुत्र था। परंतु वास्तव में उन ताम्रलेखों में यह बात कहीं नहीं लिखी गई है। सातवें श्लोक में स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि वीरकोर्च के उपरांत (ततः) और उसके बांश में स्कंद-शिष्य हुआ था। इसका यह अभिप्राय है कि वीरकूर्च और स्कंद-शिष्य के बीच में शृंखला ढूट गई थी (मिलाओ इंडियन एंटिक्वेरी १६, २४, १० में का ततः और उस पर कीलहान् की सम्मति जो एपि० इ० ५ के परिशिष्ट सं० १६५, पाद-टिप्पणी और एपि० इ० ३, ४८, में प्रकाशित हुई है)। इन भूलों और विशेषतः इनमें से अंतिम भूल के कारण पल्लव राजाओं की पहचान और उनका इतिहास फिर से प्रस्तुत करने में बहुत गड़बड़ी पैदा हो गई है।

उसी का प्रचलित किया हुआ जान पड़ता है। प्रभावती गुप्ता और प्रबरसेन द्वितीय के ताम्रलेख, परवर्चो वाकाटक ताम्रलेखों और उससे भी पहले के अशोक के शिलालेखों से हम यह बात जानते हैं कि अभिलेखों आदि में एक ही व्यक्ति के दो नामों अथवा दोनों में से किसी एक नाम का प्रयोग हुआ करता था। स्कंदवर्मन् प्रथम के पुत्र का नाम जो “वीर” के रूप में दोहराया गया है, उससे यह भी सिद्ध होता है कि वोरकूर्च ही कुमारविष्णु प्रथम था और वही स्कंदवर्मन् प्रथम का पिता था और दादा का नाम पोते के नाम में दोहराया गया था। अतः आरंभिक वंशावली इस प्रकार होगी—

१. [वीरकोर्चवर्मन्] कुमार विष्णु (दस वर्ष या इससे अधिक काल तक शासन किया था)

२. स्कंदवर्मन् प्रथम जो “शिव” कहलाता था (आठ वर्ष या इससे अधिक काल तक शासन किया था)

३. वीरवर्मन् (इसका कोई उल्ज्जेख नहीं मिलता)

४. स्कंदवर्मन् द्वितीय या विजय (तेंतीस वर्ष या इससे अधिक काल तक शासन किया था)

स्कंदबर्मन् प्रथम ने अपने पिता का नाम नहीं दिया है, परंतु अपने पिता के नाम के स्थान पर उसने केवल “बप्प” शब्द दिया है, जिसका अर्थ है—पिता, क्योंकि बादवाले राजा भी अपने पिता के संबंध में इस “बप्प” शब्द का प्रयोग करते हुए पाए जाते हैं; यथा—बप्प भट्टारक पादभक्तः (एपि-ग्राफिया इंडिका, १५, २५४)। इंडियन एंटिकवेरी ५, ५१, १५५)। नाम का पता स्कंदबर्मन् द्वितीय के दानपत्र से चलता है (एपि० इ०, १५, २५१)। इस वंश के बहुत से परवर्ती अभिलेखों में बराबर यही कहा गया है कि इस वंश का संस्थापक वीरकूर्च था (और उसका नाम अधिकांश स्थानों में दो और पूर्वजों कालभट् और चूतपल्लव^१ के नामों के उपरांत मिलता है जिनका उल्लेख राजाओं के रूप में नहीं हुआ है) और जैसा कि अभी बतलाया जा चुका है, परवर्ती ताम्रलेखों में से एक में यह बात स्पष्ट रूप से कही गई है कि उसे इसलिये राजा का पद दिया गया था कि उसका विवाह नाग सम्राट् की एक राजकुमारी के साथ

१. क्या यह वही काल-भट् तो नहीं है जिसके संबंध में पुराण में कहा गया है “तेषूत्सन्नेषु कालेन” [अर्थात् जब काल द्वारा (सुख-आदि) परास्त हुए थे ?] यदि यही बात हो तो पुराणों के अनुसार विष्णुकृकि का, जिसका उदय काल के उपरांत हुआ था, असल नाम चूतपल्लव था; और ऐसी अवस्था में काल एक नाग सेनापति और विष्णुकृकि का पूर्वज रहा होगा ।

हुआ था । समस्त पल्लव ताम्रलेखों में वीरकृच का नाम केवल एक ही बार दोहराया गया है । जिस ताम्रलेख में वीरकृच का नाम आया है, उसकी लिपि और शैली बहुत पहले की है । स्कन्दवर्मन् द्वितीय के पौत्र के अभिलेख से हमें स्कन्दवर्मन् प्रथम के पिता तक के सभी नाम मिल जाते हैं; और इसलिये यह बात स्पष्ट ही है, जैसा कि अभी विवेचन हो चुका है, कि वीरकृच का नाम सबसे पहले और ऊपर रखा जाना चाहिए । इस बात में कुछ भी संदेह नहीं हो सकता कि वीरकृच पहला राजा था । और उससे भी पहले के नामों के संबंध में जो अनुश्रुति मिलती है, उसकी अभी तक पुष्टि नहीं हो सकी है । हाँ, इस बात की अवश्य पुष्टि होती है कि वीरकृच के पूर्वज नाग सम्राटों के सेनापति थे । और यह बात विलकुल ठीक है, क्योंकि उनका उदय नाग-काल में हुआ था । वे लोग किसी दक्षिणी राजा के अधीन नहीं थे और जिस आंध्र देश में उनका पहले-पहल अस्तित्व दिखाई देता है, उस आंध्र देश के आस-पास कहीं कोई दक्षिणी नाग राजा भी नहीं था । हाँ, नागों का साम्राज्य आंध्र देश के विलकुल पड़ोस में, मध्य प्रदेश में, अवश्य वर्तमान था ।

§ १८४. स्कन्दवर्मन् द्वितीय के बाद की वंशावली की भी इसी प्रकार भली भाँति पुष्टि हो जाती है । विजयस्कन्दवर्मन् द्वितीय के पुत्रों में एक विष्णुगोप भी था । उसका

एक ताम्रलेख मिलता है जो सिंहवर्मन् प्रथम के शासन-काल का है । उदयेंदिरम्‌वाले ताम्रलेखों (एपि० इं०, ३, १४२) से यह बात भली भाँति सिद्ध की जा सकती थी कि सिंहवर्मन् प्रथम इस विष्णुगोप का बड़ा भाई था; परंतु अभाग्यवश मेरी सम्मति में उदयेंदिरम्‌वाले प्लेट स्पष्ट रूप से विलक्षण जाली हैं; क्योंकि वे कई शताब्दी बाद की लिपि में लिखे हुए हैं । परंतु फिर भी युवराज विष्णुगोप के अभिलेख से भी हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि सिंहवर्मन् इस विष्णुगोप का पुत्र नहीं था, बल्कि उसका बड़ा भाई था और गंग ताम्रलेख (एपि० इं०, १४, ३३१) से भी यही सिद्ध होता है, जिसमें यह कहा गया है कि सिंहवर्मन् प्रथम और उसके पुत्र स्कंदवर्मन् (दृतीय) ने क्रमशः लगातार दो गंग राजाओं को राज-पद पर प्रतिष्ठित किया था (१२६०) । इसके अतिरिक्त विष्णुगोप के पुत्र सिंहवर्मन् द्वितीय के भां दो दानपत्र मिलते हैं जिनमें वंशावली दी गई है (एपि० इं०, ८, १५८ और १५, २५४) । अब विष्णुगोप और उसके पुत्र के उल्लेखों तथा गंग ताम्रलेखों के अनुसार बाद की वंशावली इस प्रकार निश्चित होती है—

(४१८)

स्कंदवर्मन् द्वितीय

सिंहवर्मन् प्रथम

विष्णुगोप (युवराज)

स्कंदवर्मन् तृतीय

जिसका दानपत्र इं०

ए० ५, १५४ में है

सिंहवर्मन् द्वितीय (एपि०
इ० १५, २५४ और ८,
१५६)

विष्णुगोप ने स्कंदवर्मन् प्रथम तक की वंशावली दी है, जिसका उल्लेख यहाँ विना “शिव” शब्द के हुआ है; और उसके पिता स्कंदवर्मन् द्वितीय ने भी स्कंदवर्मन् प्रथम का उल्लेख इसी प्रकार विना “शिव” शब्द के ही किया है।

१. जैसा कि हम चुद्ग्रोवाले प्रकरण (§ १६१) में बतला चुके हैं, “शिव” के बल एक सम्मान-सूचक शब्द था जो नामों के आगे लगा दिया जाता था। इस वंश के नामों के साथ जो “विष्णु” शब्द मिलता है, उसका संबंध कदाचित् विष्णुवृद्ध के नाम के साथ है, जो इनके आरंभिक पूर्वजों (भारद्वाजों) में से एक था और जिसका बाकाटकों ने विशेष रूप से वर्णन किया है। यदि यह बात न हो तो फिर इस बात का और कोई अर्थ ही नहीं निकलता कि नामों के साथ “विष्णु” शब्द क्यों लगा दिया जाता था, क्योंकि यह बात परम निश्चित ही है कि इस वंशवाले शैव थे।

सिंहवर्मन् द्वितीय ने वीरवर्मन् तक की वंशावली दी है, परंतु वीरवर्मन् का नाम इसके बाद और किसी वंशावली में नहीं दोहराया गया है। ये दोनों शाखाएँ वास्तव में एक में ही मिलो हुई थीं और दोनों के ही राजा निरंतर एक के बाद एक करके शासन करते थे। विष्णुगोप का दानपत्र (इ० ए०, ५, १५४) उसके बड़े भाई के शासन-काल का है; और जब आगे चलकर उसके बड़े भाई के बंश में कोई नहीं रह गया, तब जान पढ़ता है कि विष्णु-गोप का लड़का राज्य के उत्तराधिकारी हुआ था। परंतु अभी स्कंदवर्मन् द्वितीय के बंशजों की एक और छोटी शाखा बची हुई थी। इस शाखा का पता दो तात्रलेखों से लगता है (एपि० इ० ८, १४३ और एपि० इ० ८, २३३)। इनमें से पहला तो ब्रिटिश स्थूजियम-बाला तात्रलेख है जो युव-महाराज बुद्धवर्मन् की पत्नी चाहुदेवी ने विजयस्कंदवर्मन् द्वितीय के शासन-काल में प्रचलित किया था; और दूसरा बुद्धवर्मन् के पुत्र कुमार विष्णु (तृतीय) ने प्रचलित किया था और जिसके दादा का नाम कुमार विष्णु द्वितीय था और जिसका पर-दादा विजयस्कंदवर्मन् था। इस प्रकार यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जिस बुद्धवर्मन् को उसकी पत्नी ने स्कंदवर्मन् द्वितीय के शासन-काल में युव-महाराज कहा है, वह कुमार विष्णु द्वितीय का पुत्र था; और उसके संबंध में साधारणतः जो यह माना जाता है कि वह स्कंद-

वर्मन् द्वितीय का पुत्र था, वह ठोक नहीं है। वह अपने दादा का युव-महाराज था और जान पढ़ता है कि उसके पिता का देहांत उसके पहले ही हो चुका था। ब्रिटिश-म्यूजियम वाले ताम्रलेख से इस बात का पता नहीं चलता कि स्कंदवर्मन् (द्वितीय) के साथ उसका क्या संबंध था। हम यह जानते हैं कि युवराज का पद पोतों को उनके पिता के जीवन-काल में भी दे दिया जाया करता था^१। इस प्रकार उस समय के पल्लवों की जो पूरी बंशावली तैयार होती है, वह यहाँ दे दी जाती है (इनमें से जिन राजाओं ने शासन किया था, उन पर अंक लगा दिए गए हैं और अंक १ से ७ के तक उस समय की बंशावली पूरी हो जाती है, जिस समय का हम यहाँ वर्णन कर रहे हैं) ।

१. कुमारविष्णु वीरकोर्चवर्मन् (एपि० इ० १५, २५)

(एपि० इ० १, ३८७)

(अश्वमेधिन्) = नाग राजकुमारी (S. I. I. २, ५०८, एपि० इ० ६, ८४) १० वर्ष या अधिक तक शासन किया

२. (शिव) स्कंदवर्मन् प्रथम (एपि० इ० ६, ८४, एपि०

१. देखो जायसवाल कृत Hindu Polity दूसरा भाग, पृ० १२५ ।

इं० १, २, इं० ए० ५, ५०) (अश्वमेघिन्) द वर्ष
या इससे अधिक शासन किया

३. वीरवर्मन् (इं० ए० ५, ५०, १५४)

४. स्कंदवर्मन् द्वितीय (एपि० इं० १५, २५१, इं० ए० ५,
५०, १५४) तेंतीस वर्ष या इससे अधिक शासन किया।

५. सिंहवर्मन् प्रथम ७. विष्णुगोप प्रथम कुमारविष्णु द्वितीय
(इं० ए० ५, ५०) (इं० ए० ५, ५०, एपि० इं० ८, २३३
११ वर्ष या अधिक १५४) [राजकार्य
तक शासन किया देखता था, पर
अभियक्त नहीं
हुआ]

६. स्कंदवर्मन् तृतीय ७(क) सिंहवर्मन् द्वितीय
एपि० इं० १४, ३३१ (एपि० इं० १५, २५४, ८,
१५८, इं० ए० ५, १५४)
द वर्ष या अधिक तक
शासन किया

८. (विजय) विष्णुगोप द्वितीय

[M. E. R. १५१४, पृ० ८२]
|

९. बुद्धवर्मन्^२

[एपि० ई० ८, ५०, १४३]
|

१०. कुमारविष्णु तृतीय ११. नंदिवर्मन्

(एपि० ई० ८, [S. I. I. २,

५०; एपि० ई० ५०१, ५०८]

८, १४३) १२. सिंहवर्मन्

[S. I. I. २,
५०८]

१. यह ताम्रलेख नरसराच्छोपेट-वाला ताम्रलेख कहलाता है। भारत सरकार के लिपिबेचा (Epigraphist) से पत्र-ब्यवहार करके मैंने पता लगाया है कि यह वही ताम्रलेख है जिसे गंदूरवाला ताम्रलेख या चुरावाला ताम्रलेख कहते हैं। इस समय यह ताम्रलेख जिसके पास है, उसने इसकी प्रतिलिपि नहीं लेने दी। इस पर कोई तिथि नहीं दी है। यह दानपत्र विजय-पलोत्कट नामक स्थान से सिंहवर्मन् के पुत्र महाराज विष्णुगोप वर्मन् के पैत्र और कंदवर्मन् (अर्थात् स्कंदवर्मन्) के प्रैपैत्र राजा विजय विष्णुगोप वर्मन् ने उत्तरीश्वर कराया था और इसमें उस दान का उल्लेख है जो उसने कुछर के एक ब्राह्मण को दिया था। यह संस्कृत में है।

२. जान पड़ता है कि बुद्धवर्मन् ने नं० ८ वाले (विजय विष्णुगोप

बेलुरपलैयमवाले ताम्रलेखों (S. I. I. २, ५०१) का उपयोग करते हुए हमने इस वंशावली को उस काल से भी आगे तक पहुँचा दिया है, जिस काल का हम उल्लेख कर रहे हैं। इन ताम्रलेखों से वंश के उस आरंभिक इतिहास का पता चलता है जिसका हम इस समय विवेचन कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त और कई दृष्टियों से भी ये ताम्रलेख महत्व के हैं। उनसे पता चलता है कि वंश का आरंभ वीरकूर्च से होता है; और साथ ही उनमें स्कंदवर्मन् द्वितीय तक की वंशावली दी गई है। नंदिवर्मन् प्रथम के राज्यारोहण के संबंध में इससे यह महत्वपूर्ण सूचना मिलती है कि जब विष्णुगोप द्वितीय का देहांत हो गया था और दूसरे सब राजा भी नहों रह गए थे, तब नंदिवर्मन् सिंहासन पर बैठा था। इसका अर्थ यह है कि जब विष्णुगोप के वंश में भी कोई नहों रह गया और कुमारविष्णु तृतीय का वंश भी मिट गया, तब नंदिवर्मन् का राज्य मिला था। उदयेंदिरम्बवाले ताम्रलेखों (एपि० इं० ३, १४२) में एक नंदिवर्मन् का उल्लेख है; और उसके संबंध में उनमें कहा गया है कि वह सिंहवर्मन् प्रथम के पुत्र स्कंदवर्मन् तृतीय के उपरांत सिंहासन पर बैठा था; परंतु जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका

द्वितीय) के उपरांत राज्याधिकार ग्रहण किया था, क्योंकि उसके इस वर्णन से यही सचित होता है—मत्तां भुवोभूदय बुद्धवर्मा, जो S. I. I. २, ५०८ में दिया है।

है, वे ताम्रलेख इसलिये जाली हैं कि उनकी लिपि कई सौ वर्ष बाद की है; और उस ताम्रलेख का कोई विश्वास नहीं किया जा सकता । वेरुपलैयम्‌वाले अभिलेख के अनुसार कुमारविष्णु द्वितीय के वंश में नंदिवर्मन् प्रथम हुआ था । सिंहवर्मन् प्रथम की मृत्यु के उपरांत उसका पुत्र स्कंदवर्मन् तृतीय सिंहासन पर बैठा था; और जब उसके वंश में कोई न रह गया, तब युवराज विष्णुगोप का पुत्र सिंहवर्मन् तृतीय सिंहासन पर बैठा था । यह प्रतीत होता है कि विष्णुगोप ने सिंहासन पर बैठना स्वीकार नहीं किया था । वह राज्य के सब कार-बार तो देखता था, परंतु उसने राजा के रूप में कभी शासन नहीं किया था (§ १८७) । नरसराओपेट-वाले ताम्रलेखों (M. E. R. १८१४, पृ० ८२) के अनुसार सिंहवर्मन् द्वितीय के पुत्र विष्णुगोप द्वितीय ने अपने पिता का राज्य प्राप्त किया था । वयलुरवाले स्तंभ-शिलालेख में जो सूची दी है, उससे भी इस बात का समर्थन होता है^१ । विष्णुगोप द्वितीय के उपरांत स्कंदवर्मन् द्वितीयवाली तीसरी शाखा के लोग राज्य के उत्तराधिकारी हुए थे । इनमें से पहले तो बुद्धवर्मन् और उसका पुत्र कुमारविष्णु तृतीय सिंहासन पर बैठा था और तब उसके बाद उसका चचेरा

१. एपि० इं० १०, १४५; मैलिक सामग्री के रूप में इसका कुछ भी उपयोग नहीं हो सकता, क्योंकि इसमें कई सूचियाँ एक साथ मिला दी गई हैं ।

भाई नंदिवर्मन् राज्य का अधिकारी हुआ था । “सविष्णु-
गोपे च नरेन्द्रहृष्टे^१ गते ततोऽजायत नंदिवर्मा” का यही
अर्थ होता है ।

विष्णुगोप प्रथम के उपरीत इस वंश में यह प्रथा चल
पड़ी थी कि प्रत्येक पूर्व-पुरुष को “महाराज” कहते थे, फिर
चाहे वह पूर्वपुरुष पल्लव राज-सिंहासन का उत्तराधिकारी
हुआ हो और चाहे न हुआ हो, जैसा कि स्वयं विष्णुगोप
प्रथम के संबंध में हुआ था । विष्णुगोप प्रथम को उसके
लड़के ने तो केवल “युवमहाराज” ही लिखा था, पर उसके
पोते ने उसे “महाराज” की उपाधि दे दी थी । इसी प्रकार
कुमारविष्णु तृतीय ने अपने ताम्रलेखों में अपने प्रत्येक पूर्वज
को “महाराज” लिखा है । जब तक हमें उनके दान संबंधी
मूल लेख न मिल जायें, तब तक शासकों की गौण शास्त्रा
के रूप में भी हम उनके उत्तराधिकार के संबंध में कुछ भी
निश्चय नहीं कर सकते । ताम्रलेखों के प्रमाण पर केवल
यही कहा जा सकता है कि केवल एक ही शास्त्रा शासक
के रूप में दिखाई देती है; और अभी तक हमें इस वंश की
केवल एक से अधिक शासक शास्त्रा के अस्तित्व का कोई
प्रमाण नहीं मिला है । केवल विष्णुगोप प्रथम ही समुद्र-
गुप्त का सम-कालीन हो सकता था और सिंहवर्मन् द्वितीय

१. शुद्ध पाठ हुँदे है ।

के समय में यह विष्णुगोप प्रथम बालक शासक के अभिभावक के रूप में राज्य के कार-बार देखता था और कांची की सरकार का प्रधान अधिकारी था, और इसी लिये वह “कांचेयक” कहा जायगा । इस बंशवाले अस्थायी रूप से स्थानीय शासक या गवर्नर रहे होंगे, जिन्हें उन दिनों “महाराज” कहते थे अथवा लेफिटेंट गवर्नर रहे होंगे जो “युवमहाराज” कहलाते थे ।

६ १८४ क. वीरकृष्ण कुमारविष्णु ने एक अश्वमेध यज्ञ किया था, अर्थात् उसने इस बात की घोषणा कर दी थी कि

आरंभिक पल्लव राजा मैं इच्छाकुओं का उत्तराधिकारी हूँ ।
लोग

फिर शिवस्कंदवर्मन् ने भी अश्वमेध

यज्ञ किया था । जान पड़ता है कि वीरवर्मन् के हाथ से कांची निकल गई थी । और कुमारविष्णु द्वितीय को फिर से उस पर विजय प्राप्त करके उसे अपने अधिकार में करना पड़ा था । वेलुरपलैयम्बाले ताम्रलेखों में शिवस्कंदवर्मन् को राजा या शासक नहीं कहा गया है । जान

१. उत्तर पंक्ति में यह नाम कहीं दोहराया नहीं गया है । जान पड़ता है कि वह अशुभ या अशकुन-कारक और विफल समझा जाता था । परंतु फिर भी वीर वर्मन् को वीरता का अभिलेखों में उल्लेख है (वसुधातलैकवीरस्य) ।

२. यहीतकांचीनगरस्ततोभूत कुमारविष्णुस्समरेषु जिष्णुः (श्लोक ८)—एषिं इ० २, ५०८ ।

पड़ता है कि उसने युवराज रहने की अवस्था में अपने पिता की ओर से काँची पर विजय प्राप्त की थी। पिता और पुत्र दोनों को चोलों के साथ और कदाचित् कुछ दूसरे तामिल राजाओं के साथ भी युद्ध करना पड़ा था^१। स्कन्दवर्मन् द्वितीय ने फिर से काँची में रहकर राज्य करना आरंभ किया था। उसके समय में गंग लोग भी और कदंब लोग भी तामिल सीमाओं पर सामंतों के रूप में नियुक्त किए गए थे (§ १८८ और उसके आगे)। उन सबकी उपाधियाँ बिलकुल एक ही सी हैं जिससे सूचित होता है कि वे सभी लोग वाकाटक सम्ब्राट् के अधीन महाराज या गवर्नर के रूप में शासन करते थे। वे लोग जो “धर्म महाराज” कहे जाते थे, उसका अभिप्राय यह जान पड़ता है कि वे लोग सम्ब्राट् के द्वारा नियुक्त किए गए थे, और वे वाकाटकों द्वारा स्थापित धर्म-साम्राज्य के अधीन थे। बहुत दिनों तक चोलों के साथ उनका लगातार युद्ध होता रहा था और अंत में बुद्धवर्मन् ने चोलों की शक्ति का पूरी तरह से नाश किया था^२।

१. अन्वयन नभश्चन्द्रः स्कन्दशिष्यस्तोभवत्, विजानां षटिका राजसत्यसेनात् जहार यः। (उक्त में श्लोक ७) सत्यसेन कदाचित् केइ चोल या दूसरा पड़ोसी तामिल राजा था।

२. भर्ता भुवोऽभूदथ बुद्धवर्मा यश्चोलसैन्यार्हाव-वाङ्वामिनः। (श्लोक ८) S. J. I. 2, ५०८।

§ १८५. पल्लवों के पूर्वजों का राज्य नव-खंड कहलाता था^१ । महाभारत में^२ एक नव-राष्ट्र का भी उल्ज्जेव है,

नवखंड

परंतु वह पश्चिमी भारत में था । यह

नवखंड कहों आंध्र के आस-पास

होना चाहिए । कोसल में जो १८ वन्य राज्य थे, उनमें अनुश्रुतियों के अनुसार एक नवगढ़ भी था^३ । यह बस्तर के कहों आस-पास था और भार-शिव राज्य के नागपुर विभाग के पास था, जहाँ से आंध्र पर आक्रमण करना सहज था । बहुत कुछ संभावना इस बात की जान पड़ती है कि वोरकोर्चवर्मन् का पिता कोसल में गवर्नर या अधीनस्थ उप-राजा था, और वहों से आंध्र प्राप्त किया गया था ।

§ १८६. वोरकोर्च कुमारविष्णु प्रथम अवश्य ही यथेष्ट अधिक काल तक जीवित रहा होगा । उसने अन्धमेघ यज्ञ

पल्लवों का काल- किया था और कांची पर विजय प्राप्त निरुपण

की थी । कदाचित् उसके स्वामी अथवा

पिता ने इच्छाकुओं और आंध्र पर विजय प्राप्त की थी और उसने चोलों पर भी विजय प्राप्त की थी और कांची पर अधिकार किया था । उसका पुत्र शिव-स्कंद युवराज और कांची का उप-शासक था और इसलिये वीरकोर्च के दसवें

१. S. I. I. २, ५१५ (श्लोक ६) ।

२ सभापत्र ३१, ६ ।

३. हीरालाल, एमि० ई०, ८, २८६ ।

वर्ष उसकी अवस्था कम से कम १८ या २० वर्ष की रही होगी । कांची पर आंध्र के राज-सिंहासन से अधिकार किया गया था । यह नहीं हो सकता कि जिस समय बौरकोर्च का विवाह हुआ हो, उसी समय वह उप-शासन की बना दिया गया हो; क्योंकि उसके शासन के दसवें वर्ष में शिव-स्कंद इतना बड़ा हो गया था कि वह कांची का गवर्नर होकर शासन करता था । अपने विवाह के समय बौरकोर्च कदाचित् “अधिराज” ही था और “महाराज” नहीं बना था और “महाराज” की उच्च पदवी उसे कांची पर विजय प्राप्त करने के उपरांत मिली होगी । यदि हम यह मान लें कि आंध्र पर सन् २५०—२६० ई० में विजय प्राप्त हुई थी, तो कांची की विजय हम सन् २६५ ई० में खख सकते हैं । और “महाराज” के रूप में बौरकोर्च का दसवाँ वर्ष सन् २७५ ई० के लगभग होगा, जब कि शिवस्कंद २० वर्ष का हुआ होगा । यह आरंभिक तिथि ठीक है या नहीं, इसका निर्णय करने में हमें विष्णुगोप प्रथम की तिथि से बहुत कुछ सहारा मिल सकता है । अब हमें यह देखना है कि हमने ऊपर जो तिथि बतलाई है, वह विष्णुगोप प्रथम की तिथि को देखते हुए ठीक ठहरती है या नहीं ।

§ १८७. शिवस्कंदवर्मन् ने युव-महाराज रहने की दशा में जो दान किया था, यदि उसके पाँच वर्ष बाद वह सिंहासन पर बैठा हो अर्थात् २८० ई० में उसने राज्यारोहण

किया हो और पंद्रह वर्षों तक शासन किया हो, तो उसका समय (सन् २८०—२८५ ई०) उस समय से मेल खा जायगा जो उसके दान-लेखों की लिपि के आधार पर उसके लिये निश्चित किया गया है और जिसका ऊपर विवेचन किया गया है। वीरवर्मन् के समय ही पल्लवों के हाथ से कांची निकल गई थी; और यह कहो नहीं कहा गया है कि उसने कोई विजय प्राप्त की थी; परंतु फिर भी यह कहा गया है कि वह बहुत बीर था। लेकिन उसके नाम पर उसके किसी वंशज का फिर कभी नाम नहीं रखा गया था। जान पड़ता है कि वह (वीरवर्मन्) रणचेत्र में चोल शत्रुओं के हाथ से मारा गया था। शिवस्कंदवर्मन् के मरते ही चोलों को बहुत अच्छा अवसर मिल गया होगा और उन्होंने आक्रमण कर दिया होगा। वीरवर्मन् ने साल दो साल से अधिक राज्य न किया होगा। वीरवर्मन् ने प्राचीन सनातनी प्रथा के अनुसार अपने प्र-पिता वीरकोर्च के नाम पर अपना नाम रखा था। परंतु जैसा कि अभी ऊपर बतलाया जा चुका है, यह नाम इसके बाद फिर कभी दोहराया नहीं गया था। वीरवर्मन् ने कांची अपने हाथ से गँवाई थी और वह चोलों के द्वारा परास्त भी हुआ था; और इसी लिये “वीर” शब्द अशुभ और राजनीतिक दुर्भाग्य का सूचक माना जाता था और इसी लिये इस वंश ने इस नाम का ही परित्याग कर दिया था। स्कंदवर्मन् द्वितीय

दोबारा पल्लव शक्ति का संस्थापक बना था और इस बारे पल्लव शक्ति ने स्थायी रूप से कांची में अपना केंद्र स्थापित कर लिया था । हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि स्कंद-वर्मन् द्वितीय के समय में वाकाटक वंश का नेतृत्व प्रबरसेन प्रथम के हाथ में था, जिसके समय में वाकाटक वंश अपनी उन्नति की चरम सीमा तक जा पहुँचा था, और वह बिंदु इतना उच्च था कि उस ऊँचाई तक उससे पहले कोई साम्राज्य-भेगी वंश नहीं पहुँचा था । जान पड़ता है कि स्कंदवर्मन् द्वितीय को वाकाटक सम्भाट से सहायता मिली थी । उसने “विजय” की उपाधि धारण की थी और वह उसका पात्र भी था । उसका शासन दीर्घ-काल-ब्यापी था और इसी लिये दक्षिण में उसे अपनी तथा वाकाटक साम्राज्य की स्थिति दृढ़ करने का यथेष्ट समय मिला था । प्रबरसेन प्रथम के शासन-काल के आधे से अधिक दिनों तक वह उसका सम-कालीन था । हमें यह मान लेना चाहिए कि उसने कम से कम पैंतीस वर्षों तक राज्य किया था, क्योंकि उसके शासन-काल के तैनीसवें वर्ष तक का तो उल्लेख ही मिलता है । उसके बाद हमें उसके पुत्र सिंहवर्मन् प्रथम के शासन का एक उल्लेख मिलता है और उसके दूसरे पुत्र विष्णुगोप के गवर्नर होने का उल्लेख मिलता है । परंतु उसके पौत्र स्कंदवर्मन् दृतीय का हमें कोई उल्लेख नहीं मिलता; और स्कंदवर्मन् दृतीय के उपरांत विष्णुगोप प्रथम

का पुत्र राज्य का उत्तराधिकारी हुआ था, इसलिये हम कह सकते हैं कि स्कंदवर्मन् तृतीय ने बहुत ही बोड़े दिनों तक राज्य किया होगा । जान पढ़ता है कि समुद्रगुप्त ने अपने राज्याभिषेक से पहले ही विष्णुगोप को परास्त किया था; और उस समय का प्रसिद्ध प्रथा के अनुसार उसने अपने पुत्र के पच में राज-सिंहासन का परित्याग कर दिया था; और वह कभी कानूनी हृषि से महाराज नहीं हुआ था; और इसका अर्थ यह है कि यद्यपि उसने राज-कार्यों का संचालन तो किया था, परंतु राज-पद पर अभिषिक्त होकर नहीं किया था । अतः इस वंश के राजाओं का काल-निरूपण इस प्रकार होता है—

१.	वीरकूर्च कुमार विष्णु (कांची में)	लगभग सन् २६५-२८०	ई०
२.	(शिव) स्कंदवर्मन् प्रथम	„ „ २८०-२८५	,
३.	वीरवर्मन्	„ „ २८५-२८७	,
४.	(विजय) स्कंदवर्मन् द्वितीय	„ „ २८७-३३२	,
५.	सिंहवर्मन् प्रथम	„ „ ३३२-३४४	,
६.	स्कंदवर्मन् तृतीय	„ „ ३४४-३४६	,
७.	विष्णुगोप प्रथम	„ „ ३४६	,
७ क.	सिंहवर्मन् द्वितीय	„ „ ३४६-३६०	,

इस काल-निरूपण का पूरा पूरा समर्थन विष्णुगोप की उस तिथि से होता है जो हमें समुद्रगुप्त के इतिहास से मिलती है ।

१७. दक्षिण के अधीनस्थ या भूत्य ब्राह्मण राज्य गंग और कदंब

₹ १८८. पल्लवों की अधीनता में ब्राह्मण काण्वायनों का
एक अधीनस्थ या भूत्य राज्य स्थापित हुआ था और इस
राज्य के अधिकारियों ने अपने मूल
ब्राह्मण गंग-वंश
निवास-स्थान के नाम पर अपने वंश
का नाम गंग-वंश या गंगा का वंश रखा था; और उन्होंने
अपना यह नामकरण उसी प्रकार किया था, जिस प्रकार गुम्भों
की अधीनता में कलिंग राजाओं ने अपने वंश का नाम “मगध
वंश” रखा था। गंग वंश के तीसरे राजा के समय से इस
वंश के सब राजा हर पीढ़ी में पल्लवों के द्वारा अभियक्त किए
जाते थे, जिनमें से सिंहवर्मन् पल्लवेंद्र और साथ ही उसके
उत्तराधिकारी स्कंदवर्मन् (तृतीय) के नाम उनके सबसे आरंभिक
और असली ताम्रलेख में मिलते हैं^१। बहुत कुछ संभावना
इसी बात की जान पड़ती है कि ये काण्वायन लोग मगध के
साम्राज्य-भोगी काण्वायनों की ही एक शाखा के थे जिनमें का
अंतिम राजा (सुशर्मन्) कैद हो गया था (प्रगृह्ण तं)^२।
और सातवाहन ने उसे कैद करके दच्चिण पहुँचा दिया था^३।

१. एपिग्राफिया इंडिका, १४. ३३३।

२. मत्स्यपुराण, पारजिटर कृत Purana Text, १०.
३८, ३, ६।

३. विहार-उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी का जरनल, १६. २६४।

सांस्कृतिक इतिहास की दृष्टि से ब्राह्मण अधीनस्थ या भूत्य वंश महस्त्वपूर्ण हैं। दक्षिण में पहले से ही राजनीतिक ब्राह्मणों का एक वर्ग वर्तमान था।

§ १८८. ऊपर हम कौँडिन्यों का उल्लेख कर चुके हैं। ये कौँडिन्य लोग उस सातवाहन साम्राज्य के समय में, जो दक्षिण में एक ब्राह्मण कुछ समय तक दक्षिण और उत्तर अभिजात-तंत्र दोनों में स्थापित था, उत्तर से लाकर दक्षिण में बसाए गए थे। बहुत दिनों से यह अनुश्रुति चली आती है कि मयूरशर्मन् मानव्य के पूर्वजों के समय में कुछ ब्राह्मण वंश अहिच्छव्र से चलकर दक्षिण भारत में जा बसे थे;^१ और जैसा कि हम अभी आगे चलकर बतलावेंगे, यह मयूरशर्मन् मानव्य चुदु शातकर्णि वंश का था। जान पड़ता है कि यह अनुश्रुति ऐतिहासिक तथ्य के आधार पर ही प्रचलित हुई थी। सातवाहनों ने कुछ विशिष्ट ब्राह्मण वंशों अर्थात् गौतम गोत्र, वशिष्ठ गोत्र, माठर गोत्र, हारीत गोत्र आदि में विवाह किए थे। दक्षिण (मैसूर) में गौतमों की एक अच्छी खासी बस्ती थी^२। इच्छाकुओं ने इस परंपरा का दृढ़तापूर्वक पालन किया था और कदवों ने भी कुछ सीमा तक इसका पालन किया था। दक्षिण में ब्राह्मण वंश बहुत संपन्न थे और राज-दरबारों में ऊँचे पदों पर रहते थे

१. E. C. ७. १८६।

२. उत्तर ७, प्रस्तावना पृ० ३।

और राज्य करते थे । वे लोग अपना विशिष्ट स्थान रखते थे और राज-वंशों के साथ उनका घनिष्ठ संबंध था । आज तक दक्षिण में ऐयर और ऐयंगर वहाँ के असली रईस और सरदार हैं । आरंभिक शताब्दियों के ब्राह्मण शासकों को दबाकर पुनरुद्धार काल के वाकाटक-पल्लवों और गंगों ने उनका स्थान प्रहण कर लिया था । और जिन ब्राह्मणों के साथ उन्होंने विवाह संबंध स्थापित किया था, वे दक्षिणी भारत के निर्माता थे, जिन्होंने दक्षिणी भारत में अपनी संस्कृति का प्रचार करके दक्षिणापथ को हिंदू भारत का अंतर्भुक्त अंग बना दिया था; और वास्तव में उन्होंने भारतवर्ष की सीमा का सचमुच विस्तार करके समस्त दक्षिणी भारत को भी उसके अंतर्गत कर लिया था ।

§ १८०. इस समय हम लोग गंग वंश की वंशावली उस ताम्रलेख के आधार पर फिर से तैयार कर सकते हैं जो निस्सं-

आरंभिक गंग वंशावली देह रूप से गंगों का असली ताम्रलेख है और जिसे मिंर राइस (Mr. Rice) ने एपिग्राफिया इंडिका, खंड १४, पृ० ३३१ में प्रकाशित किया था और जो चौथी शताब्दी के अंत अथवा पाँचवों शताब्दी के आरंभ (अर्थात् लगभग सन् ४०० ई०) का लिखा हुआ है । इस वंशावली को पूरा करने और सही साचित करने के लिए मैंने दूसरे उल्लेखों के आधार पर इसमें एक और नाम बढ़ा दिया है । यह वंशावली इस प्रकार बनती है—

कोंकणवर्मन्, धर्माधिराज

माधव (प्रथम) महाराजाधिराज

अर्थवर्मन् (अरि^१ अथवा हरिवर्मन्) गंग-राज

(जिसे पल्लव-वंश के सिंहवर्मन् महाराजा ने राज्य पर बैठाया था)

| २

माधव (द्वितीय) महाराज, सिंहवर्मन् जिसे पल्लवों
के महाराज स्कंदवर्मन् तृतीय ने
राज्य पर बैठाया था

अविनीत कोंगणि, महाधिराज (इसने कदंब राजा
काकुस्थवर्मन् को एक कन्या के साश विवाह
किया था जो महाधिराज कृष्णवर्मन्
को बहन थी)^२ ।

१. मिलाओ कोलहान् की सूची, एपिग्राफिया इंडिका, ८,
कोडपत्र, पृ० ४ ।

२. [मि० राइस (Mr. Rice) के कथनानुसार कदाचित् भूल
से अय्य और माधव द्वितीय के बीच में एक विष्णुगोप का नाम छुट
गया था] एपिग्राफिया इंडिका १४, ३३३; मिलाओ कीलहान् पृ० ५ ।

३. कोलहान् पृ० ५. मि० राइस ने एपिग्राफिया इंडिका १४ पृ० ५,
३३४ में अपना यह विचार प्रकट किया था कि माधव द्वितीय (जिसे

§ १६१, गंग अभिलेखों में यह कहा गया है कि अविनीत कोंगणि ने एक कदंब राज-कुमारी में साथ विवाह किया था; और जान पड़ता है कि इसका समर्थन काकुस्थवर्मन् के तालगुंडवाले शिलालेख से होता है, जिसमें कहा गया है काकुस्थवर्मन् ने कई राजनीतिक विवाह कराए थे। कहा गया है कि अविनीत कोंगणि ने कृष्णवर्मन् प्रथम की बहन के साथ विवाह किया था; और यह कृष्णवर्मन् काकुस्थ का पुत्र था^१। इस प्रकार अविनीत कोंगणि का समय काकुस्थ के समय (लगभग सन् ४०० ई०) की सहायता से निश्चित हो जाता है। तीसरे राजा अर्यवर्मन् को पल्लव सिंहवर्मन् द्वितीय ने राज-पद पर प्रतिष्ठित किया था, जिसका समय लगभग सन् ३३०-३४४ ई० है (देखो § १८७); और माधव द्वितीय को पल्लव स्कंदवर्मन् तृतीय (लगभग ३४४-३४६ ई०) ने, जो सिंहवर्मन् का उत्तराधिकारी था, राज्य पर चैठाया था। इस प्रकार इन तीनों सम-कालीन वंशों से

उन्होंने माधव तृतीय इसलिये कहा है कि उन्होंने कोंगणिवर्मन् को उसके व्यक्तिगत नाम “माधव” के कारण माधव प्रथम मान लिया था) ने कदंब राजकुमारी के साथ विवाह किया था। परंतु गंग अभिलेखों के प्रमाण के आधार पर और आगे (§§ १६०-१६१) दिए हुए इन राजाओं के काल-निरूपण के आधार पर यह बात मिथ्या सिद्ध होती है।

१. मिलाओं Kadamba Kula, पहला नक्शा।

एक दूसरे का काल-निरूपण हो जाता है; और यह भी सिद्ध हो जाता है कि गंग काण्वायन वंश का संस्थापक सन् ३०० ई० से पहले नहीं हुआ होगा । अनुमान से उनका समय इस प्रकार होगा (जिसमें मोटे हिसाब से हर एक के लिये औसत १६ या १७ वर्ष पढ़ते हैं)—

१. कोंकणिवर्मन्	लगभग सन् ३००-३१५ ई०
२. माधववर्मन् प्रथम	, , ३१५-३३० ,
३. अर्थ अथवा अरिवर्मन्	, , ३३०-३४५ ,
४. माधववर्मन् (द्वितीय) सिंहवर्मन्	, , ३४५-३७५ ,
५. अविनीत कोंगणि	, , ३७५-३८५ ,

₹ १६२. पहले राजा ने अपना नाम कोंकणिवर्मन् कदाचित् इसलिये रखा होगा कि वह कुछ ही समय पहले कोंकण से आया था । उसका राज्य मैसूर में उस स्थान पर

१. इससे यह सिद्ध होता है कि जिन अभिलेखों पर आरंभिक शक संबत (सन् २४७ ई० आदि; मिलाओ कोलहार्न की सूची, एपिग्राफिया इंडिका ८, पृ० ४० ४. पाद-टिप्पणी) दिए गए हैं, उनमें यद्यपि बहुत कुछ ठीक वंशावली दी गई है, परंतु फिर भी वे असली नहीं हो सकते । जिन लोगों को पुराने जमाने में जर्माने दान-रूप में मिली थीं, अपने आपको उनके वंशज बतलानेवाले लोगों ने कई जाली गंग दानपत्र बना लिये थे । परंतु फिर भी उन्हें गंग राजाओं की वंशावली का बहुत कुछ ठीक जान था ।

२. विष्णुगोप का अस्तित्व निश्चित नहीं है (₹ १६० पाद-टिप्पणी) ।

था जो आज-कल गंगवाड़ो कहलाता है। पेनुकोड प्लेट (एपिग्राफिया इंडिका, १४, ३३१) मदरास के अनंतपुर जिले में पाए गए हैं। गंग लोग कदंबों के प्रदेश से बिलकुल सटे हुए प्रदेश में रहते थे और कदंब लोग उसी समय अथवा उसके एक पोँडो बाद अस्तित्व में आए थे।

§ १८३. इस वंश के राजाओं के नाम के साथ जो “धर्माधिराज” की उपाधि मिलती है, उससे यह सूचित होता है कि गंग लोग भी कदंबों की भाँति पल्लवों के धर्म-साम्राज्य के अंतर्गत थे और उसका एक अंग थे।

§ १८४. पहला गंग राजा विजय द्वारा प्राप्त राज्य का अधिकारी बना था और ज्ञान पढ़ता है कि वह विजय या तो उसने पल्लवों के और या मुख्य वाका-
कोंकणिवर्मन् टकों के सेनापति के रूप में प्राप्त की थी, जैसा कि उनकी उपाधि ‘‘गंग’’ से सूचित होता है। उसने ऐसे देश पर अधिकार प्राप्त किया था जिस पर सुजनों का निवास था (स्व-भुज-जब-जय-जनित-सुजन-जनपदस्य) और उसने विकट शत्रुओं के साथ युद्ध किया था (दारण अरिगण)। इस राजा के शरीर पर (युद्ध-चेत्र के) ब्रण भूषण-स्वरूप थे (लब्ध-ब्रण-भूषणस्य काणवायनसगोत्रस्य श्रीमत् कोंकणिवर्म-धर्म-महाधिराजस्य)।

§ १८५. उसका पुत्र माधव महाधिराज संस्कृत के पवित्र और मधुर साहित्य का बहुत बड़ा पंडित था और हिंदू नीति-

शास्त्र की व्याख्या और प्रयोग करने में बहुत कुशल था
(नीतिशास्त्रस्य वक्तृ-प्रयोगकृ-कुशलस्य) ।

§ १८६. माधव के पुत्र अट्टवर्मन के शरीर पर अनेक युद्धों में प्राप्त किए हुए ब्रण आभूषण के स्वरूप थे । यथा—

अनेक-युद्ध = औपलब्ध

ब्रण-विभूषित-शरीरस्य

उसने अपना समय इतिहास के अध्ययन में लगाया था ।

§ १८७. गंगों का जो वंशानुक्रमिक इतिहास ऊपर संचेप में दिया गया है, उसमें वाकाटक परंपरा की भावना वाकाटक भावना दिखाई देती है । वह इतिहास उस समय से पहले का है, जब कि समुद्र-गुप्त दर्जिण में पहुँचा था । वह इतिहास संस्कृत में है और आरंभिक काल के दस्तावेजों से नकल करके तैयार किया गया है; और इस परिवार के बादवाले दानपत्रों और दस्तावेजों आदि में बराबर वही इतिहास नकल किया गया था । गंगों का एक ऐसा सु-संस्कृत वंश था जिसकी सृष्टि वाकाटकों ने की थी ।

§ १८८. आरंभिक गंगों का ड्यक्षिण आदर्श भी और नागरिकता संबंधी आदर्श भी बहुत महत्त्वपूर्ण और ध्यान देने गंगों की नागरिकता योग्य है । इस वंश के राजा लोग भी विध्यशक्ति की तरह रगाजेव के घावों से अपने आपको अलंकृत करते थे । इसको प्रतिध्वनि समुद्र-

गुप्त के शिलालेख में सुनाई देती है। गंगों का नागरिकता-संवंधों आदर्श पूर्ण और निश्चित था। उनका सिद्धांत था कि किसी का राजा होना तभी सार्थक होता है, जब वह बहुत अच्छी तरह प्रजा का पालन करता है। यथा—

सम्यक्-प्रजा-पालन

मात्र = अधिगत-राज्य-प्रयोजनस्य ।

अर्थात्—(महाराज माधव (प्रथम) महाधिराज के लिये) राजा होने का उद्देश्य केवल यही था कि प्रजा का सम्यक् रूप से पालन किया जाय ।

§ १८८. साधारणतः यही समझा जाता है कि समुद्रगुप्त के आक्रमण के प्रत्यक्ष परिणाम-स्वरूप ही कदंबों की कदंब लोग सृष्टि हुई थी। परंतु यह बात वास्तव में ठोक नहीं है। वस्तिक उनकी सृष्टि मानव्यों के आरंभिक इतिहास के कारण हुई थी। उनके इतिहास का अभी हाल में मिं माओरेस (Mr. Maores) ने एक पाठ्य पुस्तक में स्वतंत्र रूप से विवेचन किया है। उस इतिहास की कुछ बातें ऐसी हैं जिन पर अभी तक ध्यान नहीं दिया गया है और जिनका उस युग से विशेष संबंध है, जिस युग का हम इस पुस्तक में विवेचन कर रहे हैं। अतः वे बातें यहाँ कही जाती हैं।

§ २००. कदंबों के जो सरकारी अभिलेख और दस्तावेज आदि मिलते हैं और जिनका आरंभ तालगुंड-वाले स्तंभाभि-

लेख से होता है, उनमें वे अपने आपको हारितीपुत्र मानव्य कहते हैं^१ । हम यह बात पहले से ही जानते हैं कि वन-

उनके पूर्वज

वासी आंध्र (अर्थात् चुदु लोग) हारिती-पुत्र मानव्य थे (₹ १५७ और उसके

आगे) । यह बात निश्चित सी जान पड़ती है कि कदंब लोग चुदु सातकर्गीयों के बंशज थे । जब वे अपने आपको हारितीपुत्र मानव्य कहते हैं, तब वे मानों यह सूचित करते हैं कि वे उस अंतिम चुदु मानव्य के बंशज थे जो एक हारितीपुत्र था । ज्योही पहले कदंब राजा ने चुटुओं के मूल निवास-स्थान वनवासी और कुंतल पर अधिकार किया था, त्योही उसने प्रसन्न मन से वह पुराना द्रान फिर से दे दिया था जो पहले मानव्य गोत्र के हारितीपुत्र शिवस्कंदवर्मन् ने किया था; और यह बात उसने स्वयं उसी स्तंभ पर फिर से अंकित करा दी थी, जिस स्तंभ पर उस संपत्ति के दान का चुदु राजा ने उल्लेख कराया था और जो उसी कौडिन्य बंश के द्वारा मट्टिपट्टि के साथ संयुक्त किया गया था^२ । यह

१. एपि० इ० ८. ३४, कौलहानं को पाद-टिष्पणी । मिलाओ एपि० इ० १६, पृ० २६६, मानव्यसगोत्रानाम् हारितीपुत्रानाम् ।

२. आज-कल का मलवली इसी नाम का अवशिष्ट रूप है ।

दोनों अभिलेखों की लिपियों के कालों का मध्यवर्ती अंतर यथेष्ट रूप से परिलक्षित होता है । मि० राहस ने E. C. ७, पृ० ६ में कहा है कि इन दोनों में कुछ ही वर्षों का अंतर है । परंतु वास्तव

दान दोबारा किया गया था; और इसमें यह पता चलता है कि पहले कदंब राजा से पूर्व और हारितोपुत्र शिवसंकंद-वर्मन् के उपरांत अर्थात् इन दोनों के मध्य में जो राजा हुआ था, उसने वह दान की हुई संपत्ति बापस लेकर फिर से अपने अधिकार में कर ली थी; और वह वीचवाला राजा अथवा राजा लोग पल्लवों के सिवा और कोई नहीं हो सकते, क्योंकि इस बात का उल्लेख मिलता है कि मयूरशर्मन् ने पल्लवों से ही वह प्रदेश प्राप्त किया था और उसे प्राप्त करने के अन्यान्य कारणों में से एक कारण यह भी था कि वह चुदु मानवों के पुराने राजवंश का वंशधर था। इस दान-लेख पर उक्त राजा के शासन-काल का चौथा वर्ष अंकित है। मैं समझता हूँ कि वह मयूरशर्मन् का ही आज्ञापत्र था, क्योंकि प्लेट पर उसके नाम का कुछ अंश पढ़ा जाता है (देखो १६२)। यहाँ वह अपने वंश का अधिकार प्रमाणित कर रहा था। उसने अपने वंश के प्राचीन देश पर अधिकार कर लिया था और अपने वंश का किया हुआ पुराना दान उसने फिर से दिया था। कौँडिन्यों को कदाचित् उसके पूर्वजों ने ही उस देश में बुलाकर बसाया था

में इन दोनों में अपेक्षाकृत अधिक समय का अंतर है। दोनों की लिपियाँ भी भिन्न हैं। वह एक नई भाषा अर्थात् महाराष्ट्री है जिसका उससे पहले कभी किसी सरकारी मसौदे या अभिलेख में प्रयोग नहीं किया गया था।

और उन कोँडिन्यों के प्राचीन प्रतिष्ठित वंश के साथ मयूर-शम्भव के वंश के लोगों का बराबर तब तक संबंध चला आता था, क्योंकि दोबारा जिसे दान दिया गया था, वह दाता राजा का मामा (मातुल) कहा गया है ।

§ २०१. पल्लवों ने जिस प्रकार इच्चाकुओं को अधिकार-च्युत किया था, उसी प्रकार चुदु मानव्यों को भी अधिकार-च्युत किया था । इच्चाकु लोग तो सदा के लिये अहशय हो गए थे, परंतु मानव्यों का एक बार फिर से उत्थान हुआ था । ज्योही पहला अवसर मिला था, त्योही मयूरशम्भव मानव्य ने अपने पूर्वजों के देश पर फिर से अधिकार कर लिया था और “कदंब” नाम से एक नए राजवंश की स्थापना की थी ।

§ २०२. कदंबों ने अपने वंश की प्राचीन स्मृतियों को फिर से जाग्रत करने का प्रयत्न किया था । उन्होंने सातवाहनों के मलवली देवता के नाम पर फिर से भूमि-दान दी थी, और तालगुण्ड-वाले जिस तालाब और मंदिर का सात-कर्णियों के साथ संबंध था, उस पर उन्होंने अपना अभिमान-पूर्ण भंतंभ स्थापित कराया था और उससे भी अधिक अभिमानपूर्ण अपना शिलालेख अंकित कराया था । इसी प्रकार उन लोगों ने पश्चिम में सातवाहन राज्य की उत्तरी सीमा तक भी पहुँचने का प्रयत्न किया था । उनका यह प्रयत्न कई बार हुआ था । परंतु बाकाटक लोग उन्हें बराबर

रोकते रहे । बाकाटकों ने बराबर विशेष प्रयत्नपूर्वक अपरांत का समुद्री प्रांत और वहाँ से होनेवाला पश्चिमी विदेशी व्यापार अपने ही हाथ में रखा ।

₹ २०३. इस प्रयत्न को हम सातवाहन-बाद कह सकते हैं और इसका मतलब यही है कि वे लोग सातवाहनों को कंग और कदंबों की सब बातें फिर से स्थापित करना स्थिति चाहते थे, और इस प्रयत्न के संबंध में कंग ने, जो समुद्रगुप्त के समय में हुआ था, बहुत कुछ काम किया था । कंग उसी मयूरशम्भा का पुत्र और उत्तराधिकारी था । उसने ब्राह्मणों की “शम्भा” बालो उपाधि का परित्याग कर दिया था और अपने नाम के साथ राजकीय उपाधि “बम्भा” का प्रयोग करना आरंभ कर दिया था । वास्तव में वही कदंब राज्य का संस्थापक था और वह कदंब राज्य उसके समय में बहुत अधिक शक्तिशाली हो गया था । परंतु कदंब राज्य की वह बड़ी-बड़ी शक्ति कुछ ही वर्षों तक रह सकी थी । जब पल्लव-शक्ति समुद्रगुप्त के हाथ से पराजित हो गई थी, तब उसे कंग ने दबाने का प्रयत्न किया था । पुराणों में कान और कनक नाम से कंग का पूरा पूरा वर्णन मिलता है (देखो ₹ १२८-१२९) । पल्लव लोग बाकाटक सम्राट् के साम्राज्य के दक्षिण भाग में थे । वे लोग बाकाटक चक्रवर्ती के अधीनस्थ महाराज या गवर्नर थे । जान पड़ता है कि पल्लव लोग बाकाटक सम्राट् की

और से त्रैराज्य पर शासन करते थे और इस त्रैराज्य में तीन तामिल राज्य थे, जिनके नेता चोलों पर उन्होंने वस्तुतः विजय प्राप्त की थी । खी-राज्य, मूर्खिक और भोजक ये तीनों राज्य परस्पर संबद्ध थे और कंगवर्मन् इन्हों तीनों का शासक बन गया था; और विष्णुपुराण के अनुसार त्रैराज्य पर भी उसका शासन था; अर्थात् उस समय के लिये वह पल्लवों को दबाकर समस्त दक्षिण का स्वामी बन गया था । केवल पल्लवों का प्रदेश ही उसके शासनाधिकार के बाहर था । जान पड़ता है कि पल्लवों के पराजित होने के उपरांत कंग ने अपने पूर्वजों का दक्षिणी राज्य फिर से स्थापित करने का प्रयत्न किया था और वह कहता था कि समुद्रगुप्त को सारंभारत का सम्राट् होने का कोई अधिकार नहीं है । परंतु वह पृथिवीयेण बाकाटक के द्वारा परास्त हुआ था और उसे राज-सिंहासन का परित्याग करना पड़ा था (§ १२७ और उसके आगे) । कंग के उपरांत कदंब लोग राजनीतिक हृषि से बाकाटक राज्य के साथ संबद्ध रहे जो कदंब राज्य के कुंतल-बाले अंश से स्वयं अपनी भोजकट-बाली सामाजिक त्वेत्र में है । वे लोग बाकाटकों और गुप्तों के बहुत पहले से दक्षिण में रहते आते थे । परंतु फिर भी नवीन सामाजिक पुनरुद्धार में उन्होंने एक नवीन शक्ति और नवीन तेज प्रदर्शित किया था; और अपने त्वेत्र के अंदर उस

पुनरुद्धार के संबंध में उन्होंने उतना ही अच्छा काम किया था, जितना गंगों और पल्लवों ने किया था ।

₹ २०४. इस प्रकार उस समय का दक्षिण का इतिहास वस्तुतः दक्षिण में पहुँचे हुए नए और पुराने दोनों लोगों का एक भारत का निर्माण इतिहास है और उन प्रयत्नों का इति-हास है जो उन्होंने सारे देश में एक सर्व-सामान्य सभ्यता अर्थात् हिंदुत्व का प्रचार और स्थापना करने के लिये किए थे; और वह प्रयत्न उत्तर में समाज का सुधार और पुनरुद्धार करने में बहुत अधिक सफल हुआ था । इन प्रयत्नों के कारण दक्षिण भारत इस प्रकार उत्तर भारत के नाथ मिलकर एक हो गया था कि सचमुच भारत-वर्ष की पुरानी व्याख्या फिर से चरितार्थ होने लग गई थी और समस्त दक्षिण भी फिर से भारतवर्ष के ही अंतर्गत समझा जाने लगा था । उत्तरी भारत के हिंदुओं ने दक्षिणी भारत में उत्तरी भारत की भाषा, लिपि, उपासना और संस्कृति का प्रवेश और प्रचार किया था । वहाँ से उन लोगों ने द्वीपस्थ भारत में एक नवीन जीवन का संचार किया था और इतिहास का निर्माण किया था । एक सर्व-सामान्य संस्कृति से उन लोगों ने एक भारत का निर्माण किया था; और उसी समय का बना हुआ एक भारत वरावर आज तक चला आ रहा है ।

पाँचवाँ भाग

उपसंहार

धर्म-प्राचीर-बन्दः शशि-कर-सुचयः कीर्त्यः सुप्रतानाः ।

—इलाहाबाद-बाला स्तंभ ।

१८. गुम-साम्राज्य-वाद के परिणाम

₹ २०५. समुद्रगुप्त ने सैनिक लेव्र में जो बहुत बड़े बड़े काम किए थे, उनसे सभी लोग परिचित हैं और इसलिये यहाँ

समुद्रगुप्त की शांति उनका विवेचन करने की आवश्यकता और समृद्धिवाली नीति नहीं। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि उसने सैनिकता को आवश्यकता से अधिक प्रश्रय नहीं दिया था—कभी आवश्यकता से अधिक या न्यर्थ युद्ध नहीं किया था। शांतिवाली नीति का महत्व वह बहुत अच्छी तरह जानता था। अपने दूसरे युद्ध के बाद उसने फिर कभी कोई अभियान नहीं किया था। बल्कि शाहा-नुशाही पहाड़ी रियासतों, प्रजातंत्रों या गणतंत्रों और उप-निवेशों को अपने साम्राज्य के घेरे और प्रभाव में लाकर उसने नीति और शांति के द्वारा अपना उद्देश्य सिद्ध किया था। उसके पास इतना अधिक सोना हो गया था, जितना

उत्तरो भारत में पहले कभी देखा नहीं गया था; और यह सोना उसे इसी लिये मिला था कि उसने दक्षिणी भारत और उपनिवेशों को अपने साम्राज्य में मिला लिया था। उसने दक्षिण के साथ वाकाटक वंश के द्वारा संपर्क बना रखा था, क्योंकि वाकाटक वंश फिर से अधिकारारूढ़ कर दिया गया था, यद्यपि इलाहाबादवाले शिलालेख में वाकाटक देश को मध्य प्रदेश का एक अंश माना गया है और प्रजातंत्रों या गणतंत्रों का इस प्रकार सिंहावलोकन किया गया है कि जान पड़ता है कि वह सिंहावलोकन करनेवाला शालियर अथवा एरन में बैठा हुआ था। इलाहाबाद-वाले शिलालेख की २३वीं पंक्ति में उसने कहा है कि मैंने पुराने राजवंशों को फिर से अधिकारारूढ़ कर दिया है; और २६वीं पंक्ति में वह कहता है कि जिन राजाओं पर मैंने अपने बाहुबल से विजय प्राप्त की थी, उनकी संपत्ति मेरे कर्मचारी उन्हें लौटा रहे हैं। इसमें कुछ भी संदेह नहीं कि उन राजाओं में पृथिवीपेण प्रथम भी था। उसके बादवाले दूसरे शासन-काल में भी दक्षिण और द्वीपस्थ भारत से बराबर बहुत सा सोना उत्तरी भारत में आया करता था। एरनवाले शिलालेख में कहा गया है कि समुद्रगुप्त सोने के सिक्के दान करने में राम और पृथु से भी बढ़ गया था। यदि यही बात ही तो इसमें कुछ भी संदेह नहीं कि उसके पुत्र ने अपनी प्रजा में इतना अधिक सोना बौटा था, जितना उससे पहले और

कभी किसी ने नहीं बांटा था। इस बात में कुछ भी अतिशयोक्ति नहीं है। चंद्रगुप्त द्वितीय की कन्या ने लिखा है कि अरबों (गुप्त) मोहरें दान की गई थीं^१ और उसके इस कथन का समर्थन युआन-चवांग ने भी किया है। अमोघवर्ष ने अपने अभिलेख में यह स्वीकृत किया है कि गुप्त राजा कलियुग का सबसे बड़ा दाता और दानी था। यह बात समुद्रगुप्त की उत्तम दूरदर्शिता के कारण ही हो सकी थी। उसकी शांति और बंधुत्व स्थापित करनेवाली नीति ने ही पृथिवीपेण प्रथम को उसका घनिष्ठ मित्र और सहायक बना दिया था, जिसने कुंतल या कदंब राजा पर फ़िर से विजय प्राप्त की थी। इस कुंतल या कदंब राजा के कारण दक्षिण में समुद्रगुप्त का एकाधिकार और प्रभुत्व संकट में पड़ गया था, और कदाचित् इसी लिये उसे अपना अश्वमेध यज्ञ अथवा उसकी पुनरावृत्ति स्थगित कर देनी पड़ी थी, जिसका उल्लेख प्रभावती गुप्ता ने किया है^२। उसकी औपनिवेशिक नीति और तात्त्विक वंदरगाह को अपने हाथ में रखने के कारण अवश्य ही उसे बहुत अधिक आय हुआ करती होगी। उन दिनों चीन और इंडोनेशिया के साथ भारत का बहुत

१. पुनावाले प्लेट, एपिग्राफिया इंडिका, खड १५, पृ० ४१।

२. अनेक अश्वमेध-याजी लिन्च्चुवि-दोहित्रः। (एपिग्राफिया इंडिका, १५, ४१)

अधिक व्यापार हुआ करता था और उस पूर्वी व्यापार का महत्त्व कदाचित पश्चिमी व्यापार के महत्त्व से भी बढ़ा-चढ़ा था। समुद्रगुप्त भी और उसका पुत्र चंद्रगुप्त भी दोनों अपनी समुद्री सीमाओं पर सदा बहुत जोर दिया करते थे और कहते थे कि जिस प्रकार हमारी उत्तरी सीमा हिमवत् (तिब्बत) है, उसी प्रकार वाकी तीनों दिशाओं की सीमाएँ समुद्र हैं। दोनों ही के शासन-काल में प्रजा पर जहाँ तक हो सकता था, वहुत ही कम कर लगाया जाता था; और फा-हियान ने चंद्रगुप्त के शासन-काल के संबंध में इस बात का विशेष रूप से उल्लेख किया है। समुद्रगुप्त अपनी प्रजा के लिये सचमुच धनद था। लोगों के पास इतना अधिक धन हो गया था कि वह सहज में बड़े बड़े चिकित्सालय स्थापित कर सकते थे; और समुद्रगुप्त की स्थापित की हुई शांति के कारण ही चंद्रगुप्त अपने राज्य से प्राण-दंड की प्रथा उठा सका था।

इ २०६. राष्ट्र के विचार पूरी तरह से बदल गए थे और लोगों की हृषि बहुत ही उच्च तथा उदार हो गई थी। यह

मनस्तत्त्व प्रत्यक्ष रूप से स्वयं सन्नाट् से
उच्च राष्ट्रीय हृषि ही लोगों ने प्रहण किया था। उसके समय के हिंदू बहुत बड़े बड़े काम सोचते और उठाते थे। उन्होंने बहुत ही उच्च, सुंदर और उदार साहित्य की सृष्टि की थी। साहित्य-सेवी लोग अपने देश-वासियों के लिये साहि-

तियक कुबेर और भारतवर्ष के बाहर रहनेवालों के लिये साहित्यिक साम्राज्य-निर्माता बन गए थे। कुमारजीव ने चीन पर साहित्यिक विजय प्राप्त की थी।^१ कौँडिन्य धर्म-प्रचारक ने कंबोडिया में एक सामाजिक और सांस्कृतिक प्रकाधिकार स्थापित किया था। व्यापारियों और कलाकारों ने भारतवर्ष को विदेशियों की हाइ में एक आश्चर्यमय देश बना दिया था। यहाँ की कला, साहित्य, भक्ति और राजनीति में खींत्व का कोई भाव नहीं था; जो कुछ था, वह सब पुरुषोचित और वीराचित था। यहाँ वीर्यवान् देवताओं और युद्ध-प्रिय देवियों की मूर्तियाँ बनती थीं। यहाँ की कलम से सुंदर और वीर पुरुषों के और आत्मज्ञान रखनेवाले तथा अभिमानी हिंदू योद्धाओं के चित्र अंकित होते थे। यहाँ के पंडित और ब्राह्मण तलबार और कलम दोनों ही बहुत सहज में और कौशलपूर्वक चलाते थे। यहाँ बुद्धिवल और योर्यता का प्रभुत्व इतना अधिक बढ़ गया था, जितना उसके बाद फिर कभी इस देश में देखने में नहीं आया।

१. वह समुद्रगुप्त का सम-कालीन था और चीन गया था (सन् ४०५-४१२) जहाँ उसने बौद्ध त्रिपिटक पर चीनों भाषा में भाष्य लिखा थे। उसका किया हुआ ब्रह्म-सूत्र का अनुवाद चीनी साहित्य में राष्ट्रीय प्राचीन उत्कृष्ट ग्रंथ माना जाता है, जिससे चीनी कवियों और दार्शनिकों के बहुत कुछ प्रोत्साहन और ज्ञान प्राप्त हुआ है। देखो गाइल्स (Giles) कृत Chinese Literature (चीनी साहित्य), पृ० ११४।

§ २०७. संस्कृत यहाँ की सरकारी भाषा हो गई थी और वह बिलकुल एक नई भाषा बन गई थी। गुप्त सिक्खों और गुप्त मूर्तियों की तरह उसने भी सम्राट् की ही प्रतिकृति खड़ी की थी; और वह इतनी अधिक भव्य तथा संगीतमयी हो गई थी, जितनी न तो उससे पहले हो कभी हुई थी और न कभी बाद में ही हुई थी।

गुप्त सम्राट् ने एक नई भाषा और वास्तव में एक नए राष्ट्र का निर्माण किया था।

§ २०८. परंतु इसके लिये चेत्र पहले से ही भार-शिवों ने और उनसे भी बढ़कर बाकाटकों ने तैयार किया था।

समुद्रगुप्त के भारत का शुंग राजा भी अपने सरकारी अभिशोज-व्यवन-काल लेखों आदि में संस्कृति का व्यवहार करने लगे थे। फिर सन् १५० के लगभग रुद्रदामन ने भी उसका प्रयोग किया था; परंतु जो काव्य-शैली चंपा (कंवो-डिया) के शिलालेख में दिखाई देती है और जो समुद्रगुप्त की शैली का मानों पूर्व रूप थी, वह बाकाटक-काल की ही थी। बाकाटकों ने पहले ही एक अखिल भारतीय साम्राज्य की सृष्टि कर रखी थी। उन्होंने कुशनों को भगाकर एक कोने में कर दिया था। उन्होंने जन-साधारण की परंपरागत सैनिकता को और भी उन्नत किया था। उन्होंने शास्त्रों की उपयुक्त मर्यादा फिर से स्थापित की थी और उन्हें उनके न्याय-सिद्ध पद पर प्रतिष्ठित किया था। समुद्रगुप्त ने इससे

पूरा पूरा लाभ उठाया था; और भार-शिवों ने जिस इतिहास का आरंभ किया था और वाकाटकों ने पालन-पोषण करके जिसकी बुद्धि की थी, उसकी परंपरा को समुद्रगुप्त ने प्रचलित रखा था। इन्हों भार-शिवों और वाकाटकों ने वह रास्ता तैयार किया था, जिस पर चलकर शाहानुशाही और शक अधिपति अयोध्या और पाटलिपुत्र तक आने और हिंदू राज्य-सिंहासन के आगे सिर मुकाने के लिये बाध्य किए जाते थे। यह पुनरुद्धार का कार्य सन् २४८ ई० से पहले ही आरंभ हो चुका था। हिंदुओं ने पहले से ही कुशनों के सामाजिक अत्याचार और राजनीतिक शासन से अपने आपको सुक्ष कर रखा था। उन्होंने यह समझकर पहुँचे से ही बौद्ध-धर्म का परित्याग और अस्वीकार कर दिया था कि वह हमारे समाज के लिये उपयुक्त नहीं है और लोगों को दुर्बल तथा निष्क्रिय बनानेवाला है। परंतु एक निर्माणक धर्म की स्थापना का काम समुद्रगुप्त के लिये बच रहा था और उसने उस धर्म का निर्माण विष्णु की भक्ति के रूप में किया था। भार-शिवों ने स्वतंत्र किए हुए भारत के लिये गंगा और यमुना को लक्षण या चिह्न के रूप में ग्रहण किया था और उपयुक्त रूप से फनवाले नागों को इन देवियों की मूर्तियों के ऊपर स्थापित किया था; और इस प्रकार राजनीति की प्रतिकृति तच्छण कला में स्थापित की थी। गुप्तों ने भी इन्हों चिह्नों या लक्षणों को ग्रहण कर लिया था; परंतु हाँ, उनके सिर

पर से नागों को हटा दिया था । भार-शिवों और वाकाटकों के विकट और संहारक शिव के स्थान पर उन्होंने पालन-कर्त्ता विष्णु को स्वापित किया था, जो अपने हाथ ऊपर उठाकर हिंदू-समाज को धारण करता है और ऐसी शक्ति के साथ धारण करता है जो कभी कम होना जानती ही नहीं । पहले हिंदू देवताओं के मंदिर केवल भव्य ही होते थे, पर अब वे ठोस बनने लगे थे । पहले तो शिखरोंवाले छोटे छोटे मंदिर बनते थे, पर अब उनके स्थान पर चौकोर चट्ठानों को काटकर और चट्ठानों के समान मंदिर बनने लगे थे । उस समय सब जगह आत्म-विश्वास और आत्म-निर्भरता का ही भाव फैलने लगा था । हिंदुओं का स्वयं अपने आप पर विश्वास हो गया था । वाकाटक, गंग और गुप्त लोग तलबारों और तीरों के योग से अपना पुरुषोचित सौंदर्य व्यक्त करते थे । देवताओं की तुलना मनुष्यों से होती थी और मनुष्यों के हित के लिये होती थी । गुप्त विष्णु का पूरा भक्त था और वह जितने काम करता था, वह सब विष्णु को ही अपित करता था; और अपने आपको उसने विष्णु के साथ पूरी तरह से मिलाकर तद्रूप कर दिया था; और उस विष्णु की भक्ति का प्रचार उसने भारत के समस्त राष्ट्र में तो किया ही था, पर साथ ही द्वीपस्थ भारत में भी किया था । मनुष्य और ईश्वर को यह एकता उन मूर्तियों में भी व्यक्त होती थी, जो वे भक्तों के अनुरूप तैयार करते

थे । उच्च आध्यात्मिक भावना ठीक शीर्ष-विंदु तक जा पहुँची थी । जिस विंध्यशक्ति का बल बड़े बड़े युद्धों में बढ़ा था और जिसके बल पर देवता भी विजय नहीं प्राप्त कर सकते थे, वह इतना सब कुछ होने पर भी मनुष्य ही था और आध्यात्मिक योग्यता प्राप्त करने के लिये निःशंतर प्रयत्न करता था । गंग राजाओं में से माधव प्रथम ने, जिसके संबंध में कहा गया है कि उसने अपना शरीर युद्ध-चेत्र के घावों से अलंकृत किया था, इस बात की धोषणा कर दी थी कि राजा का अस्तित्व केवल प्रजा के उत्तमतापूर्वक पालन करने के लिये ही होता है । अनेक बड़े बड़े यज्ञ करनेवाला शिवसंकंद वर्मन् भी सब कुछ होने पर भी धर्म-महाराजाधिराज हो था । समुद्रगुप्त धर्म का रक्तक और पवित्र मंत्रों का मार्ग था और इस योग्य था कि सब लोग उसके कायों का अनुशोलन करें; और वह अपने राजकीय कर्तव्यों का इस प्रकार पालन करता था कि जिससे उसे इस बात का संतोष हो गया था कि मैंने अपने लिये स्वर्ग को भी जीत लिया है—मैं स्वर्ग प्राप्त करने का अधिकारी हो गया हूँ । मनुष्य तो समाज के लिये बनाया गया था, परंतु वह अपने कर्तव्यों का पालन करके स्वर्ग के राज्य पर भी विजय प्राप्त कर रहा था । पुनरुद्धार करनेवाली भक्ति ने इस प्रकार राजनीति को भी आध्यात्मिक रूप दे दिया था; और यहाँ तक कि विजय को भी उसी आध्यात्मिकता के रंग में रंग दिया था और पुनरुद्धार काल

से पहले की निष्क्रिय भक्ति और अक्रिय शांतिशाद को बिल-
कुल निरर्थक करके पीछे छोड़ दिया था । बौद्ध लोग
जो प्रब्रज्या प्रहण करके ब्रह्मचर्यपूर्वक रहने लगे थे, जिसके
कारण खियों का मर्यादा बहुत कुछ घट गई थी । परंतु अब
फिर खियों उच्च सम्मान की अधिकारिणी बन गई थीं और
राजनीतिक कार्यों में योग देने लग गई थीं । सिक्कों और
शिलालेखों आदि में उन्हें वरावरी की जगह दी गई है ।
समुद्रगुप्त अपनी पत्नी दत्तदेवी का जितना अधिक सम्मान
करता था, उतना अधिक सम्मान उससे पहले किसी पत्नी
को प्राप्त नहीं हुआ था । एरन में अपनी विजय के सर्वो-
त्कृष्ट समय में सारे भारत के सम्राट् ने गर्वपूर्वक अपनी सह-
धर्मिणी और अपने विवाह के उस दिन का स्मरण किया था,
जिस दिन दहेज में उसकी पत्नी को अपने पति का केवल
पुरुषत्व प्राप्त हुआ था और जिसकी शोभा अब इतनी बढ़ गई
थी कि वह एक आदर्श हिंदू-खो बन गई थी—एक ऐसी कुल-
वधू और हिंदू-माता बन गई थी जो अपने पुत्रों और पौत्रों
से विरी हुई थी ।

₹ २०८. इस प्रकार पूर्ण मनुष्यत्व और वैभव, विजय
और संस्कृति, देश में भी और विदेशों में भी दूरदूर तक
व्याप्त होनेवाली क्रियाशीलता का यह वातावरण देखकर
हमारी आँखों में चकाचौध पैदा हो जाती है और हम भार-
शिव काल के उन अज्ञात कवियों, देशभक्तों और उपदेशकों

को भूल जाते हैं, जिन्होंने वह बीज बोया था, जिसकी फसल बाकाटकों और गुमों ने काटी थी। भार-शिवों के सौ वर्ष हिंदू साम्राज्य-वाद के बीज बोए जाने का काल है। इस बीज-कालवाले आंदोलन के समय जो साहित्य प्रस्तुत हुआ था, उसका कुछ भी अवशिष्ट इस समय हमारे पास नहीं है। परंतु हम फल को देखकर वृच्छ पहचान सकते हैं। उस अंधकार-युग ने ही आर्यावर्त और भारत को प्रकाशमय किया था। उस युग में जो आध्यात्मिक आंदोलन आरंभ हुआ था, उसने वैष्णव-धर्म के वीरतापूर्ण अंग में प्रगाढ़ भक्ति का रूप धारणा किया था। इस संप्रदाय के उपदेशक कौन थे ? हम नहीं जानते। परंतु हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि इस संप्रदाय की मूल पुस्तक भगवद्गीता थी जो समुद्र-गुप्त के शिलालेख में देवहराई गई है। इस संप्रदाय का सिद्धांत यह है कि विष्णु ही राजनीतिज्ञों और वीरों के रूप में इस पृथ्वी पर आते हैं और समाज की मर्यादा फिर से स्थापित करते हैं और धर्म तथा अपने जनों की रक्षा करते हैं।

§ २१०. यह चित्र बहुत ही भव्य और आनंददायक है और यह मन को इस प्रकार अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है

कि वह समुद्रगुप्तवाले भारत के दृश्य की
दूसरा पक्ष

ओर से सहसा हटना ही नहीं चाहता।

साम्राज्यवाद में शिक्षा पाए हुए आज-कल के इतिहासक्ति को यह चित्र देखकर स्वभावतः आनंद होगा, क्योंकि यह चित्र

बड़े बड़े कार्यों, किरीट और कुंडल, से युक्त है, यह साम्राज्य-भोगी हिंदुत्व का चित्र है और इसमें गुप्तों की महत्त्व के दृश्य के सामने से परदा हटा दिया गया है। परंतु क्या अपनी जाति के प्राचीन काल के महत्त्व का और गुप्त अलौकिक पुरुषों का यह चित्र अंकित करते ही उसका कर्तव्य समाप्त हो जाता है ? वह जब तक गुप्तों के बाद के उन हिंदुओं के संबंध में भी अपना निर्णय न दे दे जो गुप्त साम्राज्य-बाद का सिंहावलोकन करते थे और शांत भाव से उसका विश्लेषण करते थे, तब तक उसका कर्तव्य समाप्त नहीं होता। विष्णु-पुराण में हिंदू इतिहासक्ष इस विषय का कुछ और ही मूल्य निर्धारित करता है। इन सब बातों का वर्णन करके अंत में उसने जो कुछ कहा है^१ उसका संक्षेप इस प्रकार हो सकता है—

‘मैंने यह इतिहास दे दिया है^२। इन राजाओं का अस्तित्व आगे चलकर विवाद और संदेह का विषय बन जायगा, जिस प्रकार स्वयं राम और दूसरे सम्राटों का अस्तित्व आज-कल संदेह और कल्पना का विषय बन गया है। समय के प्रवाह में पढ़कर सम्राट् लोग केवल पौराणिक

१. देखो विष्णुपुराण ४, २४ श्लोक ६४-७७। साथ ही मिलाओ पृथिवीगीता, श्लोक ५५-६३।

२. इत्येषः कथितः सम्यद् मनोवैशां मया तव ॥ ६४ ॥

भुन्तैवमस्तिलं वशं प्रशस्तं शशिसूर्ययोः ॥ ६७ ॥

उपाख्यान के विषय बन जाते हैं और विशेषतः वे सम्राट् जो यह सोचते थे और सोचते हैं कि भारतवर्ष मेरा है। साम्राज्यों को धिक्कार है ! सम्राट् राघव के साम्राज्य को धिक्कार है। ।'

इतिहासज्ञ का मुख्य अभिप्राय यहाँ सम्राटों और विजेताओं का तिरस्कार करना है। वह कहता है कि ये लोग ममत्व के फेर में पड़े रहते हैं। परंतु यह कदु संकेत किसका

इच्छाकु जहु मान्धातु-सगराविद्वितान् रथन् ॥ ६८ ॥

१. यः कार्त्तवीर्यो बुधुजे समस्तान् द्वीपान् समाकम्य हतारिचकः ।

कथाप्रसंगे त्वभिधीयमानः स एव संकल्पविकल्पहेतुः ॥ ७२ ॥

दशाननाविद्वितराघवागणमैश्वर्यमुद्भासितदिङ्मुखानाम् ।

भृष्मापि जातं न कथं ज्ञाणेन ? भ्रूभेगपातेन धिगन्तकस्य ॥ ७३ ॥

[ऐश्वर्य धिक्—टीकाकार]

कथाश्वरोरत्वमवाप यदौ मान्धातुनामा भुवि चक्रवतो ।

श्रुत्वापि तं केऽपि करोति साधु ममत्वमात्मन्यपि मन्दचेतः ॥ ७४ ॥

भगीरथाद्याः सगरः ककुत्स्थो दशाननो राघवलद्मण्डी च ।

युधिष्ठिराद्याश्च वभूते सत्यं न मिथ्या च नु ते न विद्मः ॥

७५ ॥

२. मिलाओं पृथिवीगीता—

पृथ्वी ममेयं सकला ममैवा ममान्वयस्यापि च शाश्वतेयम् ।

यो यो मृतो व्यत्र यमूव राजा कुवुदिरासीदिति तस्य तस्य ॥

७६ ॥

विहाय मां मृत्युपर्थं व्रजतं

तस्यान्वयस्यस्य कथं ममत्वं हृच्यास्यदं मध्यमवं करोति ॥ ७२ ॥

ओर है ? इतिहासज्ञ बार बार “राघव” शब्द का प्रयोग करता है । राघव राम के संबंध में जो अनुश्रुतियाँ बहुत दिनों से चली आ रही थीं, क्या समुद्रगुप्त ने अयोध्या से उन्हीं की पुनरावृत्ति करने का प्रयत्न नहीं किया था ? क्या कालिदास ने समुद्रगुप्त की विजय का रघु की दिग्विजय में समावेश नहीं किया था ? पुराण में जिस अंतिम साम्राज्य का उल्लेख है, उसी के संस्थापक की ओर यह संकेत घटता है । अर्थात् यह आक्षेप गुप्त-साम्राज्य के संस्थापक पर है, जिसका नाम इतिहास-लेखक ने अपने काल-क्रमिक इतिहास में छोड़ दिया है । उसके कहने का मतलब यही है कि त्वरण रखने के योग्य वही इतिहास है, जिसमें उत्तम कार्य और उपर्युक्त सेवाएँ हों । जिन काव्यों के द्वारा दूसरे लोगों के अधिकार और स्वतंत्रताएँ पद-दलित होती हों, वे इस योग्य नहीं हैं कि इतिहास-लेखक उन्हें लिपि-बद्ध करे । यदि वह इतिहास-

पृथ्वी ममैपाशु परित्यजैनम् वदन्ति ये दूतमुखैः स्वशञ्जुम् ।

नराधिपास्तेषु ममातिहासः पुनश्च मूढेषु दयाभ्युषेति ॥ ६३ ॥

विशेष रूप से समुद्र-पार के साम्राज्य की ओर संकेत है; और गुप्तों के साम्राज्य को ही यह एक विशेषता थी कि उसका विस्तार समुद्र-पार के भी देशों तक था ।

ततो भृत्यांश्च पैरांश्च जिगीणन्ते तथा रिषून् ।

क्रमेणानेन जेष्यामो वयं पृथ्वीं ससागराम् ॥ ५७ ॥

समुद्रावरर्णं याति ॥ ५८ ॥

द्वोपान् समाकम्य हतारिचकः ॥ ७२ ॥

लेखक आज जीवित होता तो उसने कहा होता—“समुद्रगुप्त के पुत्र विक्रमादित्य को स्मरण रखो, परंतु समुद्रगुप्त को भूल जाओ। केवल सद्गुणों का ध्यान रखो, दुर्गुण या दोष को और किसी रूप में भी ध्यान मत दो।” समुद्रगुप्त ने भी सिकंदर की भाँति अपने देश की स्वतंत्रतावाली भावना की हत्या कर डाली थी। उसने उन मालवों और यौधेयों का विनाश कर डाला था, जो स्वतंत्रता को जन्म देनेवाले और उसकी वृद्धि करनेवाले थे। और उन्होंकी तरह के और भी बहुत से लोगों का उसने नाश कर डाला था। जब एक बार इन स्वतंत्र समाजों का अस्तित्व मिट गया, तब वह चेत्र भी नहीं रह गया, जिसमें आगे चलकर बीर देश-हितैषी और राजनीतिज्ञ उत्पन्न होते। स्वयं गुप्त लोग मातृ-पञ्च से भी और पितृ-पञ्च से भी उन्हों गणतंत्रों समाजों के लोगों से उत्पन्न हुए थे। वे स्वयं उन्हों बीज-समाजों की पैदावार थे, परंतु उन्हों बीज-समाजों का उन्होंने पूरा पूरा नाश कर डाला था।

₹ २१। गण-तंत्रों समाजों की सामाजिक व्यवस्था समानता के सिद्धांत पर आश्रित थी। उनमें जाति-पाँति का कोई बखेड़ा नहीं था। वे सब लोग एक ही जाति के थे। इसके विपरीत सनातनों सामाजिक व्यवस्था अ-समानता और जाति-भेद पर आश्रित थी; और इसी लिये जिस प्रकार मालवों, यौधेयों, मद्रकों, पुष्यमित्रों, आभीरों और लिच्छवियों

में बच्चा बच्चा तक देश-भक्त होता था, उसी प्रकार सनातनी सामाजिक व्यवस्था में समाज का हर आदमी कभी देश-भक्त हो ही नहीं सकता था । उक्त गण्ठ-तंत्री समाज मानों ऐसे अखाड़े थे जिनमें लोग राज्य-स्थापना, देश-हितैषिता, व्यक्तिगत उच्चाकांचा, योग्यता और नेतृत्व की बहुत अच्छी शिक्षा पाते और अध्यास करते थे । परंतु समुद्रगुप्त और उसके उत्तरा-धिकारियों की अधीनता में वे सब लोग मिलकर एक संघटित राज्याभित और सनातनी वर्ण-व्यवस्था में लीन हो गए थे और एक ऐसी सनातनी राजनीतिक प्रणाली के अधीन हो गए थे, जिसमें एकछत्र शासन-प्रणाली और साम्राज्य-वाद की ही मान्यता थी और उन्होंकी वृद्धि हो सकती थी । वह बीज-कोश ही सदा के लिये नष्ट हो गया था जो ऐसे कृष्ण को उत्पन्न कर सकता था जो धर्म-युद्ध और कर्त्तव्य-पालनबाले सिद्धांत के सबसे बड़े प्रवर्तक और पोषक थे; अथवा वह बीज-कोश ही नहीं रह गया था, जिसने उन महात्मा बुद्ध को जन्म दिया था जो विश्वजनीन धर्म और विश्वजनीन समानता के प्रवर्तक और पोषक थे । अब उस बीज-कोश का अस्तित्व ही मिटा दिया गया था, जिससे आगे चलकर भार-शिव या गुप्त लोग उत्पन्न हो सकते थे । राजपूताने के गण्ठतंत्र नष्ट हो गए थे और उनके स्थान पर केवल ऐसे राज-पूत रह गए थे जो अपने गण्ठतंत्रों पूर्वजों की सभी परंपरागत बातें भूल गए थे । और पंजाब के प्रजातंत्र नष्ट होकर

ऐसे जाटों के रूप में परिवर्तित हो गए थे जो अपना सारा भूत-कालीन वैभव गँवा चुके थे। जीवन-प्रदान करनेवाला तत्त्व ही नह द्वारा गया था। हिंदुओं ने समुद्रगुम का नाम कभी कृतज्ञतापूर्वक नहीं स्मरण किया; और जिस समय अलवेहनी भारत में आया था, उस समय उसने लोगों से यही सुना था कि गुम लोग बहुत ही दुष्ट थे। यह उस चित्र का दूसरा अंग है। यद्यपि वे लोग व्यक्तिगत प्रजा के लिये बहुत अच्छे शासक थे, परंतु फिर भी हिंदुओं की राष्ट्र-संघटन संबंधी स्वतंत्रता के लिये वे नाशक ही सिद्ध हुए थे।

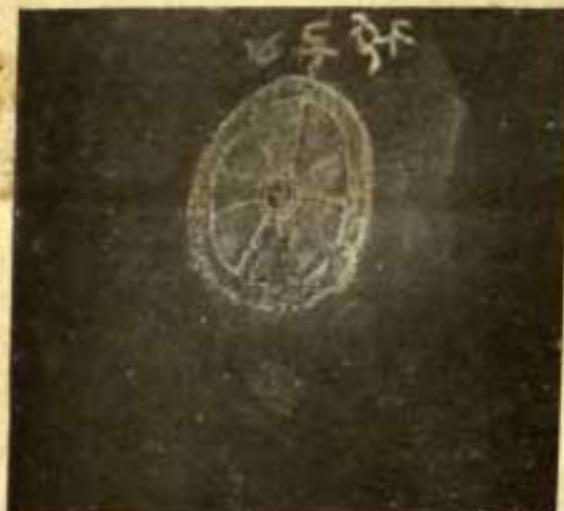
§ २१२. विष्णुपुराण के इतिहास-लेखक का राजनीतिक सिद्धांत यह था कि वह कभी किसी के साथ शक्ति और बल का प्रयोग करना पसंद नहीं करता था; और उसकी कही हुई जो एक मात्र बात हिंदुओं को पसंद आ सकती थी, वह उस प्रकार की शासन-प्रणाली थी, जैसी भार-शिवों ने प्रचलित की थी, जिसमें सब राष्ट्रों का एक संघ स्थापित किया गया था और जिसमें प्रत्येक राष्ट्र को पूरी पूरी व्यक्तिगत स्वतंत्रता प्राप्त थी। हिंदू गण-तंत्रों में जो संघ-वाली शासन-प्रणाली किसी समय प्रचलित थी, उसी का विकसित और परिवर्द्धित रूप भारशिवों-वाले संघ का था। वह बराबरी का अधिकार रखनेवाले राष्ट्रों का एक संघ था, जिसमें सब लोगों ने मिल-कर एक शक्ति को अपना नेता मान लिया था। यदि गुम

लोगों भी इसी प्रणाली का प्रयोग करते तो पौराणिक इतिहास-लेखक अधिक अच्छे शब्दों में उनका उल्लेख करता । मैं भी अपने देश के उक्त इतिहास-लेखक का अनुकरण करता हुआ कहता हूँ—“इस समय हम लोगों को गुप्तों के केवल अच्छे कामों का स्मरण करना चाहिए और उनके साम्राज्य-वाद को भूल जाना चाहिए ।”

दुरेहा (जासो) का स्तंभ-लेख



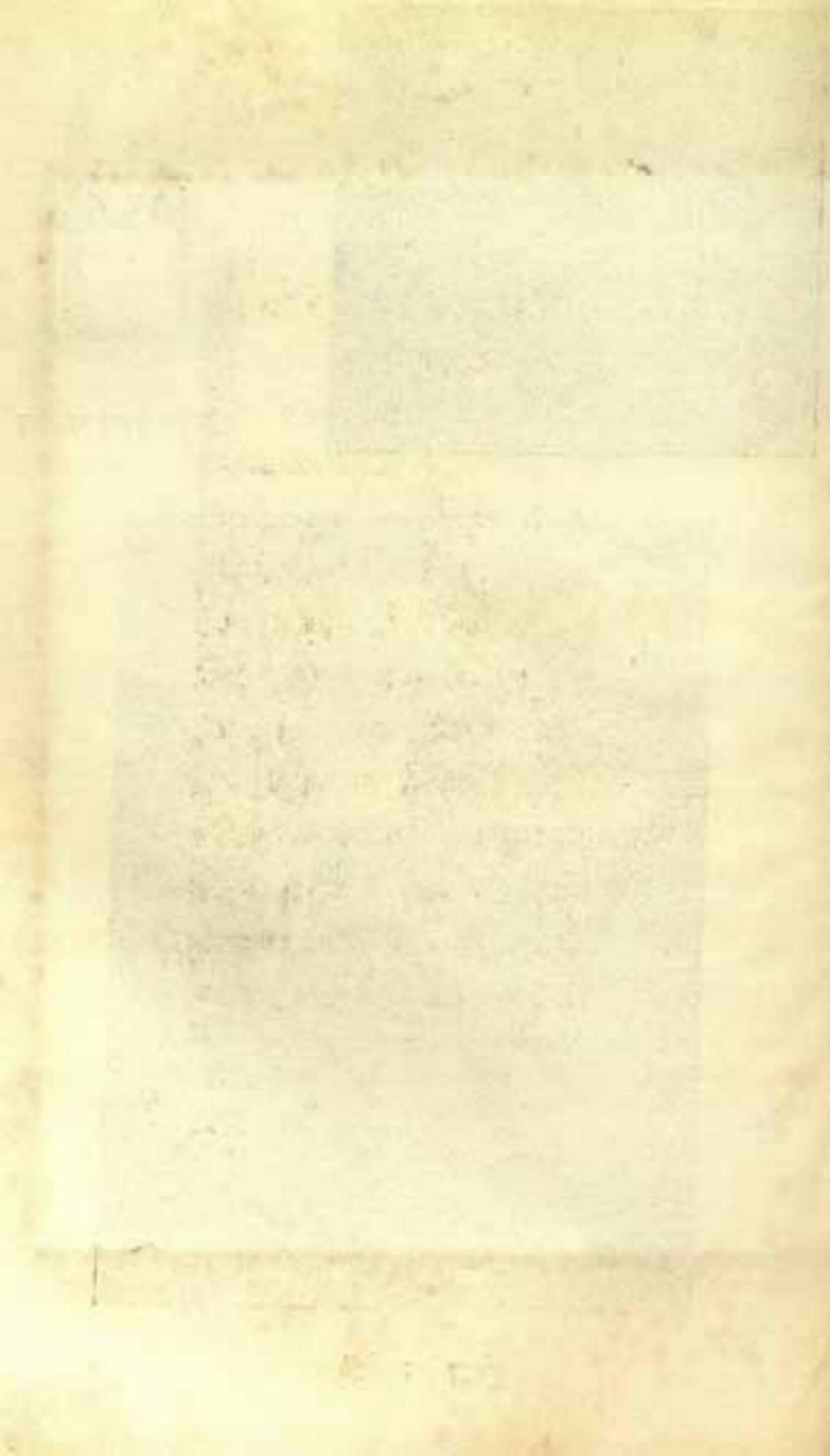




कनिष्ठम द्वारा अंकित



दुरेहा (जासो) स्तम्भ





भूमरा का गोड़

पृ० ४६६

परिशिष्ट क

दुरेहा का वाकाटक स्तंभ और नचना तथा भूमरा
(भूमरा) के मंदिर

यह इतिहास समाप्त कर चुकने के उपरांत मैंने कुछ विशेष बातों का निश्चय करने के लिये एक प्रवास (दिसंबर १८३२) किया था । उसके परिणाम-स्वरूप जो बातें मालूम हुईं, वे यहाँ दी जाती हैं ।

दुरेहा एक अच्छा बसा हुआ और रौनकदार गाँव है जो जासो के राजा साहब के केंद्र जासो से लगभग चार

दुरेहा का अभिलेख मील की दूरी पर दक्षिण की ओर है ।

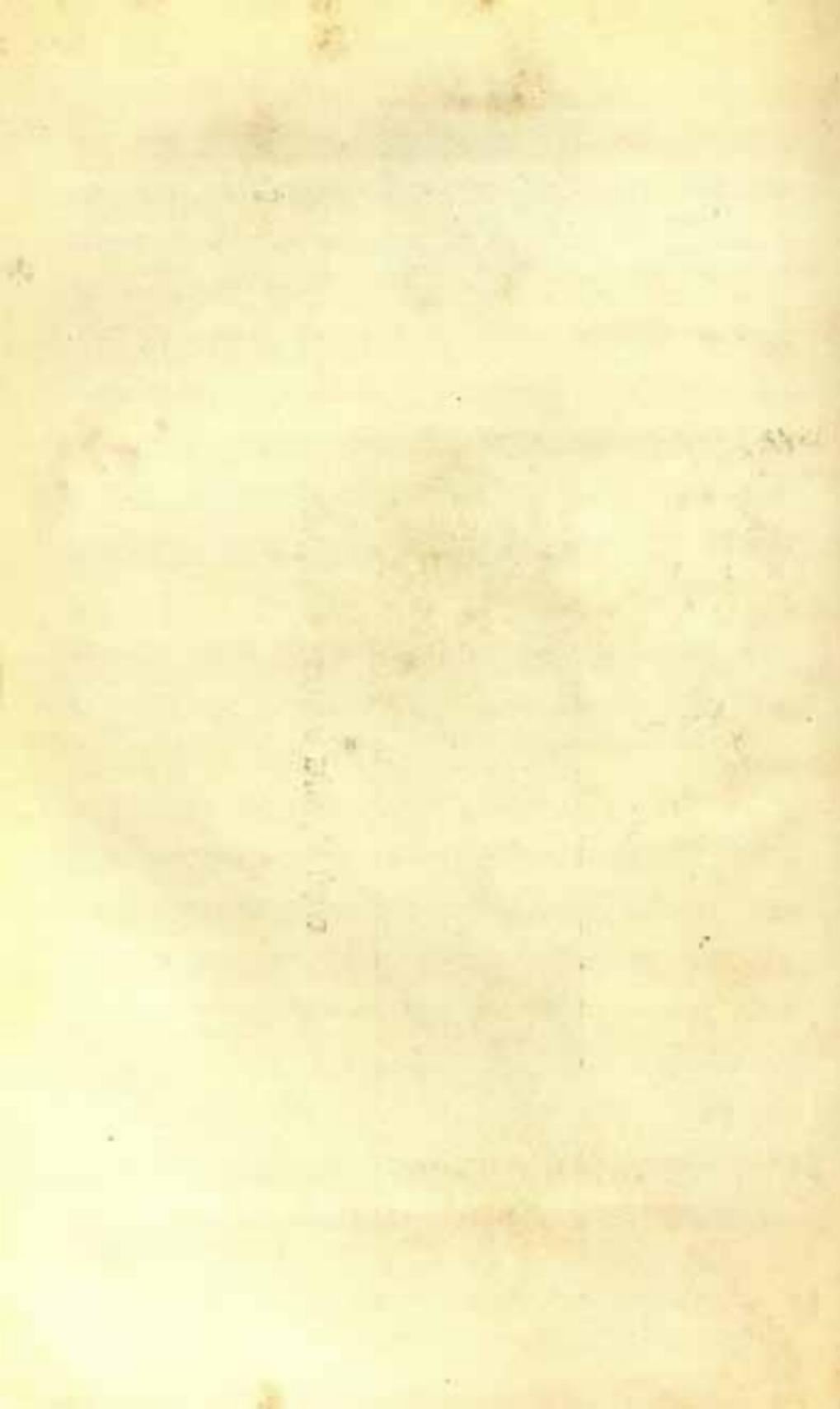
यह जासो एक छोटी सी बुँदेला रियासत है जो नागौद (नौगढ़, मध्यप्रदेश के बघेलखण्ड के) की सीमा पर है । कनिंघम साहब दुरेहा गए थे, जहाँ उन्हें पत्थर का एक स्मृति-स्तंभ मिला था । उसका वर्णन उन्होंने अपनी Reports खंड २१, पृ० ८८, प्लेट २० में किया है और उसे एक "प्राकृतिक लिंगम्" बतलाया है । उन्होंने उस पर खुदे हुए लेख को देखकर उसकी एक नक़्श तैयार की थी और उस स्मृति-स्तंभ का एक नक़्शा भी बनाया था । तब से आज तक कोई वहाँ इस बात की जाँच करने के लिये

नहीं गया कि कनिंघम ने जो कुछ लिखा है, वह कहाँ तक ठीक है। मेरी समझ में यह बात आई कि वह शिलालेख महस्त्र का है; और इसी लिये जब मैं अंतिम बार बुँदेलखण्ड में घूमने गया था, तब मैंने वहाँ के लोगों से पूछा कि “दरेदा” कौन सी जगह है और कहाँ है, क्योंकि कनिंघम ने अपने वर्णन में उस स्थान का यही नाम इसी रूप में (Dareda) दिया था। मुझे सतना-निवासी अपने मित्र श्रीयुक्त शारदा-प्रसादजी से मालूम हुआ कि उस गाँव का असल नाम दुरेहा है। मैं मोटर पर सवार होकर वहाँ जा पहुँचा। वह स्मृति-स्तंभ उस गाँव की कच्ची सड़क के किनारे ही है और एक बनाए हुए चबूतरे के ऊपर है। वह लिंग नहीं है, बल्कि स्तंभ है। उसका जो रुख दक्षिण की तरफ पड़ता है, वह तो खूब साफ और चिकना किया हुआ है, परंतु उसका पिछला भाग इतना खुरदुरा है कि जान पड़ता है कि उसी रूप में पहाड़ में से खोदकर निकाला गया था। जब मैं नचना से लौटकर आया था और उस अभिलेख की छाप लेने लगा था, तब दुर्भाग्यवश अँधेरा हो गया था और सब काम रोशनी जलाकर करने पड़े थे। वह लेख एक ही पंक्ति का है और उसके नीचे एक चक्र है जिसमें आठ आरे हैं। यह चक्र वैसा ही है, जैसा लूट्रसेन के सिक्के और पृष्ठीयेण के गंज और नचनावाले अभिलेखों में है। कनिंघम ने इसे देखकर इसकी जो नकल तैयार की

३० अंडा

आवरो की, आ॒र्थ से देवकर की हुँ, नकल





थी, उसमें उसने वह लेख चक्र के ऊपर नहीं बल्कि नीचे दिया है। जान पड़ता है कि इसका जो चित्र उसने दिया है, वह स्वयं उस स्थान पर नहीं तैयार किया गया था, बल्कि वहाँ से आने पर केवल स्मृति की सहायता से बाद में तैयार किया गया था; क्योंकि उसमें ऊपर का लेख नीचे और नीचे का चक्र ऊपर कर दिया गया है और उस पत्थर का रूप भी ठोक ठोक नहीं अंकित किया गया है। वह पत्थर गोल नहीं है।

खुदे हुए अच्छरों में फ्रांसीसी खड़िया (French chalk) भरकर विजली के तीव्र प्रकाश में उसका चित्र लिया गया था। परंतु अँधेरे में मैं अच्छरों के रूप पूरी तरह से समझ नहीं सका था, इसलिये तीसरा अच्छर पूरी तरह से नहीं भरा जा सका था, और उसका बाईं ओर बाला शोशा (जो छाप में आ गया है^१) छूट गया था। तीसरे अच्छर की दाहिनी तरफ पत्थर का कुछ अंश टूटा हुआ है, जिससे उस स्थान पर एक अच्छर होने का धोखा होता है। पत्थर की सतह कुछ ऊँची होने के कारण यह बात हुई थी। पत्थर पर के अंतिम दो अच्छर अँधेरे के कारण मुझसे बिलकुल छूट गए थे। परंतु छाप में वे दोनों अच्छर भी आ गए हैं। आकार दिखलाने के लिये मैं उस समूचे पत्थर का भी फोटो

१. देखो प्लेट ४।

२. देखो प्लेट ५।

दे रहा है । गाँववालों ने उस पत्थर पर सफेदी कर दी है और उत्कीर्ण अंश के ऊपर सफेद रंग से कुछ अच्छर भी लिख दिए हैं । इसे आज-कल लोग मंगलनाथ (शिव) कहते हैं ।

यह अभिलेख “वाकाटकाना(म्.)” पढ़ा जाता है और जान पड़ता है कि इसका संकेत नीचे दिए हुए उसी चक्र की ओर है जो वाकाटकों का राजचिह्न था । सारे लेख का अर्थ होगा—“वाकाटकों का चक्र” । यह स्पष्ट ही है कि यह पत्थर वाकाटकों के राज्य में ही गाड़ा गया था ।

इसके अच्छर आरंभिक वाकाटक काल के हैं । इसका पहला अच्छर “व” पृथिवीयेण के शिलालेख के “व” से पहले का है । दूसरा अच्छर “का” उसी प्रकार का है, जिस प्रकार का पृथिवीयेण के शिलालेख की उस छाप में है जो जनरल कनिंघम ने अपने प्लेट (A. S. R. खंड २१, प्लेट २७, दूसरा अभिलेख) में दी है । तीसरे अच्छर “ट” के ऊपर एक शोशा है और उसके नीचे की गोलाई अधिक विकसित नहों है । चौथे अच्छर “क” के ऊपरी भाग में विशेष घेरा नहों है और अंतिम अच्छर “न” का वह रूप नहों है जो पृथिवीयेण के अभिलेख में है और यह “न” और भी पहले का है । “म” भी पुराने ही ढंग का है । इस प्रकार इस लेख के अधिकांश अच्छर उन शिलालेखों के अच्छरों से पहले के जान पड़ते हैं, जो पृथिवीयेण के समय में उत्कीर्ण हुए थे और जिनका अब तक पता चला है ।

इस प्रदेश में जो महत्वपूर्ण प्राचीन स्थान हैं, उनका पारस्परिक अंतर भी मैं यहाँ बतला देना चाहता हूँ। नचना स्थानों का पारस्परिक से लगभग पाँच मील की दूरी पर अंतर उत्तर-पश्चिम की ओर दुरेहा है।

भूमरा (भूमरा) से खोाह पाँच मील (दक्षिण की ओर) पहाड़ी के उस पार है। गंज से भूमरा तेरह मील की दूरी पर है। खोाह दक्षिण की ओर एक ऊँची पहाड़ी (ऊँचाई लगभग १५०० फुट) के नीचे है और नचना उसकी उत्तरी ढाल के नीचे है। खोाह तो नागौद रियासत में है और नचना अजयगढ़ में। दुरेहा जासो में है। आरंभिक शताब्दियों में दो बड़े कस्बे थे—एक तो उस स्थान पर था, जहाँ आज-कल गंज-नचना है; और दूसरा उस स्थान पर था, जहाँ आज-कल खोाह नामक गाँव है। ये दोनों कस्बे एक साथ ही बसे थे और एक पर्वत-माला इन दोनों को एक दूसरे से जोड़ती भी थी और अलग भी करती थी; और उसी पर्वत के शिखर पर भूमरा का मंदिर था। इस “भूमरा” शब्द का अधिक प्रचलित और अधिक शुद्ध उच्चारण “भूमरा” है। यह मंदिर मझगाँव (बीच का गाँव) के पास है और भूमरा गाँव से ढेड़ मील की दूरी पर है। उस स्थान पर और नागौद में मैं जितने आदमियों से मिला था, वे सब लोग इसका नाम “भूमरा” ही बतलाते थे।

भूभरा गोड़ों का गाँव है और इनकी आकृति वैसी ही होती है, जैसी भरहुत की मूर्तियों की है । भरहुत और भूभरा दोनों ही नागौद रियासत में हैं और एक से दूसरे का सीधी दूरी लगभग बीस मील है । दोनों के मध्य में उच्चहरा है, जहाँ नागौद के राजाओं के रहने का किला है ।

भूभरा के मंदिर के चारों ओर ईटों की बनी हुई एक दीवार थी । मंदिर के अवशिष्ट अंश के चारों ओर एक चौकोर घेरे में हजारों ईटों पड़ो हुई हैं । भूभरा को उत्कीर्ण हट जिस जगह (पूर्व फाटक पर) में ईटों के ढेर की जाँच की थी, उस जगह की अधिकांश ईटों पर मुझे लगभग सन् २००१ के ब्राह्मी अक्षर लिखे हुए मिले थे । मैं इस तरह की दो ईटों पटने के अजायबघर में ले आया हूँ । उस मंदिर के बनने का समय निश्चित करने में इन ईटों से बहुत कुछ प्रामाणिक सहायता मिल सकती है । नीचे की ओर खुरदुरे भाग पर एक ईट पर “दर्व-आरा (ल)” लिखा हुआ है और दूसरी ईट पर पहली पंक्ति में “दर्व” और दूसरी पंक्ति में “आराला” लिखा हुआ है । “दर्व” का अर्थ होता है—साँप का फन; और आराल या आराला का

१. देखो प्लेट ६; खियों की आकृतियाँ और भी अधिक मिलती-जुलती होती हैं ।

२. देखो प्लेट ७ और ८; ईटों की सतह इसलिये कुछ छील दो गई है जिसमें फोटो लेने में अक्षर साफ आवें ।

भूमरा (भूमरा) की इंट



आगला भाग

पृष्ठ ४३२

222 (1957) 141

भूमरा (भूमरा) की इट



पिन्डुला भाग

पृष्ठ ४३२



अर्थ होता है—वृत्त की अवधा या आरा; और यह शब्द संस्कृत अराल से निकला है। ये चिह्नित इटें वास्तव में मेहराबी इटें हैं। जान पढ़ता है कि आरा का अर्थ है—मेहराब में लगनेवाली गावदुम इट या पत्थर; और बोडे की नाल के आकार की मेहराब का हिंदू वास्तुकला में पारिभाषिक नाम “आराला” था। दर्व आराल या तो मेहराब की आकृति का सूचक नाम था और या उस स्थान का सूचक या जिसमें नाग-मूर्तियों के फन रहते थे। एक इट की चिकनी सतह पर एक बड़े अच्छर “भा” के अंदर एक छोटा सा स्पष्ट “भू” बना हुआ है। इस बड़े अच्छर “भा” के बाद एक छोटा सा “रा” है और तब अनुस्वार-युक्त “य” है। सब मिलाकर “भूभारायम्” पढ़ा जाता है, जिसका अर्थ होता है—“भूभारा में।” दूसरी इट में ऊपर की ओर बाएँ कोने पर “आ” और दाहिने कोने पर “रा” है। उनमें मंदिर का ठीक रास्ता बतलाने के लिये तीर के निशान बने हैं। इन इटों का आकार वैसा ही है, जैसा मेहराब में लगाई जानेवाली गावदुम इटों का होता है। इनमें से एक ड्रट की नाप तो ७" x ८" x ८" है (यह एक तरफ से दृटी हुई है; इस समय ६" है; परंतु मूलतः कदाचित् दूसरी ओर की तरह ८" ही रही होगी) और इसकी मोटाई २ १/२" है; और जिस मसाले से यह बनी है, वह बहुत मजबूत है। दूसरी इट ८" x (७", दृटी हुई है) ८" है। जान पढ़ता

है कि ये ईंटें पहाड़ी के नीचे बनी थीं और भूभारा के लिये थीं; और जिस पहाड़ी पर यह मंदिर बना था, जान पड़ता है कि उसका नाम भूभारा था । कदाचित् कई अलग अलग इमारतों के लिये बहुत सी ईंटें एक साथ ही बनी थीं; और जिस स्थान की इमारत के लिये जो ईंटें बनी थीं, उस स्थान का नाम उन ईंटों पर अंकित कर दिया गया था ।

भूभारा मंदिर के जो पत्थर इस समय बचे हुए हैं, उन पर कोई लेख नहीं है और इसी लिये मंदिर का समय निश्चित करने में ईंटों पर के लेख बहुत उपयोगी हैं । यह मंदिर सन् २०० ई० के बाद का किसी तरह नहीं हो सकता; और जैसा कि अच्छरों के रूपों से निश्चित रीति पर सूचित होता है, वह मंदिर सन् १५०—२०० ई० के लगभग का होना चाहिए ।

मंदिर में जो मुख-लिंग इस समय जमीन पर लेटा हुआ पड़ा है, उसका नाम मंभगेवाँ और उसके आस-पास के स्थानों में प्रचलित अनुश्रुति के अनुसार

भाकुल देव

भाकुल देव है । जान पड़ता है कि इसका असली नाम भार-कुलदेव था, जिसका अर्थ होता है भार-वंश का देवता । ईंटों के समय से यह निष्कर्ष निकलता है कि यह वही शिव-लिंग होगा, जिसके भार-शिव राजा के द्वारा स्थापित होने का उल्लेख वाकाटक शिलालेखों में है । जो हो; परंतु यह भार-शिवों के ही समय का है ।

मूमरा (मूमरा) की इट



अगला भाग

पृ० ४७४

卷之二

目錄

भूमरा (भूमरा) की इट



पिछला भाग

पृ० ४३४



इसके आस-पास के कुछ स्थानों के नाम भी इसी प्रकार के हैं; यथा — भरहता और भरौलो । सतना के पास भर-

भर और भार से युक्त जुना नामक एक स्थान है, जहाँ बहुत स्थान-नाम सी प्राचीन मूर्तियाँ पाई जाती हैं ।

उसी क्षेत्र में और इसी प्रकार के नामोंवाले स्थानों के बीच में सुप्रसिद्ध भरहुत नामक स्थान भी है ।

भूभरा (यारी पाथर) के सीमा-सूचक स्तंभ-अभिलेख से, जो इस समय जंगलों में है, यह सूचित होता है कि गुप्त काल

इस क्षेत्र में अनुसंधान में गुप्त-साम्राज्य और वाकाटक राज्य के होना चाहिए मध्य में भूभरा (गाँव) था । भूभरा और मझगाँवों घने जंगलों में हैं । जब हम लोग लौटने लगे थे, तब हमें देखा था कि जिस रास्ते से हम लोग आए थे और वापस जा रहे थे, उसी रास्ते पर हम लोगों के आने के बाद बड़े-बड़े चीलों का एक जोड़ा गया था, क्योंकि उनके पैरों के ताजे निशान वहाँ साफ दिखाई देते थे । मुझे सूचनाएँ मिली हैं कि उस पहाड़ी पर इस समय भी इसी तरह के और कई मंदिर बर्तमान हैं । इस पहाड़ी पर अच्छी तरह अनुसंधान होना चाहिए ।

भूभरावाले मंदिर पर आज-कल की बर्बरता के कारण बहुत अत्याचार हुआ है । उसका शानदार दरवाजा, चौखटे के पश्चर और मूर्तियाँ आदि लोग बठा बर्बरता ले गए हैं । मतलब यह कि सारा मंदिर ही बिलकुल ढां दिया गया है । इसके कुछ अंश तो

ले जाकर कलकत्ते के इंडियन स्यूजियम में पहुँचा दिए गए हैं और कुछ उचहरा के किलो में ले जाकर रख दिए गए हैं, जहाँ बहुत से अंश नागौद की कार्डिसिल के प्रेसिडेंट लाल साहब महाराज-कुमार भारगवेंद्रसिंहजी की कृपा से सौभाग्य-वश बच गए हैं और सुरक्षित हैं। पर हाँ, वे सब तितर-वितर हैं। सुंदर मुख-लिंग जंगल में एक ऐसे मंडप में विल-कुल फेंका हुआ पड़ा है, जो बड़े दरवाजे के हटा दिए जाने के कारण विलकुल जीर्ण-शीर्ण हो गया है। उस मंदिर की वे मूर्तियाँ भी लोग वहाँ से उठा ले गए हैं, जो चारों ओर कतार से रखी हुई थीं। यह भरहुत की वास्तु-कला और उस हिंदू आकारप्रद कला के बीच की शृंखला है, जिसका बाद में फिर से उद्धार किया गया था; और भरहुत के मंदिर की जो दुर्दशा हुई है, उससे भी कहाँ बढ़कर इसकी दुर्दशा हुई है।

नचना के मंदिर की इससे भी और अधिक दुर्दशा हुई है।

नचना

इधर कुछ ही वर्षों के अंदर प्रसिद्ध

पार्वती-मंदिर की बाहरी दीवारें पूरी तरह से ढह गई हैं^१। इसी पार्वती-मंदिर के कुछ पत्थरों आदि से

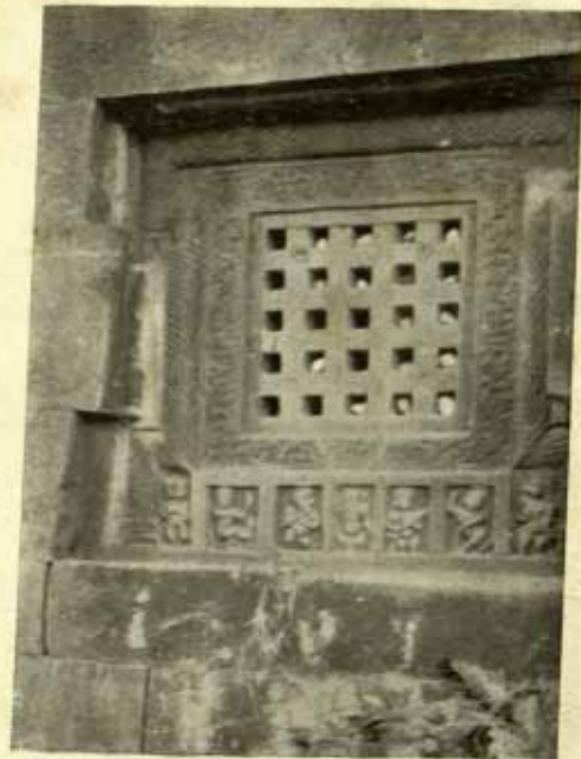
१. जब लाल साहब का ध्यान मंदिर की बर्त्तमान अवस्था पर दिलाया गया, तब उन्होंने कुरा करके यह बचन दिया है कि इस समय जो कुछ बचा हुआ है, उसे रक्षित रखने का वे उपाय करेंगे।

२. देखो माडन रिझू, कलकत्ता, अप्रैल १८३३, जिसमें इसका चित्र दिया गया है।

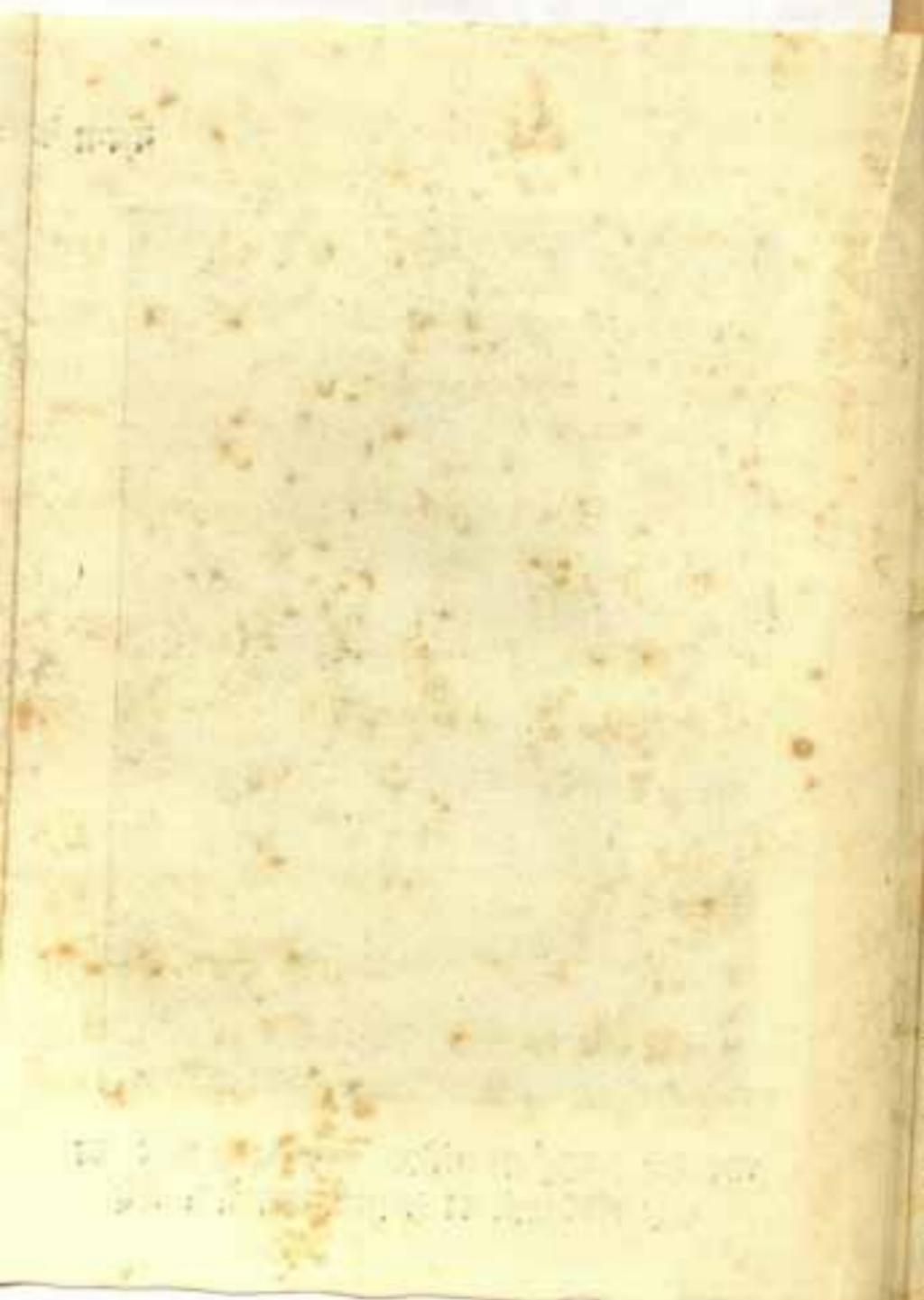
नचना के मंदिर



भार-शिव (चतुर्मुख) मंदिर आमलक के ऊपर का
अंश और आगे का चरामदा हाल में बना है



पार्वती-मंदिर की एक स्थिति, खजूरी नकशा



एक स्थानीय ब्राह्मण ने शिव-मंदिर के शिखर के एक अंश का मरम्मत करा दी है;^१ और उस ब्राह्मण के संबंध में यह कहा जाता है कि उसे नचना में घड़ों में भरी हुई सोने की मोहरें मिली थीं। पार्वती-मंदिर की दीवारें चट्टानों और खोहों की नकल पर बनाई गई थीं, परंतु अब वे पूरी तरह से नष्ट हो गई हैं और उनमें की पश्चिमों की वे मूर्तियाँ, जो हिंदू आकार-निर्माण कला के सबसे अधिक सुंदर नमूने हैं, या तो जमीन पर इधर-उधर पड़ी हुई हैं और या लोग उन्हें उठा ले गए हैं। उनमें से कुछ मूर्तियाँ मेरे एक मित्र ने किसी तरह बचाकर रख ली हैं।

पार्वती का मंदिर और शिव का मंदिर दोनों एक ही कारीगरों के बनाए हुए हैं और एक ही समय के हैं। मिठा

पार्वती और शिव के कोडरिंगटन का यह कथन ठीक नहीं है मंदिर कि शिव के मंदिर का शिखर बाद का और अलग से बना हुआ है (Ancient India पृ० ६१)। मैंने उन मंदिरों को खूब अच्छी तरह देखा है और उसके संबंध में एक ऐसे इंजीनियर की विशिष्ट सम्मति भी मुझे प्राप्त है, जिन्हें मैं अपने साथ वहाँ ले गया था। भारतवर्ष में इस

१. देखें प्लेट ६; शिखर-मंदिर के सामने का जो कमरा है, वह बहुत हाल का बना है। फोटो लिए हुए पाश्व में दिखाई देनेवाला शिखर वही है, जो मंदिर के साथ बना था; उसका केवल चिलकुल ऊपरी भाग हाल का बना हुआ है।

समय जितने मंदिर वर्तमान हैं, उनमें से यह शिखर-मंदिर सबसे पुराना और पहले का है और अपने उसी रूप में वर्तमान है, जिस रूप में वह पहले-पहल बना था । उसमें की नक्काशी और वास्तुकला-संबंधी दूसरी कारीगरियाँ गुप्त कला तथा उसके बाद की कला के पूर्व-रूप हैं । लिंग में जो शिव के मुख बने हुए हैं, वे परम उत्कृष्ट हैं । उनमें से एक मुख भैरव रूप का सूचक है और उसके तालू की सफाई आश्चर्य-जनक है और उसकी बढ़िया कारीगरी का पता उस पर हाथ फेरने से चलता है । मैं आशा करता हूँ कि कोई कला-विद् उस स्थान पर पहुँचकर उस मंदिर और उसमें की मूर्तियों का खूब अच्छी तरह अध्ययन करेंगे और इमारतों तथा खँडहरों को बचाने का सरकारी तौर पर कोई प्रयत्न किया जायगा ।

नचना की इमारतों का समय शिव की आकृति देखकर बहुत अच्छी तरह किया जा सकता है । दक्षिण की ओर नचना के मंदिरों का जो मुख है, वह भैरव का है । भार-समय शिव लोग शिव की उपासना उसके शिव या कल्याणकारक रूप में ही करते थे । भूभरा और नकटी (खोह) में और एक दूसरे स्थान पर, जिसका पता मैंने लगाया था (देखो आगे), सब जगह शिव का वही

रूप देखने में आता है। परंतु इसके विपरीत बाकाटक रुद्रसेन प्रथम शिव की उपासना उसके महा-भैरव रूप में करता था (Gupta Inscriptions पृ० २३६)। मुख्य मंडप में भैरव की मूर्ति स्थापित करना चर्जित था (न मूलायतने कार्यो भैरवस्तु...। भत्स्यपुराण २५८, १४)। इसी लिये हम देखते हैं कि भैरव की वह विकट मूर्ति (तीचणनासाग्रदशनः करालवदनो महान्। उक्त २५८, १३) दूसरी मूर्तियों के साथ मिलाकर बनाई गई है^१। इसी प्रकार के दो और भैरव शिव जासो में मिलते हैं। उनमें से एक तो गाँव में एक चबूतरे पर है और उसी लाल पत्थर का बना हुआ है, जिसकी भूभरावाली मूर्तियाँ बनी हैं और दूसरा जासोवाले मंदिर में काले पत्थर का बना हुआ है (जो किसी आस-पास के स्थान से लाकर वहाँ स्थापित कर दिया गया है)। नजनावाले मंदिर रुद्रसेन प्रथम के समय के हैं; क्योंकि पृथिवीयेण शिव की उपासना महेश्वर रूप में करता था (Gupta Inscriptions पृ० २३७)। पार्वती-मंदिर को खिड़कियों में से एक में खजूर के पेड़ के तनेवाली तर्ज है^२। यह तर्ज भूभरा में

१. देखो प्लेट ११।

२. देखो प्लेट १० में दिखलाए हुए दोनों मुख। गर्भ-गृह में और धेरा रहता है, पर खिड़कियों से प्रकाश आता है। यह फोटो बहुत कठिनता से लिया गया था।

३. देखो प्लेट ६।

विशेष रूप से दिखाई देती है। स्व० श्रीयुक्त राखालदास बनर्जी ने बतलाया था कि बनावट और मसाले आदि के विचार से पार्वती और भूभरावाले मंदिर विलक्षण एक ही हैं (Memoir नं० १६, पृ० ३)। नचनावाला मंदिर गुप्त कला से बहुत कुछ मिलता-जुलता है; वह मानो गुप्त कला तथा भूभरा के बीच की शृंखला है।

भूभरा गाँव के पास एक कूएँ से सटे हुए दृच के नीचे सुधे एक मुख-लिंग मिला था, जो उसी समय का बना हुआ नहीं खोजें है, जिस समय भूभरा-मझगेवाँ का भाकुल देववाला मंदिर बना था। गंज और नचना के बीच में सुधे पत्थर का एक चौकोर मंदिर मिला था, जिसमें एक बावली पर कुछ मूर्तियाँ भी थीं; और उनकी बनावट की सब बातें भी ठीक वैसी ही हैं, जैसी नचनावाली मूर्तियों की हैं। उस मंदिर में एक सादा लिंग है, जिस पर कोई मुख नहीं बना है। वह स्थान चौपाड़ा कहलाता है।

१. देखो प्लेट ११; यह एक विलक्षण बात है कि गया जिले में टिकारी के पास कोच नामक स्थान में सुधे इसी प्रकार की एक और मूर्त्ति मिली थी, यद्यपि वह परवर्ती काल की बनी हुई थी। इससे यह सुनित होता है कि भार-शिवों का प्रभाव मगध तक पहुँचा था।

बाकाटक शिव



नचना में भैरव शिव (चतुर्मुख लिंग) के दो मुख

भार-शिव शिव-मूर्ति



भूमरा (भूमरा) शिव (एक-मुखलिंग) मंदिर में

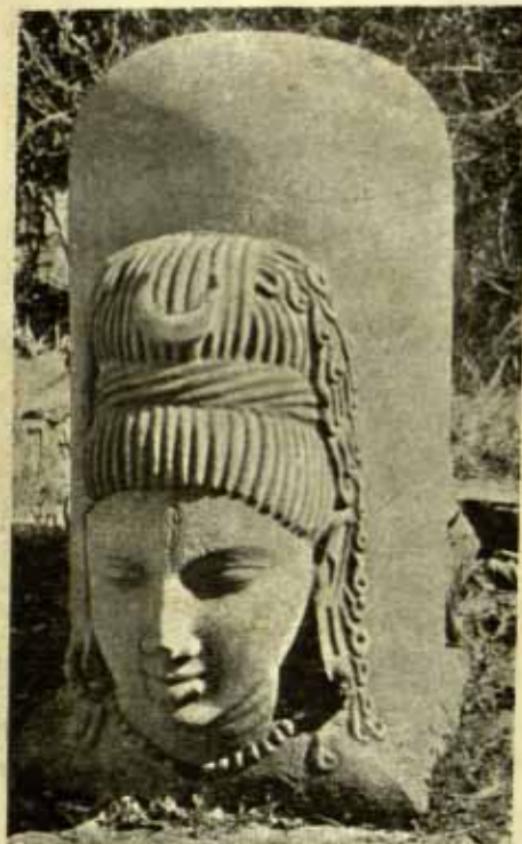


नागौद के लाल साहब तथा दूसरे लोगों से मैंने कई ऐसी स्थानीय अनुश्रुतियाँ सुनी थीं जो वहाँ उच्चहरा, नचना प्राचीन राजकुलों के और नागौद में राज्य करनेवाले राज-संवंध में स्थानीय अनु-कुलों के संबंध में प्रचलित थीं। कहा अतुर्याँ जाता है कि नागौद और नचना के पुराने शासक भर थे और उच्चहरा के शासक सन्न्यासी थे।

ऐतिहासिक दृष्टि से ये सन्न्यासी वही हैं जो शिलालेखों आदि में “परिव्राजक महाराज” कहे गए हैं; और भर लोग संभवतः भार-शिव होंगे। इतिहास में चैंदेलों के समय से, बल्कि हम कह सकते हैं कि गुप्तों के समय से, आज तक भर राजवंश के लिये कहाँ कोई स्थान नहीं है—इतने दिनों के बीच में किसी भर राजवंश ने वहाँ शासन नहीं किया था। यह हो सकता है कि महाराज जयनाथ और उसके परिवार के लोग, जो परिव्राजकों के पड़ोसी थे, भार-शिवों की एक शाखा रहे हों।

भूभरा में कोई भर गाँव नहीं है। परंतु लाल साहब ने, जो नागौद के स्वर्गीय राजा साहब के दत्तक पुत्र हैं और उस जमीन का चप्पा चप्पा जानते हैं, मुझसे कहा था कि इस राज्य के भर लोग यज्ञोपवीत पहनते हैं और निम्न कोटि के चत्रिय माने जाते हैं। भार-शिवों के साथ उनका संबंध हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता। मैं तो यही समझता हूँ कि भार-शिवों के साथ उनका कोई संबंध नहीं था।

भरहुत में मैंने एक यह प्रवाद भी सुना था कि किसी समय वहाँ कोई तेली-बंश भी राज्य करता था। इस तेली बंश से लोगों का मतलब शायद तैलप से होगा, जैसा कि गाँगू और तेली (गांगेयदेव और तैलप) वाली कहावत में तैलप का तेली हो गया है।



एक-मुख-लिंग नकटी की तलाई, लोह



भूमरा एक-मुख-लिंग शिव
गाँव के पास बृक्ष के नीचे



परिशिष्ट ख

मयूरशर्मन् का चंद्रवल्ली-बाला शिलालेख

मैसूर के पुरातत्व विभाग की सन १९२८ की सालाना रिपोर्ट, जो सन १९३१ में प्रकाशित हुई थी, मुझे उस समय मिली थी जब कि मैं यह इतिहास लिखकर पूरा कर चुका था। उस रिपोर्ट (पृ० ५० और उससे आगे) में डॉ एम० एच० कृष्ण ने मयूरशर्मन् का एक ऐसा नया शिलालेख प्रकाशित किया है, जिसमें मयूरशर्मन् का नाम स्पष्ट रूप से भिजता है। इस शिलालेख का मिलान मलवल्ली-बाले उस कदंब शिलालेख के साथ किया जा सकता है, जिसमें मैंने मयूरशर्मन् का नाम पढ़ा है (देखो १९६१)। दोनों में ही उसका नाम मयूरशर्मन् लिखा है। यह नया मिला हुआ शिलालेख चीतलद्रुग के किले के पास चंद्रवल्ली नामक स्थान में एक झोल के किनारे उसके बांध पर खुदा हुआ है और तीन संचित पंक्तियों में है। डॉ कृष्ण ने उसमें कई भौगोलिक नाम पढ़े हैं; यथा—पारिवात्रिक, सकस्था (न), सविन्दक, पुणाट, माकेरी। उन्होंने उस पत्थर का फोटो भी दिया है, जो कुछ स्थानों पर बहुत ही अस्पष्ट है और हाथ से तैयार की हुई अज्ञरी की एक नक्ल भी दी है। उस

फोटो को देखकर मैंने डा० कुण्ठा का दिया हुआ पाठ जौचा है; और मेरी समझ में उस पाठ में कुछ सुधार की आवश्यकता है।

डा० कुण्ठा ने पहली पंक्ति का जो पाठ दिया है, उसे मैं पूरी तरह से ठीक मानता हूँ। वह इस प्रकार है—

१—कदम्बाणाम् मयूरशम्भा (विश्विम्मि) अम्

दूसरी और तीसरी पंक्तियों का पाठ उन्होंने इस प्रकार दिया है—

२—तटाकं दूभं त्रेकूटं अभीरं पल्लवं पारि-

३—यात्रिकं सकस्था (ग) सयिन्दकं पुणाटं मोकरिणा

डा० कुण्ठा ने इन पंक्तियों का अनुवाद इस प्रकार दिया है—

(मयूरशम्भन्) जिसने त्रेकूट, अभीर, पल्लव, पारियात्रिक, सकस्थान, सयिन्दक, पुणाट और मोकरि को परास्त किया था।

परंतु “मोकरिणा” का अर्थ होगा, मोकरि के द्वारा अर्थात् मयूरशम्भन् मोकरि के द्वारा। “मोकरिणा” वास्तव में मयूरशम्भन् के विशेषण के रूप में है। इसके सिवा “दुभा” का अर्थ “परास्त किया था” नहीं हो सकता। जान पड़ता है कि यह पाठ शुद्ध नहीं है। फोटो को देखते हुए मेरी समझ में इन दोनों पंक्तियों का पाठ इस प्रकार होगा—

(चिह्न—पहली और दूसरी पंक्ति के बीच में सूर्य और चंद्रमा के चिह्न हैं जो चिर-स्थायित्व के सूचक हैं।)

२—तटि [.] कांची-त्रेकृट-आभीर-पल्ल [पु] री

३—[याति] केण सातहनिस्थ-सेंद्रक-पुरि-दमनकारि[गा]।
तीनों पंक्तियों का अर्थ इस प्रकार होगा—

कदंबों में के मयूरशम्भव ने, जिसने कांची और त्रेकृट
(त्रिकृट)—अर्थात् आभीरों और पल्लबों की राजधानियों—
पर चढ़ाई की थी और जिसने सातहनी के पास^१ सेंद्रक
राजधानी का दमन किया था, यह बाँध बनवाया था ।

पहली दोनों राजधानियों क्रमशः पल्लबों और आभीरों
की थीं । शिलालेख में उनका कम गलत दिया है; त्रेकृट
का उल्लेख करके लेखक ने उसके बाद आभीर रख दिया
है । जान पड़ता है कि सेंद्रक केंद्र सातहनी में था, और
यह बात हम पहले से ही जानते हैं कि सातहनी एक प्राची
का नाम था । लेख में राजधानियों के ही नाम दिए गए
हैं, इसलिये मैं समझता हूँ कि सातहनी भी किसी कस्बे का
ही नाम होगा ।

डा० कृष्ण ने “तटी” में दीर्घ इंकार की मात्रा तो देखी
थी (पृ० ५४), परंतु उन्होंने उसे “ट” के साथ न पढ़कर
उसके आगेवाले “क” के साथ मिला दिया था । उन्होंने
अपनी नकल में पल्लब के बाद लिखा तो “पु” ही है, परंतु
उसे पढ़ा “प” है; और इसी के फल-स्वरूप उन्होंने “पारि-
यात्रिक” पाठ रखा है । उसके बादवाले “गा” पर उन्होंने

१. अथवा शातहनी में ।

ध्यान ही नहीं दिया है । अपने “सकस्थाण” में उन्होंने जिसे “क” माना है, वह स्पष्ट रूप से “त” है । “ह” और “नि” —जो उसके बाद के दो अचर हैं—को उन्होंने पूरी तरह से चिलकुल छोड़ ही दिया है । सेंद्रक में के एक शोशे को उन्होंने “य” का एक अंश मान लिया है जो वास्तव में वहाँ है ही नहीं । “र” पर इकार को मात्रा है, जिसे डा० कृष्णा ने अपने पुणाट में का “णा” पढ़ा है । अचर के अंत में दाहिनी ओर जो एक सीधी रेखा मान लो गई है, वह अचर का कोई अंग नहीं है; और यह बात बृहत्प्रदर्शक ताल की सहायता से स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है ।

यहाँ यह बात ध्यान रखने की है कि मयूरशर्मन् ने उस समय तक कोई राजकीय उपाधि नहीं धारण की थी ।

लिपि के विचार से इस शिलालेख का काल सन् ३०० ई० के लगभग होगा । आगे चलकर “र” का जो चालुक्य रूप हुआ था, वह सेंद्रक में दिखाई देता है । डा० कृष्णा ने इसका जो समय (सन् २५० ई०) निश्चित किया है, वह अपनी गलत पढ़ाई के कारण किया है ।

डा० कृष्णा ने जो यह शिलालेख हूँड़ निकाला है, उसके लिये और उसमें के जो अधिकांश अचर पढ़े हैं, उसके लिये हम लोग उनके कृतज्ञ हैं । इसमें अवश्य ही उन्हें बहुत परिश्रम करना पड़ा होगा ।

परिशिष्ट ग

चंद्रसेन और नाग-विवाह

चंद्रसेन (पृ० २४६, २५४)—जो यह कहा गया है कि चंद्रसेन गया जिले का एक शासक था, उसके संबंध में देखो कनिंघम कृत Reports खंड १६, पृ० ४१-४२। जनरल कनिंघम ने धरावत (कौवाडोल के पास के एक गाँव) में यह प्रवाद सुना था कि यहाँ किसी समय चंद्रसेन नामक एक राजा राज्य करता था, जिसकी बनवाई हुई चंद्र-पोखर नामक झील, जो २००० फुट लंबी और ८०० फुट चौड़ी है, अब तक मौजूद है। कहा जाता है कि उसने एक अप्सरा के साथ विवाह किया था। वह बौद्ध विद्वान् गुणमति से पहले हुआ था (पृ० ८८)। धरावत में कनिंघम ने ऐसी मोहरें खोद निकाली थीं, जिन पर गुप्त-कालीन अच्छर थे।

नाग-विवाह और कल्याणवर्मन् का विवाह (पृ० २४६-२५५)—कल्याणवर्मन् के विवाह में एक यह विलच्छयता थी कि वह अपना विवाह करने के लिये मथुरा नहीं गया था, बल्कि वधू ही पाटलिपुत्र में लाई गई थी। यह नागों की ही एक प्रथा थी कि कन्या-पत्न के लोग कन्या

को लेकर वर-पत्त के यहाँ जाते थे और वहाँ उसका विवाह करते थे, जिसका पता श्रीयुत हीरालाल जैन ने पुष्पदंत के लिखे हुए अपने गाय-(= नाग) कुमार-चरियु के संस्करण में लगाया है। यह ग्रंथ करंजा ग्रंथमाला में सन् १८३३ में प्रकाशित हुआ था। देखो उक्त ग्रंथ की भूमिका पृ० २७।

विशेष—मैंने ऊपर “अजंटा” रूप दिया है, जो मैंने विंसेट स्मिथ कृत Early History of India पृ० ४४२ से लिया था। परंतु अब मैंने इस बात का पता लगा लिया है कि इसका शुद्ध उच्चारण “अजंता” है, “अजंटा” अशुद्ध है।

शब्दानुक्रमणिका

अ

अंग ३४०	अनंतपुर ४३८
अंतक ३०६	अनाम ३४२
अंतर्वेदी ७५, ७८	अनु-गंगा-प्रयाग २६८, २७०, २७५, २८८
अंधक-वृष्णि ३७८	अपभ्रंश १३०
अंबाला ७१, ७८	अपरांत २२०-२२२, २२४,
अचलवर्मन् १८३	२३२, २८०, ३५८
अच्युत ७२, ७५, ७७, १६८, २८८, २८०, ३०८	अफगानिस्तान ८१, १८६, २७३, २८७, २८८, ३२०, ३४७, ३४८
अजंता ८५, १२८, १३०, १३८, १४२, १६१, १६२, १६५, १६८, २१०, २१६- २१८, २२४, २२६, २२८, २४०, ४८८	अबू सालेह २६०
अजयगढ़ ३२, १३८, १४५, ४७१	अभिधान-चिंतामणि ७०, २५०
अजिञ्चता भट्टारिका १६१, १६५, २१८	अभिधानराजेंद्र ३२
अधिष्ठान ४११	अभिषेक-नाम १३८
	अभिसार १६२
	अमरकंटक २५६
	अमरावती १४८, १६०, १६१, ३७८, ३८८, ३८०, ३८६

अमरुशतक	८१	अशोक	२२७, ३८०, ३८२,
अमोघवर्ष	४५१		४१४
अयोध्या	४६, १७४, २५८,	अशोकस्तंभ	२८५
	२६०	अश्वघोष	२५८
अट्यवर्मन—दे०	“अरिवर्मन”	अश्वत्थामा	४००, ४०१,
अरहृ	२५०		४१२, ४१३
अरावली	३२६	अश्वमेघ	यज्ञ १३, ६४
अरिवर्मन	४३६—४३८, ४४०	अहिच्छत्र	२५, ४१, ४३,
अर्थशास्त्र	३६३		६५, ७२, ७५, ७८, ११५,
अर्दशिर	१०६, ११८		१२०, २८०, २८२, ३१२,
अर्कुद	२७२		४३४
अर्कुद-मालव	३२२		आ
अलबेरुनी	८७, १०८, २५५,	आंग्र	१४, १६, ३८, ८८,
	४६५		१००, १३८, १५२, १६६,
अलवर	३२४		१८०, १९४, १८८, १८१,
अवंती	१६६, १८८, २२२,		१८२, २००, २०३ २२२,
	२२५, २७२, ३२५, ३२६,		२२५, २३१, २३८, २६६,
	३२८, ३८३		२७१, २७६, २८७, २८३,
अवधि	६२		२८६—२८८, ३०१, ३०३,
अवमुक	२८५, ३००, ३०३		३५१, ३५८, ३८५, ३८४,
अविनीत कोंगणि	४२६, ४३७,		४२८, ४२८
	४३८	आंग्र-भूत्य	३५५

आंग्र श्रीपार्वतीय	३५७	आव ३००, ३०१
आंग्र सातवाहन	२४३	आवमुक्त ३००
आगरा	३२४	
आत्म-निवेदन	३१८	
आदिराज	२४६	इंडो-प्रोक ३३३, ३३५
आनन्द	३७८	इंडोनेशिया ३४६
आबू	३२३	इंदौर ७२, १८२
आभीर	१००, ११४ १८८,	इंदैश्वेडा १६, २२, ३८,
	१८८, २२४, २२६ २३८,	६६, ७१, ७५, ७८
	२७२, २८०, २८६, ३२१,	इंद्र ७६
	३२४-३२८, ३५३, ३५५,	इंद्रदत्त २२०
	३५६, ३५८, ३५८, ३७३-	इंद्रद्वीप ३३८, ३३९
	३७६, ३८८, ४६३, ४८५	इंद्रपुर १६, २५, ७१, ७५,
आमोहनी	२०	७८
आराला	४७३	इच्छाकु २०१, २०४, ३७८,
आर्जुनायन—दे० “आर्युना-		३८२-३८८, ३८१, ३८४,
यन”		३८८, ४०५, ४०६, ४०८,
आर्यवर्मन	१८३	४२६, ४२८, ४३४, ४४४
आर्युनायन	१८८, ३२१,	इलाहाबाद ३६, ६१
	३२२, ३२४	
आर्णी	३४८	ई
आर्वत्य	१८८, २८६, ३२५	ईश्वरवर्मन १८३
		ईश्वरसेन २३८, ३७३-३७५,

उ

एरन ११३, ११४, १२६,

उच्चहरा १२६, २४०, ४७२,

१६०, २१०, २१५, २६१,

४७६, ४८१

२८८, ३०५, ३०७, ४५०,

उप्रसेन २८८, ३०३

४५८

उच्छ्व-कल्प १२६, २३६,

एलन, मिं १८७

२४०, २४१

एल्लौर ३८८

उड्डीसा १०८, १८३, १८८,

ऐ

१८२, २७४, २७६

ऐयंगर ४३५

उत्तमदात २४, २८

ऐयर ४३५

उत्तरी सरकार २७७

ऐरक ११४

उदयगिरि १२७, २१०, २२८,

ऐरिकिया ११४

२६१, ३२५

ऐहोल २३२

उदयेन्द्रिरम् ४१७, ४२३

ओ

उनियारा ११५

ओड़छा ८, १५७

उपायन ३१८, ३१९

ओढ़ २७१, २७५

ऋ

ओमगोड ४११

ऋषिक ३४८

ओ

ओरंगजेब ११८

स

क

एटा ३८

कंगवर्मन् २०१, २१५,

एहुक (बौद्ध स्तूप) १००

२८३-२८७, ४४५, ४४६

एरंडपल्ली ३००, ३०३

कंतित ६०, ६३

- कंदसिर ३८०
 कंबोडिया ३३८, ३४६, ४५३
 ककुत्स्थ २१८, २१९, २२१
 कक्कड़ जाट २५२
 कच्छ १८८, ३३६
 कण्व वंश १६, १८, २४३,
 २४४
 कथासरितसागर ८८
 कदंब १४०, १४६, १८८,
 २०१, २१८, २३२, २७०,
 २७१, २८३, २८४, २८६,
 ४०७, ४२७, ४३३, ४३४,
 ४३६, ४४१, ४४५, ४५१,
 ४८५
 कदंब राज्य १३७, १८०
 कनक २७२, २८१, २८२,
 २८५, २८६, ४४५
 कनिंघम २३, ३८, ४०, ४४,
 ४७, ६२, ६५, ६६, ७५,
 ८२, ११३, १२२, १२३,
 १२५, १३२, १५३, १७४,
 १८७, २१४, २३४, २३५,
- ३०४, ३८८, ४३८, ४६७,
 ४७०, ४८७
 कनिष्ठ १८, २०, ४८, ८८,
 ८२, १०८, २४५, २५३
 कन्नोज ३८, ६०
 कन्या-दान ३१८, ३१९
 कन्हेरी २२५, ३५८, ३६५,
 ३६८
 कचना १४७
 करंजा अंशमाला ४८८
 करवार ३६५
 कर्कोट नाग ८२, ८२, ११४,
 ३३६
 कर्कोट नागर ११४, ११५,
 ११८, १२१—१२४, ३२२
 कर्णाटक १३७, १३८
 कर्णपुर ३१५
 कर्पटी ८१, ८२
 कलचुरी २३७
 कलिंग १६६, १८६, १८८,
 १८२, २००, २२२, २२५,
 २३२, २७१, २७७, २७८,

२८०, २८४, २८८, ३००,	कांतिपुरी २८ ३०, ६०, ६३-
३१६, ४३३	६५, ७२-७४, २३८, २७०
कलिंगनगर ३००	काभोज ८८
कलिंग-माहितिक महेंद्र २७४	काक ३२१, ३२४, ३२५-
कलिक ८८, ३३५	३२८
कल्याण महारथी ३५४	काकनाड ३२५
कल्याणवर्मन ७७, २१८, २५२, २५६, २५७, २८१, ३१०, ४८७	काकपुर ३२५ काकुस्थवर्मन २८४, ४३६ ४३७
कसेनमत ३३८, ३३९	काठच्छुरी २३२
काँकेर २७६, २८८	काठियावाड़ १८८, ३२६, काणवायन ३५२, ४३३, ४३८
काँगड़ा १०७, ३१५, ३१७	कात्यायिनी देवी ३८१
कांचनका ३२, १५३	कान २८५, २८६, ४४५
काचिनीपुरी ३२	काबुल ३४२
काची २०४, २८३, २८५, २८७, २८८, ३००, ३०१, ३०३, ३८२, ४०८, ४२६, ४२७, ४२८, ४३०-४३२, ४८८	कामदात २४, २८ काम-रूप ३१५ कारपथ २५० कारले, मि० २२ कारलेली ३८, १२१ कारस्कर २४८-२५३, २५५ कारापाथ २५०
कांचीपुर ४११	
कातारक २७५, २७६	

- कारी-तलई २४१
 कालतोयक २७१, २८०
 कालभर्तु ४१५
 कालिका पुराण ३२
 कालिदास २०६, २५८, २६७,
 ४६२
 काव्यमाला ८१, ८२
 काशी १०, ६४, ३८२
 काश्मीर ८२, २५१, २७३,
 २८८, ३३४, ३८४
 किंडिया ६३
 किट्ठो ६२
 कियान १४४
 किल्किला १४, १४५, १४६,
 १४८-१५१, २२५, २८३,
 ३०५
 किल्किला नाग ३८८
 किल्किला वृष १५०, १५१
 किष्किंघा २४८
 कीर्तिवर्मन २३२
 कीर्तिषेण ७५, ७७, २८१
 कीलहार्न ६, १८३, २१६,
 २१७, २४१, ४१३
 कुंतल १३७, १३८, १६१,
 १६४-१६६, १८०, १८२,
 १८८, २००, २१८, २२१,
 २२२, २२५, २८१, २८२,
 २८४, ४४२, ४४६, ४५१
 कुहर ४२२
 कुणाल ८७
 कुणिंद ७३, ११५, ११७, १४४
 कुवेर २८८, ३०३, ४५३
 कुवेरनाग ८६, १३७, १५८,
 १६५, १७८
 कुमारगुप्त १८८, २१६, २१८
 कुमारविष्णु प्रथम ४१२,
 ४१३, ४१७
 कुमारविष्णु द्वितीय ४१८,
 ४२१, ४२४, ४२६
 कुमारविष्णु तृतीय ४१३,
 ४१८, ४२२-४२४
 कुमारस्वामी, डा० १२८,
 ३२०, ३४४, ४५३

कुम्हदाड़ २४३	कृष्णशास्त्रो ३६०, ३८७,
कुरालू २८८, २९८, ३०१, ३०३	३८८ कृष्णा २७७, २७८, २८६,
कुरैशी, मिं हामिद ३७८, ३७९	३०१, ३७८, ३८४, ४६४ केडफिसस २४५
कुशन द. १८, ३७, ४१, ४७, ५८, ६६, ८८, ८९, ९२, ९६, १०६, १०७, १११, ११५, ११८, १२८, १३०, १४२, १४४, १४५, १८८, २०३, २०४, २०७, २११, ३१८, ३२१, ३२१, ३३४, ४०५, ४५४	केन १४, १४५, १५८ केवट ८० कैलकिल यवन १४८, १५० कोंकण १३८, १८०, २००, २२१, २२२, २२५ कोंकणवर्मन् ४३६-४३८, कोड ३७६ कोडमान ३६६ कोच ४८० कोट ११७, १७६, २४६ कोट वंश ११७, २४६, २८८, २८० कोटा ८६
कुशन यवन १०८	
कुशन संवत् २०	
कुशाल द७	
कुस्थलपुर ३०२, ३०३	
कूथर १५४	
कृष्ण, एम० एच० ४८३, ४८५, ४८६	कोटूर २७७, ३०० कोडरिंग्टन ४७७
कृष्णराज द्वितीय द३	कोडवली ३६०, ३८८
कृष्णवर्मन् ४३६, ४३७	कोदवलिसिरि ३८१

कोलायर २८७, २८८	२४५-२५०, २५२-२५४,
कोशल ७२, १३८, १६६, १७४, १८०, १८२, १८६, २००, २२५, २७१, २७५, २७६, २८७, २८८, ३०२, ४२८	२५६, २८१ कौरव ५०१ कौरालू २७७ कौवाडोल ४८७ कौशलक १४७ कौशांबी १०, ३५, ३७, ५८, ५९, १६८, १८०, २१२, २५४, २८२, ३०३, ३०८ कौशिकीपुत्र ३६७
कोसला १४, १६५, १८१, १८३, १८८, १९२, २१८, २२२, २७६, २८७, २८३, २८४, ३०३, ३८८	ख
कोसम ३८, ५१, ५३, १५६, १५७, १७०	खंडनाग सातक ३६८
कोसल—दे० “कोशल”।	खंडसागरमनका ३८१
कोसला—दे० “कोशला”।	खजुराहो २१, १२२, १३२, २२८
कौँडिन्य ३३८, ३६६, ३७२, ३७३, ४३४, ४४२-४४४, ४५४	खरपल्लाणा ८८ खरोष्ठी ८७
कौंती (कच्छ) ३२६, ३३४, ३३६, ३३७	खर्षर ३२८
कौटिल्य ३०४, ३७६	खर्षरिक ३२१, ३२४
कौमुदीमहोत्सव ७०, ७७, १७३, १७४, २०५, २०७,	खानदेश १८१ खारबेल १२४, १८६, २४७, ३०३, ३८२

खैवर २७३, ३३०	गमस्तिमान् ३३४, ३४०
खोह १७, २१४, ४७१, ४७८	गया २५०, ४८७
ग	गरदे, श्री २९
गंग २८६, ३४३, ४२७, ४३३, ४३५, ४३७, ४३८, ४४०, ४४१, ४४७, ४५६, ४५७	गरुड़ध्वज ८५, २५८, ३१८ गर्ग-संहिता ८१, ८७, १००- १०२
गंग-वंश ३५१, ४०२	गर्दभिल ३७६
गंगवाड़ी ४३८	गहरवार ६०
गंगा ४०, ४२, ४७, ८०	गांगेयदेव ४८२
गंज १३०, १४५, १५३, १५८, १५९, २४२, ४६८, ४७१, ४८०	गांधर्व ३३८, ३४० गांधार ३८४
गंजाम २७७	गांधासप्तशती २०७
गंटूर २०१, २८६, ३७६	गारेना नाला १५४
गंधर्व-मिथुन ८५	गाहड़वाल ६०
गज-लक्ष्मी ८५	गिंजा २१२, २३४
गजवक्तु श्री नाग ८०	गिर्वन ८८
गणपक ३७५	गुजरात १८०
गणपति नाग ७०, ७३, ७५, ७६, ८०-८२, ११५, १६८, २०६, २१२, २८८, २८०, २८६, २८७, ३०८, ३२५	गुणपति ४८७ गुणाल्य ८८ गुप्त ११, २८, ८४, २४६, २४७, २६८, २६८, ४३३ ४५६, ४६४, ४८१

गुप्त लिपि ३४६, ३४७	च
गुप्त संवत् २३६, २३७, २८४, ३१६, ३३०, ३४६	चंड २२५ चंडसेन २४७, २४८, २५४, २५६, २८१
गुर्जर २३२	चंद वरदाई ८२ चंदेल ८८, ४८९
गुह २७२, २७८, २८०, २८१	चंद्र २४६ २४८, २५२-२५५, ३१२
गुह-शिव २७८	चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ११, १६८
गेरिनी ३१५	चंद्रगुप्त प्रथम ७७, ८१, १२८, १७३, १७५-१७८
गोदावरी २७७, २८६	१८७, २११, २४८, २५३, २५४, २५६, २५७, २५८, २७३
गोनद' द्वितीय ८२	चंद्रगुप्त द्वितीय ८६, १३७, १३८, १५६, १५८, १६४, १६५, १६७, १७७, १७८, १७९, २६०-२६२, २७३, ८८१, ३१८, ३२१, ३२५, ३३३, ३४३, ४५१
गोपराज ३०८	चंद्रगुप्त गुहा २२८, २६१
गोपीनाथ राव १२२	
गोविंदराज द्वितीय २०८	
गौतम गोत्र ४३४	
गौतमीपुत्र ८, २२, १३६, १६४	
ग्राउस, एक० एस० ७१, ११८	
खालियर ३०५, ४५०	
घ	
घटोत्कच २४६, २६८	
घटोत्कच गुहा १६१, २२६	

चंद्रगुप्त मंदिर	३२५	चंबल	३०५
चंद्रगोमिन्	२५१, २५२	चक	८०, ८१
चंद्रपाल	२६०	चक पुलिद	८०, ८१
चंद्रपोखर	४८७	चक्र-चिह्न	७६, ७७
चंद्रभागा	२७३, ३२८, ३३०,	चण्का	३०-३२, १५३, १६४,
	३३४		१८१
चंद्रवर्मन्	३०८, ३११, ३१२,	चनका दे० “चण्का”	
	३१४	चनाव	३१६
चंद्रवल्ली	२८५, ४८३	चमक	१३७, ३६०
चंद्रसाति	२४७, ३६०, ३८५,	चरज नाग	५३-५६, ५८,
	३८७		७५
चंद्रसेन	२५०, २५४, ४८७	चराज	५०
चंद्रांशु	१७	चर्नक	१६०
चंपा (कंबोधिया)	१३८,	चलका	३१
	४०७, ४५४	चलिकिरम्भणक	३८२
चंपा (भागलपुर)	६८, २७१,	चातिसिरि	३८०, ३८२, ३८५
	२७४, २७६, ३१६, ३४२,	चाँदा	१८२, २७६
	३४३, ३४५, ३७३	चाटमूल प्रथम	३८०, ३८३-
चंपानगर	६८		३८७, ४०८
चंपावती	६८, ७२, ७८,	चाटमूल द्वितीय	३८०-३८३,
	११८, २६८		३८६, ३८८, ३८९
चंपावती वंश	७५	चाटसिरिका	३८२

चानका दे० “चणका”	चोल २०२, २०४, २०७,
चारुदेवी ४२८	३८२, ४२७, ४३०, ४४३
चालुक्य १०८, २३०, २३२,	चौपाढा ४८०
२६१	छ
चिरगाँव १४७, २००, २८४	छठिसिरि ३८१
चीतलदुग २८५, ४८३	छतरपुर १२३
चुंट ३६१	छत्तीसगढ़ २७६
चुद १८०, १८१, ३६१, ३६४,	छिंदवाडा १६१
३६६, ३६७, ३७०—३७२,	ज
३८३, ३८८, ३८९, ३८८,	जगगड्यापेट २०१, ३७८, ३८०
४०२, ४१८, ४३४	जनमेजय ११८
चुदु-कुल ३५८, ३६५	जबलपुर ५५, ८५, १६१
चुदुकुलानंद शातकर्णि ३६१,	जम्मू ८२
३६४, ३६५	जयचंद्र विद्यालंकार ३४८
चुद मानव्य १८१, ४४२—	जयदेव प्रथम २४४, ३१६
४४४	जयदेव द्वितीय २४४
चुदु सातकर्णीय ४४२	जयनाथ २४१, २४२, ४८१
चुरा ४२२	जयपुर ११४, ११५, ३२२
चूतपल्लव ४१५	जयवर्मन ३८५
चेदि संवत् २३४	जयसिंह २३१
चेदिय १८८, २३७, २३८	जयसिंह वल्लभ २३२
चेल्लूर २३१	जल १८३

जाट २५१	टक्क नाग ११५
जानखट ४१, ४३, ४६, ४७, ११३, १२८	टक्करिका ८२ टाक ८१, ८२
जार्त २५१	टाक-वंश ७०, ७४
जार्तिक २५१	टालेमी ६३
जालंधर १८२, १८४, १८६, १८८, ३१०	टिकारी ४८० टैगोर व्याख्यान १०५
जालप ८१	टोक ११५
जावा ३४०, ३४४	टवाक ३१५
जासो १०, ८०, १६३, २१४, २१५, ४६७, ४७१	ढ
जुनाह यौवन १०६	ढंग १२२
जुष्क (वासिष्क) ५८, ८२	गा
जूनागढ २५१, ३४३, ३६३	गाय (=नाग) कुमार-चरियु
जैन ८३, ८५, ८६	गृद्ध
जोहियावार ३२३	त
ज्येष्ठ नाग वंश २८	तरबाड ३८०
भ	तलवर ३८०
झाँसी १४७	तहरौलो १४७
झेलम ३२४	तांत्राप ४११
ठ	ताम्रपर्णी ३३८, ३३९
टक्क ७०, ११५, १३०, १८४	ताम्रलिपि २७१, २७५, २७६, ३४४, ३४५ ४५१

तालगुँड	२८३, ३७१, ४३७,	त्रैराज्य	२७२, ४४६
	४४१, ४४४,		थ
तिगवाँ	१२३	थारी	पाथर ४७५
तिगोवा	१२३, १२४, २१५		द
तिरवा	४१	दंतपुर	३८५
तुखार	१०७, १०८, १४२, १४३	दत्तदेवी	४५८
तुखार-मुरुंड	१४, २६६, ३३६	दत्तवर्मन	१८३
तुरुषक	५८, ८२	दमन	२८८, ३०३
तेलो-बंश	४८२	दमोह	३२६
तैलप	४८२	दयाराम	साहनी, राय बहा-
त्रय नाग	५०, ५६, ५८, ७४	दुर	४२, १८३
त्रिकूट	१३८, १६६, १८२, २२२, २२५, २३२	दरवेश खेल	२७३
त्रिगर्ता	१८२	दरेदा	४८८
त्रिपिटक	४५३	दर्शी	४११, ४१३
त्रिमित्र	१८७	दशनपुर	२८६, ४११
त्रैकूटक	१४७, २२०, २२१, २२४, २३७-२३८, ४८४, ४८५	दशाश्वमेघ	८
		दह-गण	२४७
त्रैकूट संवत्	२२४, २३७	दहसेन	२२०, २२४, २३७, २४७
त्रै-मूर्खिक	२८१	दाठा-बंश	२७८
		दामोदरसेन	प्रबरसेन १३७, १३८, १६०, १६५

दासोदरसेन	प्रवरसेन	द्वितीय	देवसेन	७८, १६१, १६२,
१६०, १७३			१६६, १६७, १७३, २१०,	
दार्विक	२७३		२२१, २२३, २२७	
दार्विकोर्वा	३२८		देवेद्रवर्मन्	३००
दार्वीच	२७३		देहरादून	१८३
दिवाकरवर्मन्	महीधंघल		दैवपुत्र	१०८, ३१८
१८३			दैवपुत्र-शाहानुशाही	४०५
दिवाकरसेन	१३७, १५८,		दैवपुत्र वर्ग	३१७
१६५, १७२			दौर	२७३
दीचित,	के० एन०	४६, ८३	दैलतावाद	२८०
दुरेहा	१०, ७६, १४७,		द्रोणाचार्य	१४७, १४८, ४००,
१५८, १६३, ४३८, ४६७,			४०१	
४७१				ध
दूदिया	१३७, १६१, २१६		धनंजय	२८८, ३०३
देव	५१, ५३, २७२, २७३		धनकस	३८०
देवगढ़	११३, २०८, २१०,		धनदेव	२७४
	२१५		धरावत	४८७
देवगिरि	२८०		धर्म	१७
देवगुप्त	१३८, १६७, २१६		धर्म-महाराज	४०७
देवनाग	७५, ७६, १०५		धर्म-महाराजाधिराज	२०२,
देवराष्ट्र	३०१-३०३			४०५
देवली	८३		धर्मवर्मन्	१७, २६, २७

धर्म-सूत्र	२५०	२४२, ४६७, ४६८, ३७१,
धान्यकटक	४०८	४७६-४८१
धारण	२४८, २५२	नरसराओपेट ४२२, ४२४
धारा	८१, २८०, ३२३	नरेंद्रसेन १६१, १६५, १७३,
धारी	२५२	१७८, १८०, २१५, २१८-
न		२२१, २२३-२२५
नंदिवर्द्धन	२७, ८३, ८४, ८७, ११८, १६०	नर्मदा १०८, १८२
नंदिवर्मन	प्रथम ४२२-४२५	नल १८५, १८१
नंदी	१८, ६३, ८४	नव ४५
नंदी नाग	१८, ६६, ८३, ८४, ८३, १८३, ३१२	नव-खंड ४२८
नकटी	२१४, ४७८	नवगढ़ ४२८
नखपान	१७	नव नाग २३, २८, ३५, ३७, ३८, ४७, ४८, ५१, ५६,
नगर	११८, १२०	५८, ५९, ६३, ६४, ६६- ६८, ७०, ७४, २६७, २६८
नगरधन	८४, ८७, ११८	नव-राष्ट्र ४२८
नगवा	८५	नहपान १७, १८, २०
नचना	३२, ८०, १२१, १२३, १२५, १२६, १३०, १३१, १५३, १५४, १५८, १५९, २१०, २१३-२१५, २४०,	नाग १६, १८, २६, २८, ३०, ३८, ६६, ६८, ७५, ८८, ११४-११६, ११८, १८८, १८४, ३४०, ४०८, ४५६, ४८७

नाग गंगा ११३	नागसेन ७२, ७५, ७७, १६९,
नागदत्त ७१, ७२, ७५, ३०५,	२८८-२८९, २८३, ३०८
३१०, ३१२, ३१४, ३२४	नागार्जुन ३७८, ३७९, ३८४,
नागदेव ६२	३८०
नागद्वीप ३३८	नागार्जुनी कोड ८४, २०१,
नागपुर २७, ८३, ८६, ११८,	३७८
१८१, ३८४	नागौद ६२, १२६, १४५,
नाग बाबा १२३	१५३, ४६७, ४७१, ४७२,
नाग मुलनिका ३८१	४७३, ४८१
नाग यमुना ११३	नाचना १५३, १५४
नागर ११८, १२०, १२१,	नासिक ३७५
१२५, ३२२	नालंद २४०
नागर जाट १२०	निर्मल पर्वत-माला ८५
नागर ब्राह्मण ११८	नीकोबार ३३८
नागर लिपि १३०, १३१	नीमाड़ १८२
नागरवर्ढन ११८	नीलराज २८८, ३०२
नागर शिखर १२८	नेपाल ३४, १७८, ३०८,
नागर शैली १२०, १२८	३१५
नागरी १३०, १३१	नैषध १५२, १८४, १८०,
नाग वंश ३, १७, २२, २८,	१८१, २७१, २८०, २८७
३०, ३८, ४१, ४६, १८४	नौगढ़ १७, २३६, २४०,
नागस ५३, ५४	४६७

प

पंचक ८०
 पंचकर्पट ८२, ११५
 पंपा १७६
 पंपासर २५६
 पहुमित्र १८५, २१८
 पतंजलि १०४, ३३०, ३३१
 पदम पवाया १८
 पद्ममित्र १८५, १८७, २१८,
 २८७
 पद्म वंश २१
 पद्मालया ८०
 पद्मावती १८—२१, २५—२७,
 ३०, ३७, ४१, ५८, ६४,
 ६५, ६८, ७०, ७२—७४,
 ७६—७८, ८३, ८४, ८७—
 ८८, ११५, ११६, १२७,
 २८८, २७०, २८०—२८२,
 ३२४
 पञ्चा १४, १३८, १४५, १५३,
 ३०४
 परदी २२४

परम काम्बोज ३४७
 परिव्राजक महाराज ४८१
 पलककड़ २८५, ३०१
 पलब १५८, १८४, १८३,
 २००, २०१, २०८, २२८,
 २३२, २८३, २८६, २८८,
 २८९, ३८६—३८८, ४०१,
 ४०७, ४१०, ४२०, ४२५,
 ४२८, ४३१, ४३३, ४३८,
 ४४४, ४४६, ४४७, ४८४,
 ४८५
 पवाया २१, २४
 पांचाल १७४
 पांडव ४०१
 पाटलिपुत्र ७७, १०७, १२८,
 १७३, १७४, १८७, २४४,
 २४५, २४७, २४८, २५४,
 २५७, २५८, २७८, २८०,
 २८०, ४८७
 पाठक, मि० ८३
 पाणिनि ३३१

पारजिटर, मि० १५, १८, १९, ११, १८, १००	पुलिंद ८०, ८१, ८८, १००
२८, ३१, ४१, ४४, ४५, ८७, ८०, ८१, १४३, १५०, १६८, १८६, १८८, १८९, ३५५, ३५७	पुलुमावि २० पुलुमावि त्रीय ३८५ पुष्पपुर २४४, २८८ पुष्पमित्र १६, १८४, १८५
पारियात्रिक २८५, ४८३, ४८४	१८७, १८८, २१८, २२०, २२२, २२४, २२६, ३२५, ३७४, ४६३
पार्थियन ३८७	पूर्वोंय वाट २७७
पार्थिती ४८०	पृथिवी गीता ४६१
पालक-शाक ८१	पृथिवीषेणा प्रथम ३३, ३४,
पालद ८१, ३१८	१३०, १३६, १३७, १४०,
पिठापुरम २७७, ३८८	१५६, १५७, १५८, १६४,
पिशुंड ३००, ३०१	१६७, १६८, १७०, १७२,
पिष्टपुर २७७, २७८, ३००	१८२, २१५, २४२, २८१,
पुण्याट ४८३, ४८४, ४८६	३०५, ४५१
पुरिकाचनका ३१	पृथिवीषेणा द्वितीय १३०, १३१,
पुरिका २७, २८—३२, ७५, ८५, ११८, १६४, १८१	१६६, १७३, २२१—२२३
पुरिषदात २४, २८, ३८८	पृथु ४५०
पुलका ३१	पेनुकोड ४३८
पुलकेशिन् प्रथम २३०—२३३	पेरिष्लस ३२६
पुलकेशिन् द्वितीय २७७, २८७	पेशावर ३२०

- पैष्ठापुरक १४७
 पोविंदाह ८१
 पौड्र २७१, २७५, २८३, ३१५
 प्रकीय ३८२
 प्रकोटक २७६
 प्रदोष्ट वर्मन् १८३
 प्रभाकर १८६
 प्रभावती गुप्ता ८३, ८६, ८७,
 १३७, १३८, १५८, १६०,
 १६५, १७२, १७८, २१३,
 २१५, २२५, २३५, २३८,
 २४६, २४८, २५१, ४१४,
 ४५१
 प्रबरपुर १६०, १६१, १६५
 प्रबरसेन प्रथम ७, १०, ५७,
 ६७, १३६, १४१, १५३,
 १५५, १५८, १५८, १६४,
 १७२, १७४, १८१, १८५,
 १८६, २००, २०२—२०४,
 २०६, २०७, २१२, २२७,
 २३३, २३५, २३८, २४१,
- प
- २४५, २८२, ३३५, ३८६,
 ४०७ ४०८, ४३१
 प्रबरसेन द्वितीय १६०—१६२,
 १६५, १७३, २१५, २१६,
 २२५, २३८, ४१४
 प्रवीर ३१, १४२, १४३, १५१,
 १६४, १७१, १८१, २१०,
 २६७, २६८ ४०३
 प्रवीरक ६४, १४५
 प्रार्जुन ३२१, ३२४, ३२८
 पू ३४६
- फ
- फन्सावाद ३८, ४१
 फान-ये ३४२
 फान-हाउ-ता ३४१
 फा-हियान २६२, ३४४, ३४५,
 ४५२
 फूनन ३४३, ३४४
 फलीट ६, ११, ३२, ३४, ४५,
 ७१, १३१, १७०, १७८,
 २०८, २१६, २३६—२३८,

२४४, २६५, २६६, २८२, वस्तर	१८३, २७६, २८७,
३१०, ३८७	२८८, ३८४, ४२८
ब	बहावलपुर ३२३
बक्सर १५८	बागाट ४०१
बघेलखंड ८, १०, ५८, ६०, ६२, ६३,	बाण २८१
बनवसी ३५८, ३६०, ३८५, ३८८	बालाधाट ३३, ८७, १३७, १३८, १४६, १६१, १६५, १८२, २००, २०३, २१६,
बनाफर ८८, ८९	२१८, २८०, ३८०
बनाफरी बोली ८८	बालादित्य ११
बनारस ८, ६०, ८८, १७५	बाहुबल ३८०, ३८१
बपिसिद्धिनका ३८१	बिंबस्फाटि ८८
बप्पस्वामिन् ३८८	बिजौर १४७
बप्पा ४०८	बीजापुर २३०
बरमा ३३८, २४२, ३४६	बीदर १८५, १८०
बर्न, सर रिचर्ड ४१, ४८	बीसलदेव १०५
बरार १३८, १८०, १८२, १८०, १८१, २८१	बुद्धदेव ११०, १६२, २२८, २७८, ३७८, ३८५, ३८६,
बहूतकीन १०८	४६४
बहिन नाग ४६, ४८, ७४	बुद्धवर्मन ४१३, ४१८, ४२२,
बलवर्मन ३०८, ३१०	४२४, ४२७
बलख ३२१	बुद्धगुप्त ३३८

बुलंदशहर १६, २५, ३८, ७१, ११८, ३१०	१५१, १६८, १७१, १८१, १८७, १८८, २३७, २६८,
बुलंदी बाग ३७७	२७०, २७२, २७४, २७६,
बुहलर, डा० ४३, १६१, १६२ १८३, २१६, २८५, २८५, ३७८, ३८५	२७८, २८६, ३१३, ३३३, ३३५, ३५३, ३५६-३५८
बृहत् पलायन ३८४	ब्रह्मानंद २५
बृहत्-बाण ३८५	ब्राह्मो लिपि १३१
बृहस्पति नाग ७४, ७६	ब्रिटिश स्थूजियम २२
बृहस्पति सब १४१, १४४	भ
बेजबादा २८८, ३०१, ३०२	भगवद्गीता २६३, ४१८
बेतबा १४७, ३०५	भगवानलाल इंद्रजी, डा० ३६०
बैकिट्रया १०२, १०७	भटिदेवा ३८१, ३८२, ३८६
बैकिट्रयन (अर्थात् कुशन) १००	भद्रवस्मन् ३४३, ४०७
बोध गया ८४, १२८, ३४१	भर ६१, ४८१
बोरनियो ३४०	भरजुना ४७५
बौद्ध ८३, ८५, ८६, ४५८	भरतपुर ३२३
बौद्ध-धर्म ८२, ३८४	भरिदेवल ६१, ६२
बौधायन २५०	भरहता ४७५
ब्रह्मांड पुराण १६, १७, ३१, ३४, ५८, ६८, ७२, ७८, ८८, ११७, १४२, १४३,	भरहुत ६१, १२७, ४७२, ४७५, ४७६, ४८२
	भरौली ४७५
	भवदात २४, २५, २८

- भवनंदी २५
 भवनाग ८, ३२, ४८, ५७,
 ५८, ६३, ७५, १०५, १३६
 भवभूति २१
 भाँडारकर, ढो० आर० १४४,
 २३८
 भाकुलदेव ४७४, ४८०
 भागलपुर ६८, २६८
 भागवत १५, १७, २०, ३१,
 ६४, ८८, ८०, १४५, १४८,
 १५१, १६८—१७१, १८३,
 १८५, १८७, १८९, २६८,
 २७०, २७४, २७५, २८८,
 ३१५, ३१७, ३२२, ३२५—
 ३२८, ३३१, ३३२, ३३४—
 ३३६, ३४३—३५६, ३५८,
 ३७६
 भागीरथी १२
 भागौर १४७
 भार-कुलदेव ४७४
 भारगवेद्रसिंह ४७६
 भारद्वाज १३६, १४८, ३८८,
 ४००—४०२, ४१८
 भारभुक्ति ६१
 भार-शिव ५, ७—१३, १८,
 ३२—३४, ३६—३८, ४२,
 ४८, ५७, ५८, ६१—६३,
 ६६, ६७, ६८—७२, ७८,
 ८३, ८४, ८२, ८४, १०२—
 १०५, १०७, १०८—११३,
 ११६, ११८, १२१, १२४,
 १२७, १२८, १७४, १७६,
 १८७, १८८, १८१, १८४,
 १८६, १८७, २०५, २०८,
 २१२, २४५, ३८७, ३८५,
 ४०८, ४५४—४५६, ४५८,
 ४६४, ४६५, ४८१
 भारहुत ६१, ६२
 भाव-शतक २८, ७०, ८०,
 ८१, २०६, २८०
 भास २०६
 भास्कर ऋषु घंघल १८३
 भिलसा ३०४, ३२५

भीटा ८३, १४३	म
भीतरी २५१, २६१, ३०६	मंझिर ३८६
भीम प्रथम चालुक्य २०१, ३०२	मंगोल ८८
भीम नाग ६५, ६६, ७४, ७६, १०५	मंगलनाथ ४७०
भीमसेन २१२, २३३—२३५	मंगलेश २३२
भूटान ३१५	मंटराज २८८, ३०३
भूतनंदी १८, २०, २७, ३४, ६३, ६४, १५८	मकर-तोरण १५८
भूभरा दे०—‘भूमरा’	मगध ३०, ३८, ६८, ८७, १७४, २८८
भूमरा ११३, १२१, १२६— १२८, २०८, २०९, २१४, ३३६, ४६७, ४७१, ४७२ —४७५, ४७८—४८०, ४८१	मगध-कुल २४६, २७८, २७९
भृत्य-आंघ्र ३६६, ३५७, ३५८	मजुमदार, आर० सी० २३८, ४०७
भेड़ा घाट १०८, १३१	मजुमदार, एन० ५२
मैरव ६०, ४७८, ४७९	मजेरिक ३८६
भोजक २७२, २८१, २८२, ४४६	मझगंवा ४७१, ४७४, ४७५
भोजकट १६०, २७५, ४४६	महपटि ३६६, ३६८, ४४२
भोगिन १६, २६, २७	मणिधान्य २७१, २८०, २८१
	मणिपुर ३१५
	मणिभद्र १८
	मत्तिल ७१, ७२, ७५, ७८, ३०८, ३१०, ३१२

मत्स्यपुराण	१५, ६२, ८१, ८३-८५,	मरु	११५
	११६, १२१, १४८-१५०,	मलय	३४०
	२०८, २१४, २६६,	मलबल्ली	३५८, ३६०, ३६८,
	३३४, ३३७, ३५३,	३६७	३७०, ३७२, ४४२,
	३५४-३५८, ३७४,	४४४	
	४३३, ४७९	मलावार	२२६
मथुरा	१२, १६, २०, २२,	मलाया	३३८
	२५, २६, ३०, ३८, ३८,	महाउर	१४
	४३, ४७-४८, ६४-६६,	महाकांतार	२७५, २७७,
	६८, ७०, ७१, ७३, ७५,	३०१, ३०२	
	७७, ८४, ८५, १२७,	महाकुंडसिंही	३८२
	१२८, १४४, २५७, २६८,	महाचेतिय	३७२, ३८२
	२७०, ३१२, ४८७	महावलवर	३८०
मद्र	११४, ११८, १८४, १८६,	महानदी	२७७, २७८
	१८७, २५०, २५१, ३२४	महाभारत	८२, ८८, १००,
मद्रक	८०, ११५, २५१-२५३,	१४७, १८८, १८२, १८३,	
	३१६, ३६३	२०३, २५१, २५३, २७३,	
मनु	१०५, १८०, ३४८	२७५, २८०, २८१, २८६,	
मयिदावेल्लु	४११	३३१, ३३५, ३४७, ४०६,	
मयूर शर्मन	२०१, २८३-	४२८	
	२८५, ३७१, ३८५, ४३४,	महाभैरव	२१३, ४७८
	४४३-४४५, ४८३-४८८	महाभोजी	३६१

महामाघ २३६	माधववर्मन् प्रथम ४३६,
महामेघ २८८	४३८, ४४१, ४५१
महारथी ३५४, ३६१	माधववर्मन् द्वितीय ४३६-४३८
महाराजाधिराज ४०६	मानवद्वीप ३३८
महाराष्ट्र २३२	मानवधर्मशास्त्र १०, १०४,
महाराज २०२, २१३	३३०
महावल्लभ राजजुक ३६७	मानव्य ३६६, ४४१, ४४४
महासेन ४१, ६५, २८४	मानव्य कदंब १८१
महिष २७१	मान-सार ११८
महीषी १८४-१८८	मालव ८२, ११४-११७, १२१
महेंद्र २७१, २८८	१२४, १६५, १८२, १८५,
महेंद्रगिरि २७७, ३००	२१८, २३२, २७२, २८६,
महेंद्रभूमि २७७	३२१-३२४ ३२६-३२८,
महेश्वर नाग ७१, ७५, ३१०	३७५, ४६३
माँडा ६०	मालवा ११८, १३८
मांधाता १४२, २१८, ३२४	माहिषक २७१, २७७
माकेरी ४८३	माहिषी १८१
माठर गोत्र ४३४	माहिषमती १८२, १८२,
माणिधान्यज २७२	२८०, ३२४
माद्रक १०६, १८६, १८८,	माहेयकच्छ २७७
३१५, ३२१, ३२२, ३२४,	मिरजापुर ६०, ६१, ६३
३२६, ३२७	मित्र २३, १८६, १८७

मुंडराष्ट्र ३६५, ३६६	मैत्रक २२२
मुंडा ३६६	मैसूर ४८३
मुंडानेंद ३५४, ३६५, ३६६	मोकरि २८५, ४८४
मुंडारी ३६६	मोराएस, मिं २१८, २८५
मुद्रा-राचस २४७	मौघाट ३१
मुरुङ २०४, २०५	मौर्य २२८ ३७७
मुरुङ-तुखार १७२	म्लेच्छ ८८, ३१७, ३३०,
मूषिक ५४६	३३२, ३३४
मूषिका २७२	म्लेच्छ-शूद्र २७३
मूसी २८२	य
मेकल १८०, १८२, १८५	यज्ञ वर्मन १८३
मेकला १४, १६५, १८१-	यदुक २७१, २८०
१८५, १८६, १८२, २००,	यदुवंश ७०, ७४
२१८, २७६, २८७, २८३,	यपु ८१
२८४, ३०३, ३८८	यमुना ४७
मेघ १८८, १८०	यत्री २५१
मेघवर्ण ३४१	यव ३५०
मेदिनी २७५	यवन ३३०, ३३३-३३५
मेघातिथि १०४	यवन (यौन) ८८
मेहराँली २६१, २७६	यवु ८१
मेकल १३८, १८३, ३८८	यशः नंदो १८, १८, २७-३०
मैक्रिंडल ६३	१५१

यशोधरा २२८	रव्वाल दे०—'रमपाल'
यशोवर्मन् २५१	राइस, मि० ३७०, ४३५,
याचना ३१८	४४२
याज्ञवल्क्य १०५	राखालदास बनर्जी १२६,
यादव ७०, १८३, १८४, १८६, ३११	४८० राघव ४६२
युएह-ची २०५	राजतरंगिणी ५८, ८२, १११,
युवानचांग १८४, ३७८, ३८०, ३८८, ४५१	३३८ राजन ४०५, ४०८
यूल ८३	राजनीति-मयूख २८३
यौधेय ११४-११७, १८८, ३२१-३२४, ३२७, ३७५, ४६३	राजन्य १८८ राजमहल १०८ राजमहेश्व्री २८८
यौल्लमतिल्ली ३०२	राजशेखर ११५, १३०
यौन ८८, २८७, ३३३, ३३५, ३३८	राम (रामस) २२, २३, ४५० रामगिरि १६०
यौवन (यौवा) ३३५	रामगुप्त २४८, २६० रामचंद्र १७, २२, २४, २६,
र	२७, २८०
रघु २८४, ४६२	रामटेक १६०
रघुवंश २२०, २५०	रामदात २२-२४
रणराग २३१, २३२	रामकोट ४१२
रम-पाल २६०	

- | | |
|---|--|
| रायपुर १८३ | रेमिल ३७४ |
| रावलपिंडी ३२० | रैप्सन २२, २४-२६, ४०,
४४, ४६, ११६, ११७,
१८६, २३७, २३८, ३६०,
३६१, ३६७ |
| रावी ३२४ | |
| राष्ट्रकूट ८७, २०८ | |
| राहुल २२८ | |
| रिखपुर १६० | |
| रुद्र १७०, ३०८ | रोज, मि० १२० |
| रुद्रामन् ३२७, ३३२, ३४३,
३६१-३६३, ३७५, ४५४ | रोहतास २५६ |
| रुद्रदेव ३३, ६७, ७३, २८६,
३०८ | ल |
| रुधर भट्टारिका ३८२-३८४ | लंका ११०, २७८, ३३८,
३४०, ३४२, ३४५ |
| रुद्रसेन प्रथम ७, ३२-३४,
६७, ७३, ७५, १३६, १५५,
१५६, १५८, १६४, १६८,
१६८-१७२, १८०, १८१,
२१३, २७८, २८७, २८८,
३०८, ३०८, ३११-३१३,
३२४, ४०८, ४६८, ४७८ | लक्खामंडल १८३, ३१२
लांगहस्ट, मि० ३७८ |
| रुद्रसेन द्वितीय १३७, १५६,
१६०, १६५, १६७, १७२,
१७८, २१३, २१५ | लाट १६६, १८२, २२१, २२२
२२५, २२६, २३२ |
| | लाहौर ७८ |
| | लिच्छवी ३३, ७२, १७३,
१७४, १७७, १७८, २४३-
२४५, २४८, २५५, २५८,
३०८, ४६३ |
| | लुशाई ३१५ |
| | ल्यूडर्स १२, २०, ५८ |

व	७२, ८३, ८४, ९४, १०३, १०७, ११३, ११४, ११८, १२५, १२८, १३५, १४६, १४८, १८६, २०५, २०७, २१०, २२५, २३८, २६८, २८३, ३५४, ३८१, ३८२, ३८८, ४००-४०२, ४०४- ४०६, ४०८, ४४०, ४४४, ४४५, ४५०, ४५४, ४५५, ४५६
वंशु नदी १०७	
वंग २७६, ३८४	
वंगर १७, २६, २७	
वकाट १५७	
वज्र-सूत्र ४५३	
वनवास २८२, ३८२, ३८४	
वनसपर २०, ८७-८८, २४५, २५३	
वयलुर ४२४	
वरहान द्वितीय २५८	
वराहदेव १६२	
वरुण द्वीप ३३८, ३४०	
वर्मन ३२४	
वल्लभ २३२	
वसंतदेव ३४, २४७, ३०८	
वसंतसेन ३४, २४७, ३०८	
वसु २४२	
वशिष्ठ गोत्र ४३४	
वाकाट क, १५७, १४८, १५२ वाकाटक प, क, ११, १४, २८, ३२, ३३, ६६, ६८,	
	७२, ८३, ८४, ९४, १०३, १०७, ११३, ११४, ११८, १२५, १२८, १३५, १४६, १४८, १८६, २०५, २०७, २१०, २२५, २३८, २६८, २८३, ३५४, ३८१, ३८२, ३८८, ४००-४०२, ४०४- ४०६, ४०८, ४४०, ४४४, ४४५, ४५०, ४५४, ४५५, ४५६
	वाकाटक राज्य १३५
	वाकाटक संवत् २४१
	वाकाटक-बंशावली १६३- १६६
	वागाट दे० “वाकाट”
	वाजपेय १४१, १४३
	वाटघान्य २८१
	वाङ्क २०३
	वाणी (वडौदा) २०८
	वातापी २३०
	वायु पुराण १७, १८, २१, ३४, ६८, ७२, ७८, ८०,

- ८८, ११७, १४२, १४३, १५०, १५१, १६८, १७१, १८३, १८४, १८६, १८८, १८९, २१०, २६७ २६८—
 २७२, २७४, २७८, २८६, ३१३, ३४०, ३५३, ३५६—
 ३५८
वायुपूज्य ६८
बासिठिपुत ३८७
बासुदेव ३, १२, ३८, ४३, ४४, ४७, ४८, ५८, १०७
बाहीक ७०, २५१
बाह्लीक ८६, १८५
विष्णुक ६८, १४२, १४५, १४८, १७०, १८३, १८४, १८६, २६७, ३५२, ३८८, ३८९, ४०१
विष्ण्य-शक्ति १४, ३०, ३१, ३४, १३५, १४२, १४३, १४८, १४८, १५०, १५१, १५५, १६२, १६४, १६८, १७१, १७३, १८४, १८५,
 १८६, १८१, २००, २०१, २०५, २३०, २४०, २६७, २६८, २८६, ३७४, ३८८, ३८९, ४००, ४०३, ४०६, ४१५, ४४०, ४५७
विंचस्काटि ८७
विक्रमादित्य ८८, ४६२
विजय ४१४
विजयगढ़ ६०, ३२३
विजयदशनपुर २८६
विजयदेववर्मन् २७८
विजयनंदिवर्मन् २७८
विजयनगर ३८१
विजय-पलोत्कट ४२२
विजयपुरी ३७८
विजयस्कंद वर्मन् प्रथम ३८८
विजयस्कंद वर्मन् द्वितीय
 ४११, ४१६, ४१८, ४३२
विण्हुसिरि ३८२
विदिशा १५, १६, २५, २६,
 २८, ३०, ३७, ६३, ८४,
 ८८, ११४, १४५, १४६,

- १५०, ३०४, ३०५
विदिशा-नाग २६७
विदूर १८१, १८५, १८०
विद्याधर ८१
विद्यासागर, जे. १८६, १८७,
३५४
विन्वस्फाणि १८, ३०, ६८,
८७
विलसन १८३, १८६, १८८
विशाखांक ३८०
विशिक १२०
विश्वस्फटिक ८७
विष्णु ५८, २३०, २८३,
२८४, ३०६
विष्णुकद ३८१
विष्णुगोप प्रथम २८८, ३००,
३०२, ३०३, ४०७, ५०८,
४१६-४१८, ४२३, ४२६,
४२८, ४३१, ४३२, ४३८
विष्णुगोप द्वितीय ४२२-४२४
विष्णु पुराण २७, २८, ३१,
३३, ६३, ६४, ७३, ८०,
- १४८-१५०, १७०, १७१,
१८३, १८४, १८६, १८७,
२५०, २६०, २६३, २६८-
२७४, २७७, २८०, २८१,
२८५, ३०६, ३१७, ३२२,
३२५, ३२८-३३०, ३३२,
३३५, ३३६, ३४१, ३४४,
३५५, ३५८, ३६८, ३८२,
४४६, ४६०, ४६४,
विष्णु यशोधर्मन् ३३५
विष्णुवराह २६१
विश्वर्मन् ३७४
विष्णुवृद्ध १३-, १४४, २४८,
४१८
विष्णु-स्कंद ३६०-३६२, ३६८
वीरकृच ३८५-३८६, ४०२
४०३, ४११-४१६, ४२०,
४२३, ४२८, ४३०, ४३२
वीरकोर्च दे०—‘वीरकृच’।
वीरपुरुषदत्त ३७६, ३८१-
३८६, ४०६

वीरवर्मन् ४०३, ४०८, ४१२,	वोगेल, डा० ३७७, ३८१
४१४, ४१८, ४२१, ४२६,	व्याघ्रदेव १५८, २४२
४३०, ४३२	व्याघ्र नाग ७५, ७६
वीरमेन २२, २३, ३७, ३८,	व्याघ्रराज १८८
४१, ४२, ४४, ४५-४८,	व्याघ्रसेन २२०, २२२, २२४
५६, ५८, ६५, ६६, ७४,	
७६, ७७, ७८, १०५, १०६	श
बृष नाग—दे० ‘नंदो नाग’।	शंखपाल ७१, ३११
बेगी २८५-२८७, २८८,	शश्रोननो शश्रो ३२०
३०१, ३०३, ३८८	शक ८१, ८८-१०१, १८८,
बेग (बैन-गंगा) २७६	२८५, २८७, ३३०, ३३१,
बेम कंडिफसस २४५	३३८
बेलेम्ली ३३८	शक्तिवर्मन् २७८
बेलूरपलैयम २०८, ४०४,	शर्वनाथ २३६, २४०
४१२, ४१३, ४२३, ४२४,	शवर २५४
४२६	शातकर्णि ३८८
बेसर १२०, १२१	शातक सातवाहन ३८०
बेसर शैली १२०, १२८,	शातिवर्मन् २२१
बैजयंती ३६५, ३६८	शातिश्री ३८१
बैदिश नाग १८	शाक्यमान १८८
बैदूर्य १८५	शातकर्णि प्रथम २००
बैष्णवी ८५	शातकर्णि द्वितीय ३८०

- शातवाहन—दे० “सातवाहन”। शिवनंदी १८, २०, २४-२६,
शातहीन ४८५ २८, ४६, ६४
- शापुर प्रथम १०६, ११८ शिवनंदी स्वामिन् १८, २८७
- शापुर द्वितीय ३२०, ३२१ शिवपुर ३१६
- शारदाप्रसाद श्री १४, १४५, शिवसंकेद वर्मन् २०२, २०६,
४६८ ३६१, ३६७-३६८, ३७२,
- शालंकायन २७८, २७९ ३८५, ३८८, ३८५, ३८८,
- शालद ३१८ ४०४, ४०७, ४०८, ४१०-
- शाल्य २५० ४१२, ४२०, ४२६, ४३०,
- शाल्व १६४, २४०, २५१ ४३२, ४४२, ४४३, ४५७
- शाहानुशाही ३१७, ३१८, शिवालिक १८३
- ३२०, ३४०, ४५५ शिशु २२, २८-३१
- शिखर-शैली १२२ शिशुक ६७, १७१
- शिखरस्वामी २५८ शिशुचंद्रदात २२-२४
- शिमोगा ३६६ शिशुनंदी १८, २२, २४, २७,
- शिल्परब्र १२०, १२१ २८
- शिव ४१४ शिशु नाग २५
- शिवखद वर्मन्—दे० ‘शिव- शुंग १३, १५, १६, १८, १९,
- संकेद वर्मन्’। ४६, २८८, २९७, ४५४
- शिवदत्त २४, २५, २७, २८, शुद्र ३२८
- ३७३ शुर २७२, ३२६-३२८
- शिवदात—दे० “शिवदत्त”।

शूर-चाभीर ८८	स
शूर-वैधेय २८६	संभलपुर २८७, २८८
शूरसेन २८४	संन्यासी ४८१
शेष दे०—“शेषदात”।	सकस्थान ४८३, ४८४
शेषदात १६, १७, २२-२६	सतना १४, १४५, ४७५
शेष नाग २२, २४, २७	सतलज ३२३
शैशिक २८०	सप्त कोसला २८८
शैशित २७१	सप्तांग १८३
शोडास २०	सम-तट २७५, २७७, ३१५, ३१६
शोरकोट ३१६, ३३०	समि दे०—“स्वामिन”।
शौद्रायण ३२८	समुद्रगुम ५, ७, ३३, ५७, ६७, ७१, ७३, ७६, ७७, ८१, १०६, १०७, ११३, १२३, १२६, १३५, १३८,
श्रीपर्वत २०१, ३७७, ३७८, ३८६, ३८८	१४०, १४७, १६४, १६७, १६८, १७३, १७५-१८२, १८१, १८६, १८८, १८८,
श्री-पार्वतीय ३५५, ३५६, ३५८, ३५९, ३७६	२०१, २०६, २११, २४०, २४६, २५८-२७०, २७५-
श्रीमार कौहिन्य ३४२	२८०, २८३-२८८, ३०१-
श्रोहण संवत् २४४	३३०, ३४१-३४८, ३७२,
शुन ७५, ७८, ३१०	
श्रुतवर्मन ३४४	
ष	
षष्ठो ३८१	

३७५, ३८८, ४००, ४०१,	३६०, ३६२, ३६४, ३६६,
४०६, ४०८, ४१०, ४२५,	३७२-३७५, ३७८, ३८४-
४३२, ४४०, ४४५, ४४६,	३८६, ३८८, ३८९, ३९४,
४४८, ४५१-४५८, ४६२-	४०२, ४०५, ४३२, ४३४,
४६५	४४४, ४४५
समुद्रपाल २६०	सातहनी ५८५
सम्राट् ६	सारनाथ ८८
सयिन्दक ४८३, ४८४	सासानी १८१, २०३, ३१८,
सरगुजा १८२	३२०, ३२१, ३४८
सरहिंद १०६	सिंध १८८, २८७, २८८,
सर्व नाग ७२-७८	सिंधु नद २७३, ३२०, ३२८,
सहस्रानीक ३२१, ३२४,	३३४
३२५, ३२८	सिंहपुर १८२-१८५, ३११,
सौची ३२५	३२४
साकेत १७५, २४६, २५८,	सिंहल ३४१, ३४५, ३४७,
२७०	३४५
सातकर्णि १४१, ४४४	सिंहवर्मन् प्रथम १८३, ३००,
सातवाहन १३, १६, १८,	४१७, ४१८, ४२१-४२४,
२०, १०८, १७२, १८१,	४३१-४३३
२००, २०१, २०४, २०८,	सिंहवर्मन् द्वितीय ३००,
२२८, २३८, २४४, २४५,	४१७-४१८, ४२१, ४२४,
२३४, २५२, २५५, २५८-	४२५, ४३२, ४३७

सिकंदर	४६३	सेंट्रक	४८५, ४८६
सिकम	३१५	सेन वर्मन्	१८३
सिद्धांतम्	३००	सौम्य	३३८, ३४०
सियाल	२५०	सौराष्ट्र—दे०	“सुराष्ट्र”।
सिवनी	८५, १६०	स्कंद	८८
सीस्तान	१८५, ३४७	स्कंदगुप्त	७८, ८६, २२३, २२४, २२६, २५१, २७८
सुंदर वर्मन्	७७, १७४, २४७, २४८, २५२	स्कंद नाग	६५, ७४, ७६, १०५
सु-गांग प्रासाद	२४७	स्कंदवर्मन् प्रथम	४१२, ४१४— ४१६, ४१८
सुदर्शन सागर	३८३	स्कंदवर्मन् द्वितीय	४०८,
सुपुण्य	२४४		४१२—४१६, ४१८—४२१,
सुप्रतीक नभार	१८६		४२३, ४२४, ४२७, ४३०, ४३१
सुप्रतीकर	२१२	स्कंदवर्मन् तृतीय	४१७, ४१८,
सुमात्रा	३४०, ३४४		४२१, ४२३, ४२४, ४३१— ४३३, ४३६, ४३७
सुरपुर	१६, २५, ७८	स्कंदशिष्य	४१२, ४१३
सुराष्ट्र	१८८, २२२, २२६, २७२, ३२५, ३२८, ३८३, ३७६	बोराष्ट्र	२७४, २८१, ४४६
सुलैमान	३४८	सूनर	डा० २४४
सुशर्मन्	१५, ४३३	स्मिथ	विंसेट ३—८, २४,
सुसनिया	३११		
सूरजमऊ	१२२, १२३		

- | | |
|---------------------------|----------------------------|
| २६, ३५, ३७-३९, ४४- | २२३-२२७, २३१, २३३, |
| ४६, ५०-५२, ५५, ७८, | २८५, २८७, २८८, ३०३ |
| १०६, ११६, १२६, १५६, | हर्म्यश्रीका ३८०, ३८१ |
| १५७, २२७, २३८, ४८८ | हर्ष-चरित ७७, २८१ |
| स्याम ३८५ | हस्तिन १७, २३६, २४० |
| स्यालकोट २५० | हस्तिभोज १६१, १६२, १६६, |
| स्वर्णविंदु २०, २१ | २२७, २२८ |
| स्वाति ३६८ | हस्तिवर्मन २८८, ३०३ |
| स्वामिदत्त २८८, ३००, ३०२, | हाथोगुंफा १२०, १२४, २१७, |
| ३०३ | ३०१ |
| स्वामी २० | हारितीपुत्र १८०, ३५८, |
| | ३६०, ३७१, ४४२ |
| ह | |
| हर्मसिरिणिका—दे० “हर्म्य- | हारीत गोत्र ४३४ |
| श्रीका”। | हौल, डा० १४३, १८३, ३५७ |
| हय नाग ५४-५६, ५८, ६४, | हिंदू-राजतंत्र ८२ |
| ७४ | हिरंजकस ३८२ |
| हयस—दे० “हय नाग”। | हीरहडग़ल्ली ४११ |
| हरिवंश ३२८ | हीरानेद शास्त्री, डा० ३७७, |
| हरिवर्मन ४२६ | ३८१ |
| हरियण १६२, १६६, १७३, | हीरालाल, रा० बढा० १४ |
| १८०, १८२, २१०, २२१, | ८४, ८६, १४५, १६० |

होरालाल, जैन ४८८	३०८, ३३५
हुम्जद १६५	हेमचंद्र ७०, २५०
हुष्क (हुविष्क) ४३, ५८, ८२	हैदराबाद १३८, १६०
हुण ८८, २२२, २२३, २५१,	होशंगाबाद २८, ५८, ८५





✓

D.G.A. No.

CENTRAL ARCHAEOLOGICAL LIBRARY
NEW DELHI

Issue Record.

Catalogue No. 934.01/Var - 9921.

Author— Varma, Ramchandra. (Tr).

Title— Andhakara-Yugina Bharata.

Borrower No.	Date of Issue	Date of Return
--------------	---------------	----------------

"A book that is shut is but a block"

CENTRAL ARCHAEOLOGICAL LIBRARY
GOVT. OF INDIA
Department of Archaeology
NEW DELHI.

Please help us to keep the book
clean and moving.